सप्रेम अ

भगवान महावीर का २५६६वाँ

जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

१९७०

सम्पादक मण्डल

१. श्री केवलचन्द ठोलिया

२. श्री चन्दनमल वैद

३. श्री उमरावमल चोरडिया

४. श्री कपूरचन्द्र पाटनी

५. डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

६. श्री प्रकाशचन्द्र पाटणी

७. श्री ताराचन्द्र साह

प्रधान सम्पादक

भँवरलाल पोल्याका

साहित्य शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य

मुद्रक

अजन्ता प्रिण्टर्स

घी वालों का रास्ता,

जौहरी बाजार, जयपुर

मूल्य २)

प्रकाशक

ताराचन्द साह

मन्त्री

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी के पदाधिकारी एवं सदस्य

१	श्री केवलचन्द ठोलिया बी ए एल एल बी	अध्यक्ष
२	श्री कपूरचन्द पाटनी एम काम एल एल बी साहित्यरत्न, एडवोकेट	उपाध्यक्ष
३	श्री हुकमचन्द सेठी एम बी बी एस	उपाध्यक्ष
४	श्री ताराचन्द साह बी ए एल एल बी एडवोकेट	मंत्री
५	श्री प्रकाशचन्द पाटनी बी ए साहित्यरत्न	संयुक्त मंत्री
६	श्री बाबूलाल सेठी एम काम एस ए एस नाट्यालंकार	संयुक्त मंत्री
७	श्री सुरज्ञानीचन्द लुहाडिया न्यायतीर्थ	कोषाध्यक्ष
८	श्री माणिक्यचन्द्र जैन एम ए, बी टी	सदस्य
९	श्री कैलाशचन्द बाकीवाला बी काम एल एल बी	सदस्य
१०	श्रीमती प्रभावती साह एम ए, एल एल बी	सदस्य
११	श्री सेठ मालचन्द जैन	सदस्य
१२	श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ साहित्यरत्न	सदस्य
१३	श्री बलभद्र जैन बी ए प्रभाकर साहित्यरत्न	सदस्य
१४	श्री सूरजमल सोगाणी	सदस्य
१५	श्री नेमीचन्द पाटणी बी काम सी आई आई बी विशारद	सदस्य
१६	श्री सुभाषचन्द चौधरी बी ए बी काम	सदस्य
१७	श्री रमेशचन्द गंगवाल बी काम	सदस्य
१८	श्री ओमप्रकाश खाकलीवाल	सदस्य
१९	डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम ए पी एच डी	सदस्य
२०	श्री मुन्नीलाल जैन एम काम एल एल बी ऐफ सी ए चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट	सदस्य



आवरण–चित्र परिचय



० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र सोना गिरीजी का श्री पार्श्वनाथ मन्दिर ।

०० अनुपम कला कृति जैसलमेर लुद्रवा जैन मन्दिर ।

००० फिरोजाबाद का दि० जैन मन्दिर ।

छाया सुरेन्द्र काला

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं

"भगवान् महावीर की सत्यशोध की दृष्टि बहुत व्यापक थी। उन्होंने सत्य को अनेकान्त दृष्टि से देखा और सापेक्ष दृष्टि से उसका प्रतिपादन किया। इसीलिए उनकी वाणी मे सहअस्तित्व, समन्वय, मैत्री और अहिंसा का सशक्त ओज है। किन्तु उनका अनुयायी वर्ग उनकी वाणी को तन्मयता से सुन न सका और प्रबल प्रयत्न द्वारा दूसरो तक पहुँचा नही सका। इसीलिए कोटि-कोटि जनता उनकी वाणी से अपरिचित है। उनकी वाणी से अपरिचित होने का अर्थ है अपनी शाति और अपने भीतर छिपी हुई शक्तियो से अपरिचित रहना। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शती आ रही है यह एक बहुत बडा निमित्त है। इसका लाभ उठा कर जैन लोग स्वय भगवान् की वाणी से परिचित हों और दूसरो को उससे परिचित करे। इस कार्य मे आपके पत्र का भी बहुत बडा योग हो सकता है।"

आचार्य तुलसी

ऋषभदेव का मन्दिर
कुलपाक (आन्ध्र)
२२ फरवरी १९७०

मुख्यमंत्री, राजस्थान.
जयपुर
अप्रैल २, १९७०

यह प्रसन्नता का विषय है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा आगामी महावीर जयन्ती दिनांक १९ अप्रेल, १९७० को श्री महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है।

हिंसा एवं संघर्ष के वातावरण से त्रस्त मानवता के लिये भगवान महावीर का सत्य-अहिंसा एवं अपरिग्रह का संदेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आशा है स्मारिका में भगवान महावीर के जीवन चरित्र एवं उपदेशों पर प्रेरणाप्रद सामग्री प्रस्तुत की जायगी।

स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए मैं अपनी शुभ कामनायें भेजता हूँ।

मोहनलाल सुखाड़िया

जयपुर
राजस्थान

दिनांक ३० मार्च, ७८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी वीतराग भगवान श्री महावीर की जयन्ती सुअवसर पर राजस्थान जैन सभा की ओर से "श्री महावीर जयन्ती स्मारिका" प्रकाशित होने जा रही है। पूर्व मे प्रकाशित विद्वानो के लेख व कवितायें आध्यात्मिक दृष्टि के अलावा राष्ट्र प्रेम से ओतप्रोत होने की वजह से सराहनीय रही हैं। मुझे विश्वास है कि इस स्मारिका मे प्रकाशित विद्वज्जनो के लेख व कवितायें भी जनमानस मे समाज सेवा व राष्ट्रभक्ति की भावना जागृत करेगी। मैं स्मारिका की सफलता की कामना करता हूँ।

रामकिशोर व्यास

राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ



जन्म २२ जनवरी सन् १९०० निधन २६ जनवरी सन् १९६९

आपके द्वारा सम्पादित स्मारिका आज भी आपकी प्रेरणा से स्मृति रूप प्रकाशित हो रही है। आप राजस्थान जैन सभा के मुख्य संरक्षक एवं मार्ग दर्शक थे।

जैन वाङ्मय, इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व का जैन एवं जैनेतर जनता में प्रचार और प्रसार हो अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजस्थान जैन सभा, जयपुर प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती के परम पुनीत अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन करती आई है। भगवान् महावीर के उपदेश चिरन्तन सत्य हैं। कल उनकी जो उपयोगिता थी वह ही आज भी है और आने वाले कल भी रहेगी। धर्म की वास्तविकता को पहचानने की कसौटी भी यह ही है। ऐसा ही धर्म मानव-जीवन का निर्माण कर सकता है। वह देश, धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि से अतीत होता है। ऐसे धर्म का वास्तविक स्वरूप सबके लिये, साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये, भी सुलभ हो इस हेतु इन स्मारिकाओं का मूल्य लागत से भी अत्यन्त कम दो रुपया मात्र रक्खा जाता है और उचित स्थानों, संस्थानों एवं विद्वानों के पास वह निःशुल्क भी भेजी जाती है। सभा के इस कार्य की सभी क्षेत्रों में सराहना की गई है जिससे उसकी उत्साह वृद्धि होती रही है।

स्मारिका के छह अङ्क अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। उसका सातवां अङ्क पाठकों के हाथ में है। प्रयत्न रहा है कि स्मारिका न केवल अपना पूर्वस्तर स्थिर रख सके अपितु वह आगे भी बढ़े। इस प्रयत्न में हमारी सफलता कहाँ तक है इसका निर्णय कृपालु पाठक करें।

स्मारिका के विभिन्न कार्यों के सम्पादन हेतु एक सम्पादक मण्डल का गठन इस वर्ष भी किया गया जिसके प्रधान सम्पादक श्री भँवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य, सा० शास्त्री हैं। उन्होंने लेखों का संकलन किया, चयन किया, संशोधन किया, प्रूफ आदि सारे ही कार्यों को देखा। स्मारिका को प्रस्तुत करने का मुख्य श्रेय उन्ही को है। उन्होंने जिस लगन व सेवा-भाव से इस कार्य को पूरा कराया उसके लिये सभा उनके तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यों के प्रति अपना आभार प्रकट करती है।

स्मारिका जिस रूप मे पाठको के हाथो मे पहुँच रही है उसके लिए प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से जिन महानुभावो का सभा को सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। एतदर्थ आर्थिक समस्याओ को हल करने, विज्ञापन आदि जुटाने मे विशेषत श्री कपूरचन्द्र जी पाटणी, सयोजक विज्ञापन समिति, श्री चन्दनमल जी वैद, श्री मदनलाल जी वैद, श्री अनूपचन्द्र जी ठोलिया, श्री मुन्नीलाल जी सघी, श्री हस्तीमल जी सघी, श्री राजमल जी सघी, श्री विजयचन्द्र जी वैद व श्री नेमीचन्द जी पाटणी आदि का जो सक्रिय सहयोग मिला इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

लेखको और विज्ञापनदाताओ के भी हम समान रूप से आभारी हैं। वास्तव मे इन्ही के सहयोग से तो यह महत्कार्य हो पाता है।

श्री अजन्ता प्रिण्टर्स ने इस स्मारिका का मुद्रण किया है। उसके मैनेजर श्री महावीर कुमार रारा एव श्री जितेन्द्र कुमार सघी ने दिन रात इस व्यवस्था को देखा है जिसके कारण यह अङ्क समय पर जनता की सेवा मे प्रस्तुत हो रहा है। एतदर्थ वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

स्मारिका का यह अङ्क आपको कैसा लगा ? इस सम्बन्ध मे अपनी सम्मति भेजने की कृपा करे।

—*केवलचन्द ठोलिया*

अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा

जयपुर

सम्पादकीय

महावीर जयन्ती का पर्व प्रतिवर्ष आता है। सारे भारत में इस दिन बड़ा उत्साह होता है। स्थान स्थान पर प्रफातफेरियाँ और जलूस निकाले जाते हैं। सार्वजनिक सभाएँ होती हैं जिनमें बड़े बड़े विद्वान्, लेखक, कवि एवं राजनेता आदि भाग लेते है। भगवान् महावीर का गुणगान होता है, जयगान होता है उन द्वारा प्रचारित धर्म ही महिमा का वर्णन हाता है और हम समझते हैं हम सफल हो गये, हमने बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न कर लिया, गढ़ जीत लिया।

इन सब की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु प्रश्न है क्या महावीर जयन्ती का पावन पर्व केवल इसलिए ही आता है। यह ठीक है कि जैन धर्म सार्वभौमिक है वह उदार और सर्वग्राह्य है। 'जीओ और जीने दो' उसका मूलमन्त्र है। इससे भी अधिक वह आग्रहहीन है। वह 'ही' का प्रयोग न कर 'भी' का प्रयोग करता है। क्या ये सिद्धान्त हमारे जीवन में उतरे हैं? आचार्य समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकैर्विना।" धर्म का अस्तित्व धर्मात्माओं से ही है। उसके धर्म के अनुयायी ही उस धर्म में वर्णित सिद्धान्तों के, चारित्र के चलते फिरते मूर्त्तरूप होते है। उनको ही देखकर धर्म की अच्छाइयों और बुराइयों का अनुमान जनता लगाती हैं। भगवान् महावीर की जय बोलने के साथ इस पावन पर्व पर हम अपने अन्तस को टटोलें कि हम कहां है। गतवर्ष से हम आगे बढ़े हैं या हमारे पग उससे भी पीछे हटे है जहाँ हम थे। निःसन्देह इस सबका उत्तर नकार में ही होगा। आइए भगवान् महावीर के हम अनुयायी एक होकर प्रतिज्ञा करे कि हम उनके बताए मार्ग पर चलेगे, आपस में लड़ेंगे झगड़ेंगे नहीं, जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के लिये कधे से कंधा भिड़ा कर चलेगे, कार्य करेगे, हमारा जीवन दूसरों के लिए आदर्श और प्रेरणाप्रद होगा।

इस वर्ष आयोजित सेमिनार के अवसर पर बनारस के बहुश्रुत विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र जी ने दुःख के साथ कहा था कि आज दिगम्बरत्व कहीं दिखाई नहीं देता। मैं उनके इन शब्दों में संशोधन के साथ कहता हूँ कि हम में जैनत्व ही नही दिखाई देता। औरङ्गजेब ने कहा था कि संसार में इन्सान तो बहुत हैं किन्तु मुझे इन्सान एक भी नही दिखाई देता। मैं कहता हूँ जैनियों की कमी नही लेकिन जैन दिखाई नही देते। यदि होते

तो क्या आज हमारी यह दशा होती, क्या हम इसी प्रकार टुकडो मे बँटे रहते, क्या साम्प्रदायिक भेदभाव हमारे मे होते ? दुनिया को ऐक्य और सगठन का उपदेश देने वाले हम स्वय ही आपस मे लडते हैं। क्या यह हमारे लिए लज्जा और क्षोभ की बात नही है। हमारी इसी फूट के कारण महावीर जयन्ती की छुट्टी नही हो पा रही है क्योकि सरकार पर सगठन का प्रभाव पडता है, वह जीवित समाजो की आवाज सुनती है। यदि आज सरकार को यह विश्वास हो जावे कि यदि उसने जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी घोषित न की तो एक तूफान उठ खडा होगा तो वह निश्चय ही विना किसी ननु नच के हमारी बात मान लेगी। हम वाक्शूर तो हैं कर्मशूर नही। बातें तो बडी बडी बनाते हैं किन्तु तदनुकूल काय नही करते, अस्तु।

महावीर जयन्ती स्मारिका का यह सातवा अङ्क जनता के हाथो मे है। स्मारिका का उद्देश्य है जैना जैन जनता मे भगवान महावीर के जीवन दशन और उनके उपदेशो का प्रचार करना, जैन साहित्य, दशन, पुरातत्त्व आदि विषयो पर पक्षपातहीन खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे स्मारिका कहा तक सफल हुई है यह जनता देखे और यदि कही त्रुटि है तो नि सकोच हमारा ध्यान उधर आकृष्ट करें। साहित्य शब्द का अर्थ है ऐसी रचनाएँ जो सद्भाव को जागृत करें अथवा मानवमात्र की भलाई हितचिन्तन उनमे हो। इसी प्रकार का साहित्य स्मारिका देती रही है और भविष्य मे भी देना चाहती है। येन केन प्रकारेण अपने कलेवर की पूर्ति कर लेना इसका उद्देश्य नही है।

सम्पादन कला का मुझे अनुभव नही है किन्तु मेरे सभी साथियो का, सम्पादन मण्डल के सदस्यो का मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है उन सब ही का मैं कृतज्ञ और आभारी हूँ। राजस्थान जैन सभा के कार्यकर्ताओ ने जो मुझे इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए चुना उसके लिए भी में उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ। मैंने भरसक इस गौरवास्पद पद की गरिमा अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की है फिर भी त्रुटिया सभव है जिनके लिए मैं और केवल मैं उत्तरदायी हूँ और उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

विद्वान् लेखको का भी पूर्ण सहयोग मुझे मिला है। कइयो ने तो मेरे एक बार के अनुरोध पर ही अपनी बहुमूल्य रचनाएँ भेज दी। हमारे अधिकाश लेखक अध्यापन काय करते हैं और यह समय परीक्षाओ के सामीप्य का रहा अत उनके पास समयाभाव होना स्वाभाविक था फिर भी उन्होने अपने व्यस्त जीवन के कुछ अमूल्य क्षण प्रदान किये उसके लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि भविष्य मे भी उनकी कृपा एव सहयोगभाव इसी प्रकार बना रहेगा।

विशेष रूप से मैं पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीर' का आभारी हूँ जिन्होंने 'वीर' के वीर जयन्ती अंक के सम्पादन कार्य में व्यस्त होते हुए और रक्तचाप से पीड़ित होते हुए भी न केवल अपनी रचना ही भेजी अपितु अन्यों से प्रेरणा करके भी उनकी रचनायें भिजवाईं।

कुछ विद्वानों की रचनाएँ समयाभाव व स्थानाभाव के कारण स्मारिका के इस अङ्क में स्थान नहीं पा सकी हैं। उनको सुरक्षित रख लिया गया है। भविष्य में यथासंभव उनका उपयोग कर लिया जावेगा या फिर लेखकों के लिखा आने पर उनको लौटा दिया जायेगा।

दो शब्द कृपालु पाठकों से भी। स्मारिका सम्पूर्ण जैन समाज की है। इसमें ऐसा कुछ मुद्रित हो जाना स्वाभाविक है जो शायद एक सम्प्रदाय के पाठकों की मान्यताओं के विरुद्ध हो। सम्पादक के लिए प्रत्येक स्थान पर यह लिखना सम्भव नहीं है कि इस लेख की अमुक-अमुक बात अमुक सम्प्रदाय के लोग नही मानते। पाठक लेखों को सम्प्रदाय के मोह से मुक्त होकर पढ़ें और केवल सार को ग्रहण कर लें।

अन्त में मैं स्व० श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित चैनसुखदास जी को श्रद्धा के साथ प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ आज जो कुछ भी मैं हूँ सब उनही की कृपा और आशीर्वाद का फल है।

जय वीर!

भँवरलाल पोल्याका

अहिंसा

किसी जगल मे एक भयानक साँप रहता था। एक बार एक सन्त उसके पास से गुजरे। साँप उनके पाँवो मे लौटकर अपने उद्धार की प्रार्थना करने लगा। सन्त बोला—"किसी को काटा मत कर, तेरा भला होगा।"

साँप ने काटना छोड दिया। उसके इस परिवर्तन की चर्चा दूर-दूर तक फैल गयी। नतीजा यह हुआ कि दुष्टजन उसे लकडी, पत्थर इत्यादि से मार-मार कर सताने लगे। एक बार वही सत फिर उधर से निकले। साँप ने अपनी दु ख-गाथा बयान की—"महाराज, आपने अच्छा उपदेश दिया, मेरा तो जीना ही मुहाल हो गया।"

सन्त बोले—"भाई! मैंने तुझसे काटने के लिए मना किया था, यह कब कहा था कि तू फुफकारना भी मत।"

प्रकाशकीय

"महावीर जयन्ती स्मारिका" का सप्तम वार्षिक संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हम अतीव प्रसन्नता तथा गौरव का अनुभव कर रहे हैं।

यह अंकित करना अतिशयोक्ति न होगी कि भगवान महावीर की जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली इस स्मारिका ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बनाया है तथा जैन साहित्य, धर्म, दर्शन और संस्कृति के विषय में जानने के इच्छुक प्रबुद्ध नागरिकों ने इसके सान्दर्भिक महत्व को स्वीकार किया है।

प्रकाशन के इस महत्त्व की प्राप्ति का श्रेय निर्विवाद रूप से हमारे उन सभी माननीय लेखकों को है जिनके प्रयत्नो व सहयोग से हम इस संकलन को तैयार कर पाते हैं। स्मारिका को एक स्तरीय प्रकाशन बनाने का मुख्य श्रेय स्वर्गीय पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ को है जिन्होंने इसके प्रथम पांच संस्करण सम्पादित किये। पण्डित साहब के निधन के बाद इसका सम्पादन भार सौंपने के लिए योग्य व्यक्ति का चयन वस्तुतः एक समस्या था, लेकिन श्री भँवरलाल पोल्याका जिन्होंने पण्डित साहब के रहते हुए भी इसके सम्पादन कार्य में सहयोग दिया था, ने यह गुरुत्तर भार ग्रहण कर हमें इसका सहज समाधान दिया। उनके लिए हम श्री पोल्याका के हृदय से आभारी हैं।

स्मारिका का सम्पादक मंडल भी जैसा कि प्रायः होता है, दिखावटी या सजावटी नहीं है, वह कार्यकारी है। सम्पादक मण्डल के प्रायः प्रत्येक सदस्य ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके प्रकाशन में सहयोग दिया है। प्रत्येक के प्रति नामजद कृतज्ञता के स्थान पर मैं यहां सामूहिक रूप से संपादक मंडल के सभी माननीय सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उनका कृपापूर्ण सहयोग, संरक्षण एवं मार्गदर्शन प्रकाशन को उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण एव उपादेय बनाने की दिशा में प्राप्त होगा।

स्मारिका प्रकाशन को सम्भव बनाने मे विज्ञापनदाताओ के सहयोग को ओझल कर नही चला जा सकता। जहाँ सामग्री के बिना सकलन तैयार करना असम्भव है वहाँ विज्ञापन के माध्यम से प्राप्त आर्थिक साधन सुविधाओ के अभाव मे प्रकाशन के वित्तीय साधन जुटाना भी असभव है। इस बात का हमे बडा सतोष है कि विज्ञापनदाताओ का उदार सहयोग हमे विज्ञापन समिति के सयोजक श्री कपूरचन्द पाटनी तथा उनके सहयोगी सदस्यो के प्रयत्नो से आशा, अपेक्षा और ग्रन्थ के लिए आवश्यक मात्रा के अनुरूप प्राप्त हो रहा है। हम सभी विज्ञापनदाताओ तथा विज्ञापन समिति के सयोजक तथा समिति के सभी माननीय सदस्यो के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

स्मारिका के मुद्रक मैसर्स अजन्ता प्रिन्टर्स के सहयोग के प्रति भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होने पूरी दिलचस्पी के साथ अपने हर सम्भव साधन प्रकाशन को समय पर तैयार करने के लिए जुटाये। अल्प समय मे इतनी बडी पुस्तिका का कलात्मक मुद्रण निश्चय ही उनकी मुद्रण क्षमता तथा कर्मनिष्ठा का परिचायक है।

स्मारिका को अधिकाधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से हम प्रयत्नशील रहे हैं तथा रहेगे लेकिन फिर भी हम बडी कृपा मानेगे यदि पाठकगण भी कमियो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे तथा अपने अमूल्य सुझावो से मार्गदर्शन दे कृतार्थ करेंगे।

ताराचन्द साह
मत्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा जयपुर :
परिचय और प्रवृत्तियाँ

राजस्थान जैन सभा जयपुर सम्पूर्ण जैन समाज के ऐसे कार्यकर्ताओं का संगठन है जो सम्पूर्ण जैन समाज को एक डोरी में बाधे रख कर उसकी प्रत्येक प्रकार से धार्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना चाहते है, समाज में फैली कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं अन्य प्रकार की बुराइयों से उसकी रक्षा कर उसमें नव प्राणों का संचार कर उसे अन्य उन्नत समाजों से अधिक नही तो उनके समकक्ष तो लाना ही चाहते हैं। इसकी स्थापना इन पावन उद्देश्यों को लेकर सन् १९५२ में हुई थी। तब से लेकर आज तक केवल यही एकमात्र ऐसी संस्था है जो सम्पूर्ण जैनों का धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र में भी सारे राजस्थान के जैनियों का प्रतिनिधित्व करती है। राजस्थान विधानसभा में जब नग्न विरोधी बिल रखा गया था तो उसका सफल विरोध करने वाली यह सभा ही थी। इस ही के प्रयत्नों से वह बिल वापिस हुआ था।

जैन एवं जैनेतर समाज में भगवान महावीर का पावन उपदेश प्रचारित एवं प्रसारित हो इस दृष्टि से सभा समय-समय पर धार्मिक उत्सवों का आयोजन करती है। पर्यूषण एवं महावीर जयन्ती के पर्व इनमें मुख्य है। इस वर्ष २६ जनवरी सन् ६९ को कराल काल के क्रूर करों ने श्रद्धेय परमादरणीय राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत पं. चैनसुखदास जी न्या. तीर्थ, अध्यक्ष श्री दि. जैन संस्कृत कालेज को हमारे मध्य से उठा लिया। सम्पूर्ण समाज उनके निधन के समाचारों से शोक संतप्त हो गया। सभा के तो वे मार्गदर्शक, प्रेरक सब ही कुछ थे। सभा ने उसी दिन बड़े दीवान जी के मन्दिर में एक वृहद् शोकसभा का आयोजन किया जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाओं की ओर से एवं व्यक्तिशः भी अश्रुपूरित नेत्रों से दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

पूज्य पण्डित साहब के वियोगजनित दुःख से अभी मुक्ति ही नही हुई थी कि ता. २९-३-६९ को जबकि सभा के कार्यकर्ता तीन दिन पश्चात् ही आने वाली महावीर जयन्ती समारोह की तैयारियां करने में दत्तचित्त होकर लगे हुए थे, सभा के अध्यक्ष श्री केसरलाल जी अजमेरा का हृदय की गति रुक जाने से यकायक ही स्वर्गवास हो गया। श्री अजमेरा में वृद्धा-

प्रशसा हुई है। प्रचार की दृष्टि से इसका मूल्य भी लागत से बहुत कम रखा जाता है। जैनसभा का यह प्रयत्न सारे भारत मे अपने ढग का अनोखा एव एकाकी है इसके अतिरिक्त मुनिश्री विद्यानन्द जी द्वारा लिखित कुछ ट्रैक्टो, पुस्तको का प्रकाशन भी सभा द्वारा हुआ है। सभा का अपना एक वाचनालय भी है जिसमे प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं।

पूज्य प० साहब की स्मृति को स्थाई रखने हेतु भी सभा ने अपने ढग का अनोखा ही प्रयत्न किया है। उसने एक बुक बैंक की स्थापना की है जिससे असमर्थ छात्रो को पढने हेतु पुस्तकें दी जाती हैं। श्री केवलचन्द ठोलिया और श्री बाबूलाल सेठी इस काय के सचालक हे। यद्यपि यह कार्य अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही है किंतु शीघ्र ही इसका पर्याप्त विस्तार हो जाएगा ऐसी आशा है।

सभा का विधान प्रजातान्त्रिक पद्धति पर आधारित है जिसकी कार्य समिति के चुनाव प्रति वर्ष होते हैं। यह गौरव की बात है कि सभा के चुनाव अब तक प्राय सर्वसम्मति से ही होते आए है। सभा के कार्यकर्त्ताओ का सेवाभाव एव उनके एकजुट होकर कार्य करने का स्वभाव अनुकरणीय एव प्रशसनीय है। कार्यकारिणी के वर्तमान पदाधिकारियो और सदस्यो की सूचि अन्यत्र प्रकाशित है।

ताराचन्द साह
मन्त्री



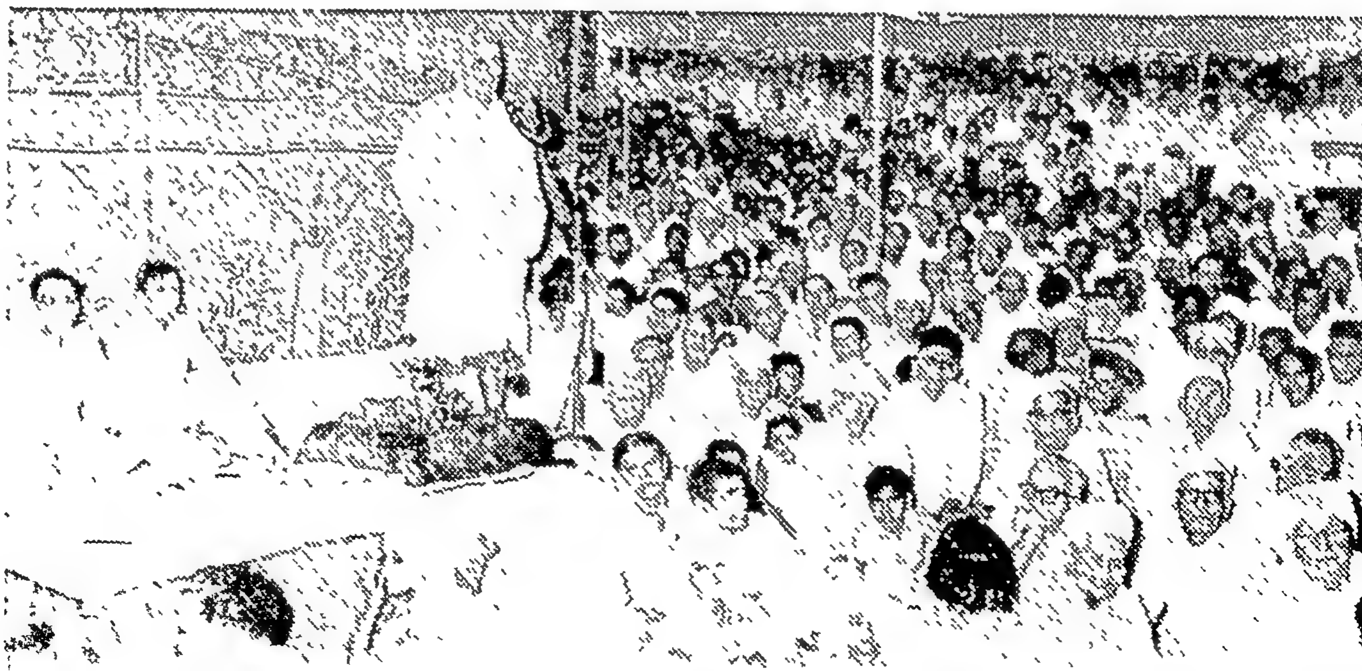


आयोजित

क्षमापन पर्व महोत्सव १९६६



सभा के अध्यक्ष
श्री केवलचन्द ठोलिया
जन-समूह को सम्बोधित
करते हुए



महोत्सव के अध्यक्ष श्री रामकिशोरजी व्यास विशाल जन-समूह के समक्ष भाषण करते हुए



सभा के मन्त्री
श्री ताराचन्द्र साह
धन्यवाद ज्ञापन
करते हुए

भगवान महावीर
और
उनकी देशना

प्रथम खंड

इस अङ्क मे :—

▶ रेडियो रूपक

(आकाशवाणी से प्रसारित)

वर्धमान महावीर

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन
आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.
व्यवस्थापक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

> और भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा—
>
> "जिस प्रकार हमें दुःख प्रिय नहीं लगते उसी तरह किसी को दुःख अच्छे नही लगते। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। अतएव निर्ग्रन्थ प्राणीवध का निषेध करते है।
>
> कोई भी किसी का प्राण न ले, किसी को पीड़ा न दे। किसी को परिताप न दे, किसी को उद्वेजित न करे। ...."



(भक्ति सूचक संगीत : संगीत में से उभरता हुआ स्वर)

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि
अरहंते सरणं पव्वज्जामि
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि
साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

(सामूहिक स्वर मे पुनरावृत्ति : संगीत समाप्त)

वाचक—आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। सारे भारतवर्ष मे हर्ष और उल्लास के साथ भगवान महावीर की जयन्ती मनायी जा रही है। भगवान महावीर जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर माने जाते है। आज से २५६७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन विहार के कुण्डलपुर मे महावीर का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। सिद्धार्थ वैशाली गणतन्त्र के एक प्रसिद्ध राज नेता थे।

एक दिन सिद्धार्थ अपने आस्थान मण्डप में बैठे थे—

स्त्री स्वर—महाराज को बधाई हो। देवी त्रिशला ने पुत्र रत्न को जन्म दिया है।

पुरुष स्वर - णमो तस्स भगवदो पासणाहस्स। मदनिके। ले यह स्वर्ण मुद्रिका। इस शुभ सूचना का उपहार। और हा, तत्काल यह समाचार देवी त्रिशला के तात चरण महामात्य चेटक को भिजवाओ।

स्त्री स्वर—जो आज्ञा महाराज।

(पृष्ठभूमि में शहनाई का मध्यम स्वर)

(डंके की आवाज, मनादी)

उद्घोषक पुरुष स्वर—वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष, लिच्छवि कुलभूषण, महामात्य चेटक महाराज का संदेश है कि ज्ञातृवंशी, कश्यपगोत्री, क्षत्रिय नरेश सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान महावीर के जन्म की खुशी में सम्पूर्ण वैशाली तोरण, पताकाओं और पुष्पों से सजायी जाये तथा सर्वत्र खुशियां मनायी जाएँ।

(डंके की आवाज)

(बच्चों और नागरिकों के हल्के कोलाहल के बीच मनादी की दो बार पुनरावृत्ति)

वाचक—महाराज चेटक का संदेश मलय की सुरभि की तरह सर्वत्र फैल गया। सारा वैशाली गणतन्त्र हर्षोल्लास में झूम उठा—

(पुत्र जन्मोत्सव का संगीत, वाद्य नृत्य गान, बधावे आदि)

वाचक—महावीर जन्म से ही उदीयमान, मेधावी और तेजस्वी थे, इसलिए उनके वर्धमान और सन्मति नाम पड़े। बाल्यकाल में ही कुछ ऐसी शौर्यपूर्ण घटनाएं घटीं जिनके कारण वे वीर, अतिवीर और महावीर कहलाने लगे। सारे वैशाली गणतन्त्र में उनकी चर्चा फैल गयी।

बालकों का स्वर—भागो भागो सांप, सांप काला सांप (भगदड़ की ध्वनि)

वर्धमान (बाल स्वर)—अरे! तुम लोग तो ऐसे डर गये कि जैसे कि वह खा ही जाएगा।

बालकों का स्वर—बाप रे! वर्धमान, वर्धमान, दूर रहो वर्धमान! भयंकर सांप है।

वर्धमान (बाल स्वर)—अरे भई, इतना क्या डरते हो? देखो अभी पकड़ता हूँ।

बालकों का स्वर—नहीं, नहीं, नहीं वर्धमान!

(बालकों की चिल्लाहट की ध्वनि)

वर्धमान (बाल स्वर)—लो! लो! नाग देवता! बच्चे समझ कर हम लोगों को डरा रहे थे। लो पूंछ पकड़ कर ऐसा फेंकता हूँ कि पुष्पोद्यान से बाहर गिरोगे।

(सांप को पकड़कर फेंकने की ध्वनि)

बालकों के उल्लास का स्वर—बड़ा वीर है वर्धमान, सांप को पकड़ कर फेंक दिया।

वाचक—एक बार वैशाली में एक हाथी बिगड़ गया और धन-जन की हानि करता उत्पात मचाने लगा—

(हाथी की चिंघाड़, लोगों की भगदड़, चिल्लाहट)

स्त्री स्वर—बचाओ, बचाओ, यह दुष्ट हाथी इसी ओर, इसी ओर आ रहा है।

(घबराहट और रोने की आवाज)

प्रौढ़ स्वर—घबड़ाओ नहीं। मैं आया। वर्धमान के रहते न पशु उत्पात कर सकता है न मनुष्य।

प्रौढ़-स्वर—रुको, रुको गजराज, आगे नहीं बढ़ना।

(घबड़ाहट, कोलाहल शान्त, हर्ष ध्वनि)

उल्लास का स्वर—वर्धमान महावीर धन्य है, धन्य है। कितना प्रभाव है कि कहने भर से दुष्ट हाथी शान्त हो गया।

स्त्री स्वर—युवराज, इस दुष्ट हाथी ने बहुतों को कुचल डाला।

पुरुष-स्वर—वर्धमान कुमार न होते तो पता नहीं आज यह दुष्ट सारा नगर उजाड कर रख देता।

वाचक—महावीर स्वभाव से चिन्तनशील थे। उस युग के परिवेश और परिस्थितियों ने उन्हें और अधिक चिन्तनशील बनाया। जीवन और जगत के प्रश्न बार-बार उनके मन में आ कर टकराते। सामाजिक विषमता, धर्म के नाम पर पाखण्ड और अपव्यय, तथा जिजीविषा के लिए कठोर संघर्ष देख कर उनका जी तिलमिला उठता। वे विचारों में खो जाते। वर्षो तक वे इन प्रश्नो पर घर मे ही सोचते रहे, किन्तु उन्हें समुचित समाधान नही मिला। अन्ततः तीस वर्ष की भरी जवानी मे एकान्त चिन्तन के लिए वे घर से निकल पड़े। यह समाचार बिजली की लहर की तरह दौड़ गया। सारी वैशाली वर्धमान के दर्शनार्थ उमड पड़ी।

(जन-समूह का कोलाहल। सामूहिक उद्घोष)

पुरुष-स्वर—सिद्धार्थ कुमार की जय।

स्त्री-स्वर—त्रिशलानन्दन की जय।

बाल-स्वर—वर्धमान महावीर की जय।

पुरुष-स्वर—अरे, यह हरीकेशी कहाँ बढा जा रहा है। वर्धमान कुमार की ओर ही तो। ओह, कोई रोको इसे, कुमार को न छुए। चाण्डाल। जनम-जनम का पापी।

वही स्वर—अरे, यह क्या। कुमार ने हरीकेशी को गले लगा लिया। चाण्डाल को ऐसे गले लगाया जैसे उनका सगा भाई हो।

(नदी का कलकल स्वर, पेड़ों की सरसराहट)

वाचक—वर्धमान कुमार तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के साधुकुल में दीक्षित हो गये। जृम्भका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे उन्होंने कठोर साधना प्रारम्भ कर दी। हेमन्त की बर्फीली हवाएँ (बर्फीली हवाओं की ध्वनि) ग्रीष्म की आग उगलती दोपहरी (ध्वनि), मूसलाधार वर्षा और तूफान (ध्वनि), झेलता वह महान योगी १२ वर्ष तक कठोर साधना करता रहा। एकान्त चिन्तन करता रहा। और जैसे सारे प्रश्नों का समाधान कोई एक साथ पा जाए। एक दिन शालवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे महावीर को दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई। वे केवलज्ञानी हो गये।

वाचक—महावीर की कठोर साधना और दिव्य ज्ञान की चर्चा सारे देश मे दूर-दूर तक फैल गयी। अपार जन-समूह वर्धमान महावीर के दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए उमड पडा। राजगृह के विपुलाचल पर तीर्थङ्कर महावीर की प्रथम विशाल समवशरण सभा आयोजित हुई। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार उस सभा के प्रधान प्रश्न-कर्ता थे और इन्द्रभूति गौतम तीर्थङ्कर महावीर की दिव्य वाणी के प्रथम व्याख्याता। लाखों लाख आँखें महावीर की ओर लगी हुई थीं और चारों ओर मे जय-जयकार का उद्घोष हो रहा था—

उद्घोष—तीर्थङ्कर महावीर की जय
ज्ञातृपुत्र महावीर की जय
दीर्घ तपस्वी वर्धमान की जय

गौतम (पुरुष स्वर)—ओम् शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

(अल्पकालिक अन्तराल)

णमो अरिहंताण णमो सिद्धाण
णमो आइरियाण णमो उवज्झायाण
णमो लोए सव्व साहूण ॥

महावीर (दिव्य वाणी)—जह मम ण पिय दुक्ख जाणइ एवम् भव्व जीवाण ।

सव्वे, जीवा वि इच्छन्ति जोविउ न मरीज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर निग्गथा वज्जयंति ण ॥

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हतव्वा न अज्ज-वियव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्वेयव्वा ।

व्याख्या पुरुष स्वर (गौतम)—आयुष्मन् श्रेणिक और कल्याणेच्छु भव्य जीवो । अभी भगवान् तीर्थङ्कर महावीर ने अभी अपने दिव्य उपदेश मे हिंसा और अहिंसा का प्रतिपादन किया ।

जीवन और जिजीविषा का प्रश्न चिरतन है । जिस प्रकार हम दु ख प्रिय नही लगते

उसी तरह किसी को दु ख अच्छे नही लगते ।

सभी प्राणी जीना चाहते हैं । मरना कोई नही चाहता ।

अतएव निग्रन्थ प्राणीवध का निषेध करते हैं ।

कोई भी किसी का प्राण न ले, किसी को पीडा न दें ।

किसी को परिताप न दे, किसी को उद्वे-जित न करे ।

पुरुष-स्वर—धन्य है भगवन्, धन्य है ।

सामूहिक स्वर—धन्य हैं भगवन्, धन्य हैं ।

(श्रेणिक) पुरुष-स्वर—भन्ते । अहिंसा का सदेश सुना । आपने हरिकेशी चाण्डाल को अपने सघ मे दीक्षित किया है । हम इसका रहस्य जानना चाहते हैं ।

दिव्य-वाणी—

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होई खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होई सुद्दो होइ उ कम्मुणा ॥
मनुष्यजातिरेकव ।

गौतम—पुरुष-स्वर (व्याख्या)—आयुष्मन् श्रेणिक और कल्याणेच्छु भव्य जीवो । तीर्थङ्कर महावीर ने कहा—जन्म से कोई छोटा-बडा, कोई ऊँच-नीच नही होता । प्राणी कार्य से ब्राह्मण, कार्य से क्षत्रिय, कार्य से वैश्य और कार्य से शूद्र होता है । आदमी आदमी एक है । प्राणी मात्र समान है । वह समाज कैसा जो मानव को मानव से अलग करे । वह धर्म कैसा जो व्यक्ति के बीच मे दीवार खडी करे ।

पुरुष स्वर—साधु, साधु ।

सम्मिलित स्वर—साधु साधु ।

श्रेणिक (पुरुष-स्वर)—भन्ते । हमने समाज रचना के लिए समता के उपदेशामृत का पान किया । तीर्थङ्कर महावीर सर्वथा निग्रन्थ हैं पर समाज की आर्थिक विषमता के विषय मे हमारा पथ प्रदर्शन करें ।

महावीर (दिव्य वाणी)—असविभागी नहि तस्स मुक्खो ।

मुच्छा परिग्गहो ।

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रस ।
न य पुप्फ किलामेइ सो य पीणेइ अप्पय ॥

(दश० १/२)

व्याख्या—जो व्यक्ति समविभाग नही करता, सब स्वय ही बटोर लेना चाहता है उसका कल्याण नहीं हो सकता। संग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति ही परिग्रह है। जैसे भ्रमर पुष्प को पीड़ा दिये बिना रस ग्रहण करता है, उसी तरह व्यक्ति को दूसरो को पीड़ा दिये बिना अपना अंश ग्रहण करना चाहिए।

पुरुप-स्वर—धन्य हो प्रभु, धन्य हो।

श्रेणिक (पुरुप-स्वर)—प्रभो, हमने अपरिग्रह का उपदेश सुना। दुनिया में जो अनेक धर्म और मतवाद प्रचलित है उनके विपय मे हम कैसे-क्या समझे ?

महावीर (दिव्य वाणी)—जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति णयवाया।

अवरोप्पर सावेक्ख णयविसयं तह पमाण विसयं वा। तं सावेक्ख तत्तं णिव्वेक्खं ताण विवरीयं॥

गौतम (पुरुप-स्वर)—(व्याख्या) जितने तरह से वात कही जाए, उतने ही नयवाद हो सकते है। पर वे सब सापेक्ष सत्य ही हैं। सापेक्ष कथन ही तत्व है। वही सत्य है। निरपेक्ष कथन सत्य नही हो सकता। आयुष्मन् श्रेणिक, मैं जो कहता हूँ, केवल वही सत्य है, इस प्रकार का आग्रह ही मतभेदो का जनक है। मै जो कहता हूँ वह भी सत्य है, ऐसा कहना मतभेदो मे सामंजस्य लाता है। यही सापेक्षता है। यही अनेकान्त है।

वाचक—विपुलाचल पर आयोजित तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर की समवशरण सभा का समापन करते हुए इन्द्रभूति गौतम ने कहा—

गौतम (पुरुप-स्वर)—आयुष्मन् श्रेणिक और कल्याणेच्छु भव्य जीवो ! वर्धमान महावीर ने अपनी दिव्य वाणी में जो उपदेश दिया, उसका संक्षेप मे सार यही है कि जीव मात्र समान है। विचारों में अनेकान्त, वाणी में सापेक्षता तथा व्यवहार में अहिंसा और अपरिग्रह की भावना ही कल्याण का मार्ग है।

वाचक—वर्धमान महावीर ने काशी, कौशल, कलिंग कुरुजागल कम्बोज, वाल्हीक, सिन्धु, गान्धार, आदि जनपदो में विहार कर जनता की भापा मे जनता को सम्बोधित किया। जो भी उनके उपदेश सुनता उसे लगता महावीर उसी की वात कह रहे हैं।

और इस तरह महावीर लगभग तीस वर्ष तक अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का उपदेश देते रहे। बहत्तर वर्ष की आयु में विहार के पावापुर में उनका निर्वाण हुआ। अपार जन-समूह ने उपस्थित होकर तीर्थङ्कर महावीर को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और आकाश मगल स्तुतियो से गूंज उठा।

(भक्ति संगीत के साथ—)

जयतु जय महावीर भगवान् !
जयतु जय महावीर भगवान् !
सिद्धारथ के राज दुलारे
त्रिशला की आंखो के तारे
कुण्डलपुर के हो उजयारे
पावापुर मे मोक्ष पधारे
किया स्वपर कल्याण।
जयतु जय महावीर भगवान् !
जयतु जय महावीर भगवान् !



६ सौधम स्वग का देव	६ ईशा स्वर्ग का देवन
७ पुष्यमित्र ब्राह्मण	७ पुष्यमित्र ब्राह्मण
८ सौधम स्वग का देव	८ सौधम स्वर्ग का देव
९ अग्निसह ब्राह्मण	९ अग्न्युद्योत ब्राह्मण
१० सनत्कुमार स्वग का देव	१० ईशान स्वर्ग का देव
११ अग्नि मित्र ब्राह्मण	११ अग्निभूति ब्राह्मण
१२ महेन्द्र स्वर्ग का देव	१२ सनत्कुमार स्वर्ग का देव
१३ भारद्वाज ब्राह्मण	१३ भारद्वाज ब्राह्मण
१४ महेन्द्र स्वग का देव त्रसस्थावर योनि के असख्य भव	१४ महेन्द्र स्वर्ग का देव अन्य अनेक भव
१५ स्थावर ब्राह्मण	१५ स्थावर ब्राह्मण
१६ महेन्द्र स्वग का देव	१६ ब्रह्म स्वर्ग का देव
१७ विश्वनन्दी (मुनिपद मे निदान)	१७ विश्वभूति (मुनि पद मे निदान)
१८, महाशुक्र स्वर्ग का देव	१८ महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९ त्रिपृष्ठ नारायण	१९ त्रिपृष्ठ नारायण
२० सातवें नरक का नारकी	२० सातवें नरक का नारकी
२१ सिंह	२१ सिंह
२२ प्रथम नरक का नारकी	२२ प्रथम नरक का नारकी
२३ सिंह (मृग-भक्षण के समय चारण मुनि-द्वारा सम्बोधन)	×
२४ प्रथम स्वर्ग का देव	×
२५ कनकोज्ज्वल राजा	×
२६ लान्तव स्वर्ग का देव	×
२७ हरिषेण राजा	×
२८ महाशुक्र स्वर्ग का देव	×
२९ प्रिय मित्र चक्रवर्ती	२३ पोट्टिल या प्रिय मित्र चक्रवर्ती
३० सहस्त्रार स्वग का देव	२४ महाशुक्र स्वर्ग का देव
३१ नन्द राजा (तीर्थकर प्रकृति का बन्ध)	२५ नन्दन राजा (तीर्थङ्कर गोत्र का बन्ध)
३२. अच्युत स्वग का इन्द्र	२६ प्राणत स्वर्ग का इन्द्र
३३ भ० महावीर	२७ भ० महावीर

श्वेताम्बर परम्परा मे २३ वें भव से लेकर २८ वें भव तक के ६ भवो का कोई उल्लेख क्यो नही यह बात विचारणीय है।

दोनो परम्परा के आचार्यों ने २२ पूर्व भवो का वर्णन प्राय समान ही किया है। हा, भ० महावीर के वर्तमान भव म कुछ बातो का अन्तर अवश्य पाया जाता है।

१. दि० परम्परा में भगवान् की माता १६ स्वप्न देखती है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा में वह १४ ही स्वप्न देखती है।

२. श्वे० परम्परानुसार भ० महावीर पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये। पीछे नैगम देव के द्वारा गर्भापहरण कर त्रिशला के गर्भ में पहुंचे।

३. दि० परम्परानुसार तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानधारी होने से वे किसी विद्यालय मे नही पढने जाते। किन्तु श्वे० परम्परा में उनके विद्यालय में पढने का वर्णन मिलता है।

४. दि० परम्परानुसार महावीर ने विवाह नही किया जब कि श्वे० परम्परा में विवाह होने व एक पुत्री होने का भी उल्लेख है।

५. दि० परम्परानुसार भ० महावीर दीक्षित होने के बाद से ही नग्न रहे हैं, जब कि श्वे० परम्परा के अनुसार उन्होने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र रखा।

उपर्युक्त प्रमुख अन्तरो के अतिरिक्त भगवान महावीर के ऊपर होने वाले उपसर्गो का वर्णन दि० परम्परा की अपेक्षा श्वे० परम्परा मे अधिकता से पाया जाता है।

दिगम्बर ग्रन्थो मे भ० महावीर के द्वारा की गई विविध तपस्याओं का विगत वार वर्णन नही मिलता है, जब कि श्वे० ग्रन्थो में उनकी तपस्याओं का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है—

छह मासी अनशन तप	१
पाच दिन कम छह मासी तप	१
चातुर्मासिक	९
त्रैमासिक	२
अढ़ाई मासिक	२
द्विमासिक	६
डेढ़मासी	२
एक मासी	१२
पक्षोपवास	७२
भद्र प्रतिमा २ दिन	१
महाभद्र प्रतिमा ४ दिन	१
सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन	१
षष्टोपवास (वेला तप)	२२९
अष्टमभक्त (तेला तप)	१२
पारणा के दिन	३४९
दीक्षा दिन	१

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि भ० महावीर ने अपने छद्मस्थ तपस्या काल के १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन में केवल ३४९ दिन ही भोजन किया है और शेष दिनों में उन्होने निर्जल उपवास ही किये हैं। इस समस्त छद्मस्थ काल में भ० महावीर ने केवल एक बार कुछ क्षणों के लिए निद्रा ली। शेप सर्वकाल उन्निद्र रह कर जागृत दशा में ही आत्म-चिन्तन करते हुए व्यतीत की है।

भ० महावीर के ११ गणधरो का उल्लेख दोनो परम्पराओ में एक सा ही है। हां, किस गणधर को भ० महावीर के समीप दीक्षित होने के पूर्व किस-किस विषय की कौन कौन सी शंका थी और भगवान् के द्वारा उनका समुचित समाधान पाने पर वे दीक्षित हुए, इसका सविस्तार वर्णन श्वे० ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।



अपनाया हो और दीर्घ साधना के बाद यह सिद्ध किया हो कि अपने भाग्य का ह पुरुष, तू ही निर्माता है, अपना हित करने की शक्ति तुझ मे ही है, तू ही अपना मित्र और तू ही अपना शत्रु है। उस स्वावलम्बन के पथ-प्रदर्शन के उपासक उसकी महान् देन को भूलकर कामनिक बनकर परावलबी बन जाय इसमे बढकर आश्चर्य की और बात क्या हो सकती है ?

व जिस समय भारत म जनमे थे उस समय धर्म के नाम पर यहा कई ऐसी बातें चल रही थी जो अधर्म थी। उनमे मानव सुखी बनने का प्रयत्न कर रहा था पर वे बातें दुखो को बढाने वाली ही थी। उस समय धर्म के नाम पर भगवान को सतुष्ट कर उसकी कृपा प्राप्ति के लिए दूसरे जीवो की बलि यज्ञ रूप मे दी जाती थी। शूद्र और नारी का आत्मविकास के ऐवज म बडो की सेवा ही धर्म माना जाता था। वर्णों मे ब्राह्मणो को ही ज्ञान पाने का अधिकार मान्य था। क्षत्रिय पर ही रक्षण का भार था। जाति सस्था का आधार लेकर उसे धर्म बताकर जो ज्ञानी थे, शक्तिशाली थे वे धर्म के नाम पर उन्ह अज्ञानी रखकर उनसे अपनी सेवा करवाते, पूजा करवाते। उन्हे परावलम्बी और दीन बनाने मे धर्म का उपयोग कर रहे थे। इस अज्ञान विषमता और अन्याय का प्रतीकार करने के लिए, कल्याणकारी धर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन्होंने दीर्घ चिंतन और साधना की थी। इतिहास म कहा गया है कि यह साधना बारह साल से भी अधिक समय चली। इस बीच उन्हे न खाने की सुधि थी और न शरीर की चिन्ता। जिस साधना मे कठोर तप था और जिन्होंने उस साधना के बाह्य रूप को ही देखा वे उस दीर्घतप को ही साधना समझ बैठे। यह अस्वाभाविक नही था और न है।

भगवान महावीर के चरित्र मे स्थान स्थान पर ऐसा वर्णन मिलता है कि व ध्यानलीन हो गए। इसमे यह स्पष्ट है कि उनकी साधना का हार्द ध्यान था और उस ध्यान ने दीर्घ तपस्या का प्रभाव शरीर पर न होने दिया हो यह सभव है।

भगवान महावीर ने अपने साधना काल मे जो तपस्या की वह बडी कठिन और दुष्कर थी। इतनी तपस्या के बावजूद उनमे ऐसी शारीरिक शक्ति थी जिससे उन्होंने दुस्सह परिषह सहन किए। इसके लिए भक्तगण उनमे दैविक शक्ति का आरोपण करते हैं पर हमे इसका कारण उनका योग और ध्यान का होना अधिक युक्तिसगत लगता है और हमारे लिए यही बात अधिक उपयोगी लगती है। प्राण अन्नमय माना जाता है पर बिना अन्न के मनुष्य कुछ महिने तक जीवित रह सकता है लेकिन बिना वायु के तो चन्द मिनिट भी जीवित रहने के उदाहरण बिलकुल नही मिलेंगे, तथापि बिना वायु के योगियो के महिनो तक जीवित रहने के उदाहरण देखे जाते हैं अत इस बात पर विश्वास न करने का कोई कारण नही कि भगवान महावीर ने भी महिनो तक बिना अन्न और जल के अपनी शारीरिक शक्ति बनाये रखी हो।

भक्त अपने भक्ति के आवेश मे अपने उपास्य देव मे अतिमानवी शक्ति का आरोपण कर अपने आपको उनकी जीवन साधना के अनुसरण के योग्य न रख कर उनसे मागने वाले दीन-भिखारी बना लेते है। यद्यपि भगवान महावीर के तत्व ज्ञान मे इस बात के लिए कही स्थान नही है तथापि पडोसी धर्मों के संस्कार जैनो पर भी पडे और उन्होंने भी महावीर के जीवन के अनुसरण से उन्हे दीनो का दयालु मानकर आत्मविकास के ऐवज मे उनकी कामनिक भक्ति कर याचना का मार्ग अपनाया और उन्हे मार्गदृष्टा न मानकर भक्तो की कामना पूर्तिवाला, सबकी इच्छाओ को पूरी करने वाला उदारदाता बना लिया जिसमे उनके साधना-पथ को समझकर उस पर चलने का पुरुषार्थ करने की अपेक्षा उनकी

दासता स्वीकार कर ली। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह आया कि भगवान महावीर की साधना अनुकरण की नहीं आश्चर्य की वस्तु बन गई। साधना पथ की खोज हमने नही की और हमारे बड़े बड़े पडित भी उन्हे दीर्घ तपस्वी के रूप में सम्बोधित करने लगे। भगवान महावीर की साधना का हार्द जहाँ ध्यान-योग था वहां उन्हे दीर्घ तपस्वी माना गया। इसमे हम विद्वानो का दोष नहीं मानते क्योंकि वे तो भगवान महावीर के विषय मे जो उपलब्ध साहित्य आचार्यो द्वारा रचित पाया जाता है उसी के आधार पर वे भगवान महावीर के विषय में कहते है और यह स्वाभाविक भी है। पर जब साधना की दृष्टि से कोई साधक भगवान महावीर के जीवन पर चिन्तन करता है तब उसका अधिक गहराई मे जाना आवश्यक हो जाता है। इस विषय मे साधको का ध्यान जाने लगा है और अब जैन दर्शन मे योग के महत्वपूर्ण स्थान की खोज भी होने लगी है।

प्रश्न उत्पन्न होता है आचार्यों ने योग की ओर दुर्लक्ष्य क्यो किया? बिना कारण इतनी बड़ी बात की ओर दुर्लक्ष्य करना उन महान् आचार्यो के लिए कि जिन्होने भगवान महावीर की विरासत पाई थी सम्भव नही माना जा सकता और जब हम गहरा चिन्तन करते है तो हमे वे कारण भी स्पष्ट होते हैं।

योग से सिद्धिया प्राप्त होती हैं और जैन आगमो मे ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त होने की चर्चा भी पाई जाती है। इन सिद्धियों की उपलब्धियों का उपयोग साधक आत्म-कल्याण के लिए न कर भौतिक और बाह्य सुख प्राप्ति के लिए करने लग जाय तो वह योग का दुरुपयोग है। इस-लिए चमत्कारपूर्ण सिद्धियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए आचार्यों ने ऐसा किया हो। (सिद्धियों के दुरुपयोग होने के उदाहरण भी प्राचीन साहित्य में

मिलते है। योग विद्या की अपेक्षा चारित्र्याचार पर अधिक बल दिया गया हो। जब तक योग का उपयोग चारित्र्य शुद्धि और जीवन शुद्धि के लिए किया जाता है तब तक वह साधना के लिए सहा-यक बनता है। वैसे ही जब आचार में आसक्ति का प्रवेश हो जाता है तब वह भी जड़ क्रिया बनकर साधना मे बाधक बन जाती है। आज आचार-पक्ष, क्रिया-पक्ष पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा है कि उसका हार्द जो मनःशुद्धि या जीवनशुद्धि था वह उसमें से निकल ही गया है। तभी हमारी मूर्तिया कषाय शमन मे, चितशुद्धि में सहायक न बनकर कषायवृद्धि करने वाली बन गई है। जिस अहं के नाश के लिए साधना की जाती है वही स्थान अहं भाव बढाने या अहकार प्रदर्शन के स्थान बन गये हैं। तपस्या दिखावा बन गई है। धर्माचरण भी प्रतिष्ठा के लिए किया जाने लगा है। जिससे मनुष्य धार्मिक बनने की अपेक्षा दिखने का दिखावा करने लगा है।

हमारी मूर्तिया हमे साधना के लिए प्रेरणा देने वाली थी और वैसा ही उसका उपयोग भी था और है। हम मन्दिरो में जाकर निरुपाधिक उपासना करें उसका स्थान द्रव्य पूजा ने और उसके क्रिया कांडो ने ले लिया है और मन्दिरो में परिग्रह युक्त पूजा होने लगी है। पूजा के साधन भी निरुपाधिक नही रहे। इसलिए बीच बीच मे जब मन्दिरो की चोरियो के समाचार पढ़ने में आते है तब अपरिग्रही व निरुपाधिक भगवान से शिक्षा-ग्रहण कर अपरिग्रही होने के ऐवज मे हमने ही भगवान को भी परिग्रही बना दिया हो ऐसा दिखाई देता है, जो बड़ी दुःख की बात है।

हम जीवन साधना चाहते हो, उसके लिए यदि भगवान महावीर को मार्गदर्शक मानते हो तो उनकी मूर्तिया हमारी पथ-प्रदर्शक बन सकती हैं। ऐसे उपासक भगवान के आगे या मूल्यवान वस्तुओं के

प्रदर्शनों की अपेक्षा मूर्ति का आसन, मुद्रा और प्राणायाम की कौनसी अवस्था है इस बात को गहराई से खोजेगा।

चूंकि हम परम्परा से मन्दिरों में जाते रहे और तीर्थयात्राएं भी करते रहे पर हमें भीड में पूजा के समय मूर्ति के दर्शन करने की अपेक्षा जब मन्दिर में भीड न हो तब शांत समय में जाकर ध्यान करने में अधिक आनन्द आता है। हमने देखा कि कई प्राचीन मूर्तियां इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। हमने देखा था कि इस दृष्टि में कुलपाक 'आाध्र' की मूर्ति विशेष आकर्षक तथा ध्यान के लिए उपयुक्त मालूम दी। अभी अभी वहां आचार्य तुलसी गए थे तब उनके विद्वान तथा साधना में विशिष्ट योग्यता रखने वाले मुनि नथमलजी ने उस मूर्ति के विषय में कहा कि-'इस मूर्ति की स्थिति आसन, मुद्रा और कुम्भक प्राणायाम युक्त दिखाई देती है।" इसलिए प्राचीन साहित्य की तरह ही हमारी प्राचीन मूर्तियां भी भगवान महावीर की योग साधना की खोज में सहायक बन सकती हैं।

हमने इस विषय में समाज के विद्वानों का इस लेख द्वारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। वे भगवान महावीर के सम्बन्ध में जो साहित्य उपलब्ध है उसमें अधिक खोजकर जिज्ञासुओं को उपलब्ध करावें। यह सामग्री आगम साहित्य, प्राचीन तथा मध्यकालीन आचार्यों के साहित्य में, मूर्तियां तथा चित्रों में मिल सकती है। लेकिन इस दिशा में उन्हीं साधकों की खोज विशेष उपयोगी बन सकती है जो योग में दिलचस्पी रखते हों तथा योग-साधना करते हों।

हमें आशा है कि समाज के चिन्तक, विद्वान् साधक तथा शोध कार्यकर्ता भगवान महावीर की साधना का हार्द योग के विषय में अधिक खोजकर उसे जिज्ञासुओं के लिए उपलब्ध करने की दिशा में प्रयत्नशील होंगे और भगवान के इस महत्वपूर्ण किन्तु अपेक्षित क्षेत्र की ओर ध्यान देंगे।

"भिन्न धर्म तो एक ही तरह के वाडे है। उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नही है।"

—रायचंद भाई

भगवान महावीर के साधक-जीवन के दो प्रेरक प्रसंग

श्रीमती शान्ता भानावत
एम० ए०

भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित दो प्रेरक प्रसंग लेखिका ने अपनी सरस वाणी में यहां प्रस्तुत किये हैं। कहने की आवश्यकता नही कि संख्या दो के प्रसंग वाली घटना दिगम्बर साहित्य में अप्राप्य है लेकिन केवल इसी कारण उसका महत्व कम नहीं होता। यदि कोई वर्णन शिव और सुन्दर है तो शास्त्रकारों ने उसे काल्पनिक होते हुए भी सत्य की कोटि में गिना है। साम्प्रदायिक अहं को त्याग पाठक, आशा है इन प्रसंगों से प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

—सम्पादक



: १ :

विष से अमृत की ओर

श्वेताम्बिका नगरी के उपवन में एक भयानक सर्प रहता था। जनता उससे बड़ी आतंकित एवं भय-त्रस्त थी। कोई भी दिन ऐसा न निकलता जिस दिन किसी न किसी प्राणी को उसका कोप-भाजन न बनना पड़ता।

उपवन के जिस मार्ग मे सर्पराज रहता था वही एक मुख्य मार्ग था जिससे होकर आसपास के गावों के लोग नगरी में अपनी जीविकोपार्जन हेतु आते-जाते थे। जो भी उस मार्ग से निकलता वह फिर सक्षेम घर नही पहुँचता।

श्रमण भगवान महावीर विचरण करते हुए इधर आये। सर्पराज की भयंकरता के समाचार सुनकर भी वे उसी मार्ग की ओर अग्रसर हो गये जिस मार्ग पर अनेकों नरनारियों को चण्डकौशिक नाग का कोप-भाजन बनना पड़ा। भगवान महावीर को उसी रास्ते देख सभी नरनारियों ने अनुनय विनय की कि हे देव ! आप इस रास्ते विचरण न करें पर उन्होंने किसी की बात नहीं मानी और उसी रास्ते पर चल दिये। नागराज चण्डकौशिक ने जब उन्हें अपनी ओर

आते देखा तो उसके क्रोध की सीमा न रही। वह सोचने लगा—यह साधु कितना मन्द-बुद्धि है। चारों ओर पड़े नरमुण्डों पर गिद्ध और चीलों को मंडराते देख कर भी अपने मन में तनिक भी भयभीत नहीं हो रहा है। इसको मेरे पास आने दो। मैं इसे एक क्षण में ही निगल जाऊँगा।

भगवान महावीर चारों ओर पड़े नरमुण्डों को देख संसार की नश्वरता सोचते-विचारते अपने ध्यान में लीन हो चले आ रहे थे। उनके मन में तनिक भी भय नहीं था। वे तो नया जीवन-बोध देकर उसके जीवन की दिशा बदलना चाहते थे।

ज्यों-ज्यों भगवान महावीर उसके निकट पहुँच रहे थे त्यों-त्यों उसका क्रोध बढ़ता जा रहा था। ज्योंही भगवान उसके पास पहुँचे वह जोरों से फुंकार उठा। पर वे भला कब डरने वाले थे। चण्डकौशिक ने सोचा-अरे यह तो अपने आपको बड़ा बहादुर समझ रहा है। मेरी फुंकार से जरा कांपा भी नहीं। इसे अब अपना चमत्कार बताता हूँ। यह सोच उसने उनके अंगूठे को जा डसा। पर महावीर तो किंचित भी विचलित नहीं हुए। उनके धैर्य को देख चण्डकौशिक के क्रोध की सीमा न रही। उसने पूरे जोर के साथ उनके शरीर को जगह जगह से काट दिया। खून की धारायें बहने लगी। उन्होंने घबराने के बजाय निश्चल भाव से कहा – चण्डकौशिक शान्त हो, जरा अपने पूर्व जन्म को याद करो—तुम मुनि थे मुनि। शिष्य पर क्रोध करने से तुम्हारी यह गति हुई है। तुमने सर्प जैसी योनि प्राप्त की है। इस सर्प योनि में भी तुम अपने अहंकार को नहीं छोड़ रहे हो? अपने अहं में ही पागल हो रहे हो कितने निरपराध जीवों को तुमने काल के गाल उतार दिया।

भगवान महावीर का शान्त उपदेश सुनकर चण्डकौशिक को जाति-स्मरण हो गया। उसके उपलब्ध होते ही उसे अपने द्वारा किये गये कुकृत्यों पर अत्यधिक ग्लानि होने लगी। फलस्वरूप उसने अपना विषैला स्वभाव छोड़ भगवान के निकट ही कायोत्सर्ग कर लिया।

चण्डकौशिक के इस व्यवहार का लोगों को जब पता चला तो वे सर्पराज के खाने-पीने लिए दूध तथा अन्य पदार्थ ले गये। चण्डकौशिक ने तो भगवान का उपदेश सुन अपने क्रोध जनित दुष्कृत्यों पर पश्चात्ताप कर अनशन व्रत धारण कर लिया था। उसने गांव के लोगों द्वारा लाये गये किसी पदार्थ को छूना तो दूर रहा सूंघा तक नहीं। दूध और चीनी के कारण हजारों चींटियाँ चण्डकौशिक के चारों ओर लिपट गईं। उसने समभाव पूर्वक इस दारुण दुख का सहन करते हुए अपने प्राण त्याग दिए।

धन्य है उसका यह आत्मसंयम और क्षमा भाव।

: २ :

न पीड़ा न प्रसन्नता

तप पूत भगवान महावीर जंगल में आत्म चिन्तन में लीन खड़े थे। कायोत्सर्ग की इस मुद्रा में वे अपने आपको भुला चुके थे। उन्हें न संसार का भान था न शरीर का ही, न उन्हें भूख सता रही थी और न प्यास ही, न सूर्य की तेज गर्मी उनके ध्यान में बाधा पहुँचा रही थी और न लू के दग्ध थपेड़े ही उन्हें अपने मार्ग से विचलित कर रहे थे। वे तो एकान्त भाव में खड़े-खड़े आत्मा परमात्मा के मिलन का आनन्द ले रहे थे।

इतने में एक ग्वाला अपने बैलों की जोड़ी चराता हुआ उधर से आ निकला। चिलचिलाती धूप में खड़े महावीर पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने सोचा-अरे यह साधु कितना बेसमझ है। इस तेज

धूप मे खडा-खडा व्यर्थ ही अपनी काया तपा रहा है। चारों ओर कितने सघन छायादार वृक्ष है; इनके नीचे आकर क्यों नही बैठ जाता ? ग्वाले ने साधु को आवाज देकर छाया में बैठने को कहा पर मुनि तो अपने ध्यान में मग्न थे। उन्हे कुछ भी सुनाई नहीं दिया।

ग्वाला सोचता रहा यह साधु यही जंगल में ही तो खडा है। यह मेरे बैलो का ध्यान रख लेगा। क्यो न मै अपने खेत पर जाकर थोड़ा काम कर आऊँ। इस विचार के साथ ही उसने साधु से कहा–तुम खड़े-खड़े मेरे बैलो का भी ध्यान रखना। ये कही इधर-उधर न चले जायँ। मैं थोड़ी देर मे अपना काम पूरा कर आ ही रहा हूँ।

प्रभु मौन थे। ग्वाला उनकी मौन स्वीकृति समझ बैलों को वहीं छोडकर चला गया। थोडी देर में लौटा तो वहाँ अपने बैलो को न देख वह आग बबूला हो गया। उसने सोचा–यह साधु नही, कोई भेपधारी ठग मालूम पडता है। इसने मेरे बैलों को कही उड़ा दिया है। अब मै क्या करूँ ? मेरे जीवन का वही तो एक सहारा था।

ग्वाला मुनि को झंझोड-झंझोड कर बार-बार पूछने लगा–मेरे बैल बताओ, पर मुनि तो निर्द्वन्द्व भाव से अपने ध्यान में मग्न थे।

उनसे कोई उत्तर न पाकर ग्वाले ने पास मे ही पड़े लोहे के कीले उठा लिये और ठोक दिये उनके कानो में। महावीर इस कष्ट को कर्म-निर्जरा समझ कर सम भाव से सहन करते रहे। उफ तक नहीं किया। इधर कुछ देर बाद ही बैल सहज भाव से चरते-चरते वापस आ गये।

अब ग्वाले को वस्तुस्थिति समझने में कुछ भी विलम्ब न लगा। वह अपने किये पर पछताने लगा। पर महावीर तो निर्विकार भाव से ध्यानमग्न थे। न उन्हे ग्वाले की क्रोधाग्नि से पीड़ा हुई न आत्म-ग्लानि से प्रसन्नता।



"अपनी बुराइयों और कमजोरियों को हम जितना जानते हैं उतना और कोई नहीं जानता; फिर भी दूसरे लोग हमें उतना महान् नहीं समझते जितना हम अपने आपको समझते हैं।

—फ्रेज बी० ओएफन

वीर वन्दना

घासीराम जैन 'चंद्र' शिवपुरी

मरण हरण शिव वरण तरुण तन, यौवन की अरुणाई मे,
त्याग धरनि धन-धाम चले तुम, धन्य-धन्य तरुणाई मे।
धन्य धरा हो गई धर्म से पावन तम त्रैलोक हुआ,
अन्तरतम का अन्धकार हर नवनूतन आलोक हुआ।

परम पुनीत पूज्य पद रज से जो पथ परम पुनीत हुआ,
पाकर पवन परस पथगामी पावन धन्य प्रतीत हुआ।
कोटि चरण चलते उस मग से जिधर चरण पड जाते थे,
कोटि नयन अडते उस मग मे जिधर नयन गड़ जाते थे।

रति रम्भा के रूप अनूपम यौवन ममता भृकुटि विलास,
मोहन मन्त्र मनोभव के भव डाल न पाये थे भव-पाश।
करम-निकदन जगवदन तुम प्रियकारिणि नदन अभिराम,
कुण्डलपुर के कनक भवन को त्याग बनायो निर्जन धाम।

सेज शिला बन गई सहचरी समता से कर प्रीति पुनीत,
दशो दिशाये अम्बर पावन क्षमा शस्त्रबल हरण कुनीति।
मृगकुल मित्र मडली मजुल शशि किरनावनि दीपक माल,
दुर्धर तप द्वादश विधि भोजन भेद ज्ञानमय नीर रसाल।

तुम आये भू तल पर ज्योतित ज्ञानभानु अवतरित हुआ,
तुम आये तो जीव दया का उपवन पावन हरित हुआ।
हिंसक जन की लोलुपता से अगनित प्राण बचाये है,
पावनता मृदुता मानवता से नव हृदय सजाये है।

आवो 'चन्द्र' विश्व मानस के हिंसक बधन को खोलो,
विश्व शाति के परम प्रणेता महावीर की जय बोलो।
ज्ञानामृत पूरित अमृत-घट पियो विश्व को पीने दो,
प्रेम प्रवाह बहाकर तुम खुद जियो विश्व को जीने दो।



महावीर की क्रान्ति और उसकी पृष्ठभूमि

डॉ० नरेन्द्र भानावत
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग, राज० विश्वविद्यालय

> भगवान् महावीर ने बताया—
> "... ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं में स्वतंत्रता, मुक्त, निर्लेप, निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी कषायों-क्रोध, मान माया और लोभ को त्याग दे। ...."



वर्धमान महावीर क्रांतिकारी व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। उनमें स्वस्थ समाज निर्माण और आदर्श व्यक्ति-निर्माण की तड़प थी। यद्यपि स्वयं उनके लिये समस्त ऐश्वर्य और वैलासिक उपादान प्रस्तुत थे तथापि उनका मन उनमें नहीं लगा। वे जिस बिन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परिस्थितियां उस समय न थी। धार्मिक जड़ता और अन्ध श्रद्धा ने सबको पुरुषार्थ रहित बना रखा था, आर्थिक विषमता अपने पूरे उभार पर थी। जाति-भेद और सामाजिक वैषम्य समाज-देह में घाव बना चुके थे। गतानुगतिकता का छोर पकड़ कर ही सभी चले जा रहे थे। इस विषम और चेतना रहित परिवेश में महावीर का दायित्व महान् था। राजघराने में जन्म लेकर भी उन्होंने अपने समग्र दायित्व को समझा। दूसरों के प्रति सहानुभूति और सदाशयता के भाव उनमें जगे और एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व के रूप में वे सामने आये, जिसने सबको जागृत कर दिया, अपने-अपने कर्तव्यों का भान करा दिया और व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से बाहर निकाल कर नहीं दिशा-निर्देश ही नहीं किया वरन् उस रास्ते का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

परिवेश के विभिन्न सूत्रों को वही व्यक्ति पकड़ सकता है जो सूक्ष्म द्रष्टा हो; जिसकी वृत्ति निर्मल, स्वार्थ रहित और सर्वार्थ भावना के

हितों की सर्वाहिका हो। महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श किया था पर एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव वे बराबर करते रहे, जिसकी पूर्ति किसी बाह्य साधना से संभव न थी। वह अतिरिक्त चेतना और मानसिक तटस्थता से ही पाटी जा सकती थी। इसी रिक्तता को पाटने के लिए उन्होंने घर-बार छोड़ दिया, राज-वैभव को लात मार दी और बन गये अटल वैरागी, महान् त्यागी, एकदम अपरिग्रही निस्पृही।

उनके जीवन दर्शन की यही पृष्ठभूमि उन्हें क्रांति की ओर ले गई। उन्होंने जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को जड़, गतिहीन और निष्क्रिय देखा। वे सबमें चेतनता, गतिशीलता और पुरुषार्थ की भावना भरना चाहते थे। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में उन्होंने जो क्रान्ति की उसका यही दर्शन था।

धार्मिक क्रांति —

महावीर ने देखा कि धर्म को लोग उपासना की नहीं प्रदर्शन की वस्तु समझने लगे हैं। उसके लिए मन के विकारों और विभावों का त्याग आवश्यक नहीं रहा, आवश्यक रहा यज्ञ में भौतिक सामग्री की आहुति देना, यहां तक कि पशुओं का बलिदान करना। धर्म अपने स्वभाव को भूल कर एकदम क्रिया काण्ड बन गया था। उसका सामान्यीकृत रूप विकृत होकर विशेषाधिकार के कठघरे में बन्द हो गया था। ईश्वर की उपासना सभी मुक्त हृदय से नहीं कर सकते थे। उस पर एक वर्ग का एकाधिपत्य सा हो गया था। उसकी दृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और अन्तर से बाह्य हो गई थी। इस विषम स्थिति को चुनौती दिये बिना आगे बढ़ना दुष्कर था। अतः भगवान महावीर ने प्रचलित धर्म और उपासना पद्धति का तीव्र शब्दों में खंडन किया और बताया कि ईश्वर को प्राप्त करने के साधना पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं में स्वतंत्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ को त्याग दे।

धर्म के क्षेत्र में उस समय उच्छृङ्खलता फैल गई थी। हर प्रमुख साधक अपने को तीर्थङ्कर मान कर चल रहा था। उपासक की स्वतंत्र चेतना का कोई महत्व नहीं रह गया था। महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म साधक ईश्वर को प्राप्त ही नहीं करे वरन् स्वयं ही ईश्वर बन जाय। इस भावना ने असहाय निष्क्रिय जनता के हृदय में शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-बल का तेज भरा। वह सारे आवरणों को भेद कर, एक बारगी उठ खड़ी हुई। अब उसे ईश्वर प्राप्ति के लिए परमुखापेक्षी बन कर नहीं रहना पड़ा। उसे लगा कि साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यों-ज्यों साधक तप संयम अहिंसा को आत्मसात् करता जायगा त्यों-त्यों वह साध्य के रूप में परिवर्तित होता जायगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र से दलालों और मध्यस्थों को बाहर निकाल कर, महावीर ने सही उपासनापद्धति का सूत्रपात किया।

सामाजिक क्रांति —

महावीर यह अच्छी तरह जानते थे कि धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो नयी जीवन दृष्टि मिलेगी उसका क्रियान्वयन करने के लिए समाज के प्रचलित रूढ मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा। इसी सन्दर्भ में महावीर ने सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। महावीर ने देखा कि समाज में दो वर्ग हैं। एक कुलीन वर्ग जो कि शोषक है, दूसरा निम्न वर्ग जिसका कि शोषण किया जा रहा है। इसे रोकना

होगा। इसके लिए उन्होने अपरिग्रह-दर्शन की विचारधारा रखी जिसकी भित्ति पर आगे चल कर आर्थिक क्रांति हुई। उस समय समाज में वर्ण-भेद अपने उभार पर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र की जो अवतारणा कभी कर्म के आधार पर सामाजिक सुधार के लिए, श्रम विभाजन को ध्यान मे रखकर की गई थी, वह आते-आते रूढ़िग्रस्त हो गई और उसका आधार अब जन्म रह गया। जन्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगा। फल यह हुआ कि शूद्रो की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। नारी जाति की की भी यही स्थिति थी। शूद्रो की और नारी जाति की इस दयनीय अवस्था के रहते हुए धार्मिक-क्षेत्र मे प्रवर्तित क्रांति का कोई महत्व नहीं था। अत. महावीर ने बडी दृढ़ता और निश्चितता के साथ शूद्रो और नारी जाति को अपने धर्म मे दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नही होता, कर्म से ही सब होता है। हरिकेशी चांडाल के लिए, सद्दाल पुत्र कुम्भकार के लिये, चन्दनबाला (स्त्री) के लिए उन्होंने अध्यात्म साधना का रास्ता खोल दिया।

आदर्श समाज कैसा हो ? इस पर भी महावीर की दृष्टि रही। इसीलिये उन्होने व्यक्ति के जीवन मे व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। श्रावक के बारह व्रतों मे समाजवादी समाज रचना के अनिवार्य तत्व किसी न किसी रूप में समाविष्ट है। निरपराधी को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार संतोष के प्रकाश मे काम भावना पर नियंत्रण रखना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, व्यय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन मे समता, संयम तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना-इस व्रत-साधना का मूल भाव है। कहना न होगा कि इन साधना को अपने जीवन मे उतारने वाले व्यक्ति, जिस समाज के अंग होगे, वह समाज कितना आदर्श, प्रगतिशील और चरित्रनिष्ठ होगा। शक्ति और शील का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह सुन्दर सामंजस्य ही समाजवादी समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिये। महावीर की यह सामाजिक क्राति हिंसक न होकर अहिंसक है, संघर्षमूलक न होकर समन्वय-मूलक है।

आर्थिक क्रांतिः—

महावीर स्वय राजपुत्र थे। धन-सम्पदा और भौतिक वैभव की रंगीनियों से उनका प्रत्यक्ष संबंध था। इसीलिये वे अर्थ की उपयोगिता को और उसकी महत्ता को ठीक-ठीक समझ सके थे। उनका निश्चित मत था कि सच्चे जीवनानंद के लिये आवश्यकता से अधिक संग्रह उचित नहीं। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने पर दो समस्याएं उठ खडी होती है। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक संग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अग उस वस्तु विशेष से वंचित रहता है। फलस्वरूप समाज में दो वर्ग हो जाते हैं—एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न; और दोनो मे संघर्ष प्रारम्भ होता है। मार्क्स ने इसे वर्ग संघर्ष की संज्ञा दी है। और इसका हल हिंसक क्रान्ति मे ढूंढा है। पर महावीर ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए अपरिग्रह की विचारधारा रखी है। इसका सीधा अर्थ है-ममत्व को कम करना, अनावश्यक संग्रह न करना। अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि मे प्रवृत्ति को मर्यादित और आत्मा को परिष्कृत करना जरूरी है। श्रावक के बारह व्रतों मे इन सबकी भूमिकाएं निहित है। मार्क्स की आर्थिक क्रान्ति का मूल आधार भौतिक है, उसमे चेतना को नकारा गया है जबकि महावीर की यह आर्थिक क्रान्ति चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-बिन्दु कोई जड पदार्थ नही वरन् व्यक्ति स्वय है।

बौद्धिक क्राति —

महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्व अपने मे पूर्ण होते हुए भी वह कई अशो की अखण्ड समष्टि है। इसीलिये अशो को समझने के लिए अश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अशी का उसके सर्वाङ्ग सम्पूर्ण रूप मे नही समझ सकेगे। सामान्यत समाज मे जो झगडा या वाद विवाद होता है, वह दुराग्रह हठ वादिता और एक पक्ष पर अडे रहने से ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओ को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कही न कही सत्याश निकल आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देख कर, उसे चारो ओर से देख लिया जाय फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्याद्वाद या अनेकात दर्शन कहा। आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद इसी भूमिका पर खडा है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण निर्गुण के वाद विवाद को ज्ञान, और भक्ति के झगडे को सुलझाया गया। आचार मे अहिंसा की ओर विचार मे अनेकात की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी क्राति मूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

इन विभिन्न क्रातियो के मूल मे महावीर का वीर व्यक्तित्व ही सवत्र झाकता है। वे वीर ही नही, महावीर थे। इनकी महावीरता का स्वरूप आत्मगत अधिक था। उसमे दुष्ट से प्रतिकार या प्रतिशोध लेने की भावना नही वरन् दुष्ट के हृदय को परिवर्तित कर उसमे-मानवीय सद्गुणो-दया प्रेम ममता, करुणा आदि को प्रस्थापित करने की स्पृहा अधिक है। चण्डकौशिक के विष को अमृत बना देने मे यही मूल प्रवृत्ति रही है। महावीर ने ऐसा नही किया कि चण्डकौशिक को ही नष्ट कर दिया हो। उनकी वीरता मे शत्रु का दमन नही, शत्रु के दुर्भावो का दमन है। वे बुराई का बदला बुराई से नहीं बल्कि भलाई से देकर बुरे व्यक्ति को ही भला मनुष्य बना देना चाहते है। यही अहिंसक दृष्टि महावीर की क्राति की पृष्ठभूमि रही है।



"मनुष्य को पाप का आकर्षण शहद की तरह होता है, पर वह शहद ऐसा है तो तीक्ष्ण तलवार की धार के लिपटा हो किन्तु जो लोग पाप के परिणाम को देख लेने के बाद ही उसकी बुराई पर विश्वास करते है वे बहुत बडे धोखे मे है। पाप केवल इस लिये बुरा नही है कि उसका नतीजा बुरा है, वस्तुत वह स्वत ही बुरा है।"

— चैनसुखदास

भगवान महावीर और उनकी उपासना

"........लौकिक सुख की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति भगवान् महावीर का उपासक नहीं हो सकता। वह तो मात्र पंथ व्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुत: वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।...."

आज जब नये-नये चामत्कारिक तीर्थों का समाज में प्रादुर्भाव हो रहा है तथा वहां समाज का पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा है, लेखक जो कि सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवच .कार एवं विचारक है, की ये पंक्तियां अवश्य ही पाठकों को इस ओर सोचने, समझने और विचारने की ओर प्रेरित करेंगी ऐसी आशा है।

—सम्पादक



पं० हुकमचन्द शास्त्री
न्यायतीर्थ, एम० ए०,
टोडरमल स्मारक, जयपुर

जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है, वह भगवान (परमात्मा) कहलाता है। अरहत और सिद्ध ही ऐसे पद हैं अत उक्त पदो को प्राप्त पुरुप ही परमात्मा (भगवान) शब्द से अभिहित किये जाते हैं। अरहंतो में तीर्थंकर अरहंत और सामान्य अरहन्त ऐसे दो प्रकार के होते हैं। वर्तमान काल में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकरो मे अन्तिम तीर्थंकर अरहत भगवान् महावीर थे।

भगवान महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्ता धर्ता न होकर मात्र ज्ञाता दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) मे पर मे कर्तृत्व बुद्धि नहीं होती। जब तक पर मे फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी तब तक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नही कहा जा सकता है। वीतरागी परमात्मा का उपासक (भक्त) भी वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकाक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी भगवान महावीर का उपासक नहीं हो सकता। वह तो मात्र पंथ व्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगो का उपासक है।

भगवान का सच्चा स्वरूप न समझ पाने के कारण आज की उपासना

राग रामकली–ताल त्रिताल

चेतन तू तिहु काल अकेला ।
नदी नाव सजोग मिले ज्यो, त्यो कुटुम्ब का मेला ॥१॥
यह ससार असार रूप सब, ज्यो पट पेखन खेला ।
सुख सपति शरीर जल बुद-बुद, विनसत नाही वेला ॥२॥
मोह मगन आतम गुन भूलत, परी तोहि गल जेला ।
मैं मैं करत चहूँ गति डोलत, बोलत जैसे छेला ॥३॥
कहत बनारसि मिथ्या मति तज, होइ सुगुरु का चेला ।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ॥४॥

—महाकवि बनारसीदास

महावीर की भय-विषयक दृष्टि

> "संसार इसलिये दुःखमय है कि हर मनुष्य अपने-अपने घेरे में आबद्ध है। घेरा तोड़कर व्यापक बनाया जाय तो दुःख काफूर हो जाय। घेरे वाला ही तो कहता है, 'मुझे किसी और से क्या मतलब ?' ऐसी स्वकेन्द्रित वृत्ति ही दुःख की जड़ है। जो व्यक्ति अपनी ही अपनी सोचता है उससे सभी लोग मुँह मोड़ लेते है। जिसे कोई नहीं चाहता उसके लिये यह ससार दुःखमय ही होगा। लोगों के काम आना, उन्हें अपना मानना, हर हाल में खुश रहना सीखिये और फिर देखिये यह संसार सुखमय कैसे बन जाता है।........"



जमनालाल जैन
सारनाथ, वाराणसी

१—किं भया पाणा समाउसो ?

—श्रमणो, प्राणियो को भय किस बात का है।

भय जन्म-जात नही होता। वह आस-पास के वातावरण और आकाक्षाओ मे ही पैदा होता है। बालक निर्भय होता है। वह आग और पानी, सांप और रस्सी, जहर और अमृत को एक समझता है। उसका स्वभाव निश्छल और निर्द्वन्द्व होता है। उसके रोम-रोम से पवित्रता टपकती है। भय तो उनमे धीरे-धीरे पैदा होता रहता है।

बहादुर और शूरवीर भी भय के पुतले नजर आते है। बड़े-से-बड़े योद्धा भी डरपोक ही होते हैं। हथियारों का सहारा अपने बचाव के लिए ही लिया जाता है। दूसरों को डराने का साधन जुटाकर भीतर-ही-भीतर भय और भारी होता रहता है। हथियारो के बल को आदमी अपना ही बल समझने लगता है। वह नहीं समझता कि वह ताकतवर नही, कमजोर ही बनता जाता है।

भय-वृक्ष के अनगिनत डाल-पात है। आसक्ति और अभिमान उसकी जड़ें हैं। दो-चार नही, अनगिनत आसक्तियों मे मनुष्य बंधा है। इसी तरह अनेक प्रकार के अभिमानों को आदमी पाल-पोस कर हरियाता रहता है। आसक्ति और अभिमान की सुरक्षा के लिए नाना उपाय किए जाते है।

जो डरता है, वह डरायेगा भी। डरने-डराने वाला हिंसा और झूठ से नही बच सकता। डरपोक ही अपनी हत्या (आत्महत्या) करने पर उतारू होता है।

आग-पानी, आधी-तूफान या खतरनाक परिस्थितियो से घबराना भी है तो डर ही, फिर भी किसी हद तक यह डर सबमे होता है। यद्यपि इसमे भी आसक्ति और निर्बलता छिपी ही रहती है। लेकिन अनगिनत भय तो ऐसे हैं जिन्हे हम अपने आप पैदा करते हैं उनको लादे फिरते हैं। प्रतिज्ञा का डर, व्रत का डर, बात का डर और लाज-लाज का डर ऐसे ही हैं। और तो और मनुष्य ने ईश्वर का डर और कर्म-काण्डी धर्म का भी डर खडा कर लिया है। कहा जाता है कि घट घट मे साई रमता है पर शायद वहा भय ही होता है। जैसे कानून और पुलिस का भय वैसा ही है यह ईश्वर का भय। कानून और पुलिस के रहते हुए समाज की बुराइया नहीं मिटी और ईश्वर का नाम जपते हुए भी मन निर्भय नही बना। भय के पेड से अभय और आनन्द के फल की आशा रखना काटा बो कर आम पाने जसी बात है।

भय पैदा होता है—"नही" को "है" मानने से। अपने और अपने परिवार के भविष्य की चिन्ताएँ करके, कल्पनाएँ करके मनुष्य कुछ ऐसे आयोजन करता है कि वह औरो से भिन्न या दूर पडता जाता है। उसके कुछ स्वप्न होते हैं, आकाक्षाएँ होती है। उनकी पूर्ति के लिए वह ऐसे कर्म करता है जो उसे बराबर भयभीत बनाये रखते है। इस प्रकार के भयो से मुक्त होने के लिए तरह-तरह के देवी-देवता, स्वर्ग-नर्क खडे किए गये। लेकिन इनसे भी भय को पानी मिलता गया।

बच्चे निर्भय होकर खेलने-कूदते है, शोर-गुल करते है तो हम समझते हैं कि वे हमारी शाति मे बाधा डालते हैं और उन्हे चुप करने के लिए उनके सामने भय का भूत खडा कर देते है। वे उसकी कल्पना मे रस लेने लगते है। फिर तो वे हवा की सरसराहट और पत्तो की खडखडाहट से भी काप उठते हैं।

भय मे भारीपन है, बोझ है। अदृश्य मानसिक बोझ तो और भी भारी होता है। परिग्रह से परिग्रह की चिन्ता ही भारी होती है। सब प्रकार के भार से मुक्त होने मे ही निर्भयता है। निर्भयता ही प्रसन्नता है। मजबूत शरीर ताकतवर हो सकता है, लेकिन निर्भयता तो मनसा स्वस्थ व्यक्ति मे ही होगी। निर्द्वन्द्व निर्लेप, निर्मल और निरपेक्ष व्यक्ति ही निर्भय या "श्रमण" कहलाते हैं। श्रमणो के जीवन मे श्रम, शम और सम की सगति होती है। सबके प्रति समता रखकर अपने विकारो का शमन करते हुए श्रम की साधना करने वाले श्रमण कहलाते हैं। श्रमणो के विकार पसीने की धार के साथ बह जाते हैं। विकारो की दुनिया मे विचरण करने या उनको सीचने का समय ही उनके पास नही होता। वे अपने श्रम से ससार को सजाते सवारते और सुख बरसाते चलते हैं।

१–दुक्ख भया पाणा।
–दुख ही प्राणियो का भय है।
२–दुक्खे केण कडे ?
–दुख को कौन पैदा करता है ?
३–जीवेण कडे पमाएण।
–प्रमत्तावस्था मे स्वय जीव ही दुख पैदा करता है।
४–जम्म दुक्ख जरा दुक्ख
रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो
जत्थ किस्सति जतुणो॥

–जन्म दुख है, जरा दुख है, रोग और मृत्यु दुख है। इस दुखमय ससार मे समस्त प्राणी दुखाक्रात है।

समस्त प्राणियों की बात तो हम नहीं जानते, हाँ, मानव-प्राणी दुखों से परेशान है। कोई व्यक्ति नहीं दीखा, जो दुखी न हो। एक दुख मिटता है, दूसरा खड़ा हो जाता है। मनुष्य सुख पाने के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहता है और चाहता है कि दुख सदा के लिए उससे दूर हो जाय। लेकिन अनादि-काल के प्रयत्न के बावजूद सुख का कोई कण उसके हाथ नहीं पड़ा है। पड़ता भी है तो उसकी अनुभूति का स्पर्श नहीं कर पाता।

सुख-दुःख ऐसे एकरस हैं कि दोनों के बीच भेद-रेखा या सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों ऐसे घुले-मिले है, जैसे फूल में गन्ध, गन्ने में मिठास, दूध में सफेदी, आग मे उष्णता।

वस्तुतः सुख-दुःख मन की अवस्था ही है। हम मन लगती बात को सुख और मन न लगती बात को दुःख मानते हैं, लेकिन मनचाही बातें अक्सर होती नहीं। इसीलिए हम इस संसार को दुःख से भरा हुआ समझने लगते है। मन इतना चपल घोड़ा है कि बिजली से तेज गति से भागता है और निमिष मात्र मे ब्रह्माण्ड का चक्कर लगा लेता है। सुख तो हर कदम पर मौजूद है, पर यह मन कहीं रुके भी तो हम अपनी आकांक्षाओं, अभिलाषाओं के अधीन बनकर दुःख के पहाड़ अपने सामने खड़े कर लेते है। प्राप्त परिस्थिति मे रस और आनन्द लूटने की क्षमता और सामर्थ्य पैदा करली जाय, तो सुख ढूँढ़ने कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है।

एक-दो मिनट के लिये भी अगर मानसिक अवस्था का, गति का निरीक्षण किया जाय, तो देख सकते हैं कि हम सुख के लिए दुःख को किस तरह निमन्त्रित करते रहते हैं। तोता नलिनि पर उलटा लटककर अपने आप ही यह समझ लेता है कि नलिनि ने उसे कस लिया है। वह सामर्थ्य ही नहीं पाता कि पैरों को थोड़ा सरकावे। सबकी यही स्थिति है। भीतर के सुख-सागर की अनुभूति से बेखबर होकर मृगमरीचिका मे भटकते रहते हैं।

दुःखानुभूति ही सुख का बीज है। सीमा से बाहर जाकर न सुख सुख रह जाता है और न दुःख दुःख। यों कहिये कि दुःख की अतिशयता ही सुख है और सुख की अतिशयता ही दुख है। हर प्राणी की प्रवृत्ति और रुचि, अभिलाषा और अभिव्यक्ति भिन्न होती है। एक की सुखानुभूति दूसरे के लिए दुखानुभूति बन जाती है। हलुवा मीठा होता है, पर ठूंस-ठूंस कर खाने पर कड़ुवा हो ही जायगा। भूख की अनुभूति में ही खाने का सुख है। प्रसूति की पीडा मे ही शिशु के जन्म का सुख।

"दुःख प्रमाद का पुत्र है। जीव प्रमाद से ही दुःख पैदा करता है। प्रमाद यानि आलस। आलसी मन हार और भार का अनुभव करता है। आलसी मन होता ही मरा हुआ है। मरे मन से किये गये काम में सुख कहा? गफलत, असावधानी भी प्रमाद ही है। श्रमी व्यक्ति सुस्त और असावधान होता ही नहीं। सुस्ती और असावधानी पूर्वक किया गया हर काम दुःखदायी होता है।

दैहिक दुःखों का भी बहुत कुछ कारण मानसिक असंतुलन ही होता है। बीमारी–चोट–सर्दी-गर्मी का कष्ट, भूख–प्यास, घर–गृहस्थी की आवश्यकताओं आदि की समस्या किसी न किसी रूप मे हल होती ही रहती है। शरीर के साथ रहकर इन कष्टों को, परेशानियों को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। वे तो आती हैं उठती है और मिटती रहती हैं। सांस के अखण्ड प्रवाह की तरह ये परेशानियां सदा संग लगी रहती हैं। इनको असल मे सुख–दुःख नहीं कहा जा सकता। वाणी का दुःख कम बोलकर, मौन रखकर या मीठा बोलकर दूर किया जा सकता है। एक कवि ने कहा है कि भले ही किसी को मोटी रोटी की मार मारिये, पर मोटे बोल कदापि न मारिये। वचन का घाव तलवार के तीर से अधिक चिरंगा होता है। वचन का दर्द, तन के दर्द से हजारों गुना भारी होता है और मन

भर मे मित्रता शत्रुता हो रहती है। तन और वचन पर मन का काबू है। हमारी हर क्रिया मे मन का हाथ है। मन के मते चलकर ही जीभ हलचल करती रहती है। अगर मन को वश मे किया जा सके, तो दैहिक या वचनगत दु खो को भुलाना या दूर करना कठिन नही होता। दु खो की जड मे मन का हाथ होता है।

दु ख के लिये एक शब्द है—वेदना। दर्शन-शास्त्र का एक शब्द है वेदनीय। वेदना शब्द विद्" धातु से बना है। इसका अर्थ है जानना। वेदना यानि जानकारी। यह जानकारी दो तरह की होती है। साता वेदना और असाता वेदना। साता यानि मन-लगती, सुखद, और असाता यानि मन न लगती, दु खद। आकुलता ही दु ख है। जिस बात स मन अप्रसन्न हो, अस्वस्थ हो, परेशान हो वही दु ख है। बडे-से-बडे सकट मे भी हमारा मन प्रसन्न रह सकता है। इसका अनुभव अनेकबार होता भी है। दु ख सकट मे विपत्ति मे नही हैं। जब हम समाज-सेवा कर रहे होते हैं मेहनत कर रहे होते हैं, कल्याण-मार्ग पर चल रहे होते हैं, तब लोगो की दृष्टि मे हम पर जो दु ख छाया रहता है वह हम दु ख प्रतीत ही नही होता।

जन्म बुढापे और मृत्यु को दु ख इसीलिये कहा गया है कि हम तन-मन-वचन के वशीभूत हैं। किसी भी समय सुख नही मिलता। अगर मनुष्य मन और तन से ऊपर उठकर बिना प्रमाद के समाज की भलाई मे जुट जाय तो न जन्म दु खदाई होगा, न बुढापा और न मृत्यु।

जन्म और मृत्यु तो बडे अच्छे मित्र हैं। ससार मे शरीर सहित ही रहना है। आत्मानुभूति के क्षणो मे हम तन-मन की वेदना से ऊपर उठकर परम-सुख का रसास्वादन कर सकते ह। ऐसी स्थिति कभी-कभी होती भी है। बालक इस स्थिति मे अनेकबार पहुचते हैं। जन्म और मृत्यु को दु ख मानकर वे ही जीते हैं, जिनका जीवन-रस सूख गया होता है।

कहा जाता है कि मौत को मत भूलो। वह सदा सिर पर मडराती रहती है। मौत होगी ही, इसलिये सतत सतर्क रहना चाहिये, सग्रह नही करना चाहिये और जीवन ऐसा बिताना चाहिये, कि मानो हम ससार मे ह ही नही। "एक दिन अवश्य मरना है, लेकिन उस दिन या उस क्षण की भविष्यवाणी कौन सुन पाता है? हम जीने के लिये ही पैदा हुए ह और जिन्दगी तो बहुत लम्बी है। एक व्यक्ति की जिन्दगी जो कि सौ-पचास वर्ष की होती है, समाज से जुडी होती है और समाज की जिन्दगी हजारो-लाखो वर्षों की है, भूत और भविष्य से जुडी है हर क्षण उसका विकास हो रहा है, उसमे नई-नई कोपलें फूट रही हैं। ऐसी स्थिति मे चल रही जिन्दगी को सुखद और सुन्दर बनाना ही फर्ज हो जाता है। मौत की याद करके घबरा कर ही मृत्यु का दु ख है। वह जब आयेगी, आ जायेगी।

यही हाल बुढापे का है। बुढापा भी एक स्थिति ही है। बुढापे का उम्र से कोई रिश्ता नही है। निराश और हारे लोग ही बूढे हैं। जो व्यक्ति नित नवीन प्रेरणा ग्रहण करता है और कर्मयोगी है उसके दर्शन मात्र से प्रसन्नता होती है। कर्मठ व्यक्ति के रोम-रोम मे भलाई की आभा चमकती है, उसे कौन बूढा कहेगा। गाधीजी को कौन बूढ़ा कहेगा। पारसनाथ सौ वर्ष के थे, उन्हे कोई बूढा कह सकता है? महावीर बुद्ध, राम कृष्ण को कहा बूढा चित्रित किया जाता है। आदि तीर्थकर ऋषभदेव की उम्र तो पुराणो के अनुसार बहुत-बहुत लबी थी, पर क्या वे बूढे थे? और आज रोज पद-यात्रा करने वाले विनोबा को भी कौन बूढा कहेगा? जो गुलाम है, वह बूढा है। जो रूढियो से चिपका है वह बूढा है। इसी बुढापे को दु खमय कहा गया है।

चिपकाव ही बुढ़ापा है। निराशा ही बुढ़ापा है। अतीत का चिन्तन ही बुढ़ापा है। निराशा ही बुढ़ापा है। भविष्य की चिन्ता ही बुढ़ापा है।

संसार इसलिये दुखःमय है कि हर मनुष्य अपने-अपने घेरे में आवद्ध है। घेरा तोड़कर व्यापक वन जाय तो दुःख काफूर हो जाय। घेरे वाला ही तो कहता है, "मुझे किसी और से क्या मतलव है ?" ऐसी स्वकेन्द्रित वृत्ति ही दुःख की जड है। जो व्यक्ति अपनी ही अपनी सोचता है, उससे सभी लोग मुंह मोड लेते है। जिसे कोई नहीं चाहता, उसके लिए यह संसार दुःखमय ही होगा। लोगो के काम आना, उन्हें अपना मानना, हर हाल में खुश रहना सीखिये और फिर देखिये यह संसार सुखमय कैसे वन जाता है।

जव तक सासा, तव तक आसा। यह शरीर एक चलती-फिरती, वोलती-चालती मशीन है। इसी के द्वारा आत्मा का भान होता है। इस नाते शरीर की रक्षा भी जरूरी है। आत्म-विश्लेषण मे निपुण लोग शरीर को गदगी और विकारों का आगार वतलाते है, इसकी उपेक्षा करते है। लेकिन यह वात एक सीमा तक ही उपयोगी है। शरीर-रचना है ही इस प्रकार की कि शरीर को हेय समझने की जरूरत नही है। शरीर रहित कोई रह ही नही सकता। आत्मा अगर आध्यात्मिक है तो शरीर भी अनाध्यात्मिक नही है। शरीर ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखा सकता है, जिससे आत्मा वेहद ऊंची उठ जाय। वस, वात इतनी ही है कि मन की लगाम हाथ में रहे। शरीर पर कावू आ जाय तो यह वेहद उपयोगी वन जाता है। शरीर पर कावू मन से ही आता है और मन के कावू में आते ही मौत इतनी आसान और सुखद हो जाती है कि वह सताती नही। जो दु.ख एक तक ही सीमित होता है, वह वेहद शूलता है। जिसे अनेक वाट लेते है, वह सुख देने लगता है।

इस जीवन की दौड़ में ही हमें स्वर्ग-नर्क और पशु गति का अनुभव होता रहता है। समाज का प्रमाण-पत्र हमारे साथ प्रतिपल रहता है। अन्तरात्मा भी हमे हर समय निरीक्षण का शीशा दिखाती रहती है, जिससे पता चल जाता है कि हम किसी समय किस योनि का काम कर रहे होते है। जीवन और जगत को हम अपनी वृत्तियों तथा कृतियों से दु.खदायी या भाररूप वना लेते है। भार मुक्त होने के लिये फर्ज यही है कि हम जीवन को अमूल्य समझें और अपने को पहचानकर, सुख-दुःख ऊपर उठकर संसार को अपने व्यवहार से, विचार से और कृति से "सत्य शिवं सुन्दरं" वनाने का उपक्रम करें।



"पशु वल के सामने हरगिज़ नहीं झुकना चाहिये और मौत से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि आत्मवल दुनिया की किसी भी ताकत से वहुत वड़ा है।"

—महात्मा गांधी

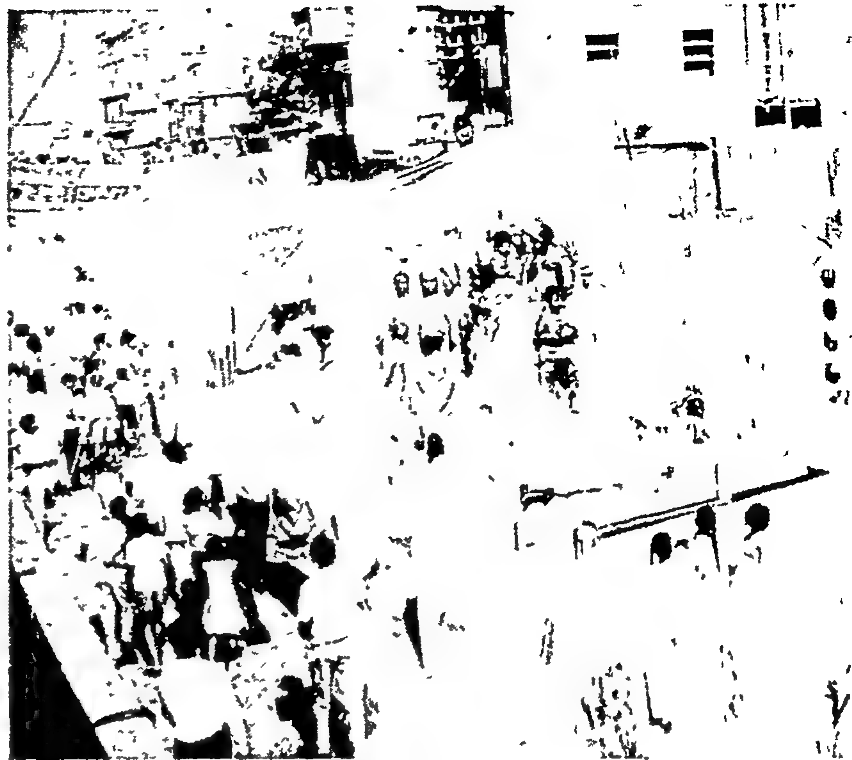
हम
महावीर के अनुयायी

पदमचन्द साह
एम० ए०

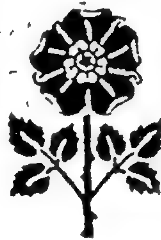
हम,
महावीर के अनुयायी
अहिंसा के प्रबुद्ध साधक
कर्म के अस्तित्व को
स्वीकारने वाले--
जीवो और जीने दो
के पोस्टर लिए
आत्म कल्याण और
आत्मानुभूति का
श्रवण, वाचन व मनन
अपना कर्त्तव्य
समझते रहे—
स्वाध्याय, साधना के
अगाध सागर की
उत्ताल तरंगो के
थपेडो मे अपने
अस्तित्व का
निरूपण किया हमने--
लेकिन आज
महावीर का अनुयायी
खो बैठा है
अपने अस्तित्व को
कर्म और आत्मानुभूति
के चक्कर मे न फँस
वह फँस गया है
भौतिकता के ऐसे
चक्रव्यूह मे,
जिससे उसका
निकल पाना
या, फिर
अपनी मान्यताओ के
प्रति
आश्वस्त होना
मुश्किल नही
तो कठिन
अवश्य
प्रतीत होता है ।

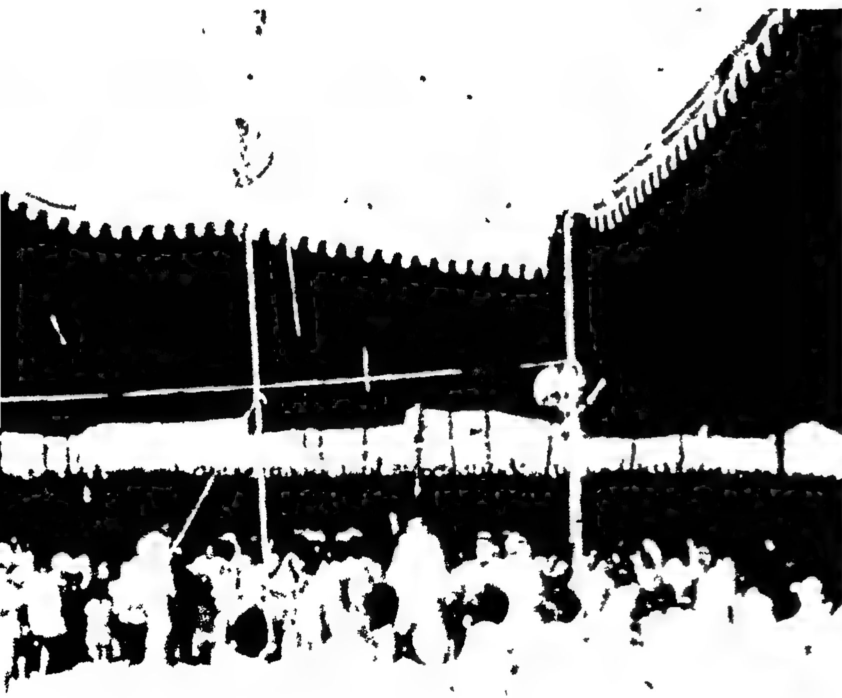
महावीर जयन्ती

१९६९



जयन्ती जुलूस में झांकी प्रदर्शन





राज्य के सामान्य प्रशासक उप-मंत्री, श्री प्रद्युम्न सिंह ध्वजारोहण करते हुए

भगवान महावीर और उनकी दिव्य देशना

मूलचन्द पाटनी
बम्बई

> "·····राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओं के बीच रहते हुए भी भगवान् महावीर ने जन्म से ही अन्तर में स्वानुभूति के मुकट से सुशोभित रहने के कारण मन की अन्त हीन गली में स्वयं को नहीं खोया। वे निरन्तर आत्महित में चिन्तनशील रहते थे। उन्हें न राज्य पद की लिप्सा थी और न राज्य वैभव की। लोकोत्तर सुविधाओं की ओर उनका जरा भी आकर्षण नहीं था।·······"



भारत की पुण्य भूमि पर समय-समय पर ऐसी अलौकिक विभूतियां अवतीर्ण होती रही है जिनकी दिव्य देशना उनके निर्वाण के बाद आज भी अज्ञान-अंधकार मे भटकती मानवात्माओं को प्रकाश दे रही है। ऐसी ही एक अनुपम विभूति आज से २५६८ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की पुण्य वेला में बिहार प्रांत के कुण्ड ग्राम मे राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला को पुत्र-रत्न के रूप मे प्राप्त हुई थी। उस विभूति का नाम था भगवान महावीर, जिनकी जन्म कुण्डली में जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर होने का महान् योग था। कहते हैं—उनका जन्म महोत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से उतर कर देवता भी कुण्डग्राम आए थे। सचमुच उस समय का आनंद वर्णनातीत था।

जन्म के बाद राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओं के बीच भगवान् महावीर का लालन पालन हुआ। बाल्यावस्था गई। यौवनावस्था आई। उनमें राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओं के बीच रहते हुए भी भगवान महावीर ने जन्म से ही अंतर में स्वानुभूति के मुकुट से सुशोभित रहने के कारण मन की अंतहीन गली में स्वयं को नहीं खोया। वे निरंतर आत्महित में चिंतनशील रहते थे। उन्हें न राज्य पद की लिप्सा थी और न राज्य वैभव की भूख। लोकोत्तर सुविधाओं की ओर उनका जरा भी आकर्षण नहीं था।

वास्तव मे भगवान महावीर को परमात्म पद पा लेने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा नही थी। ऐसी स्थिति मे पिता की छत्र छाया और माता का असीम प्यार भी उन्हे नही भाता था।

भगवान महावीर ने अनुभव किया कि गृहस्थ जीवन मे अपनी अन्तअभिलाषा कभी पूर्ण नहीं हो सकती अत वे श्रमण जीवन को अपनाने के हेतु कटिबद्ध हो गए। वे अपनी ३० वर्ष की आयु मे अपने माता और पिता को विरह की असीम पीडा मे छोडते हुए परिग्रह एव वस्त्राभूषण त्याग कर निग्रथ—दिगबर बन गए।

भगवान महावीर ने एकात निर्जन वन मे १२ वर्ष तक अक्षुण्ण मौनावलवन के साथ दुर्धर तप किया जिससे उन्होने अपनी आत्मा की सपूर्ण कालिमाओ को धोकर केवल ज्ञान प्राप्त किया। उनसे धर्म तीर्थ को प्रवर्त्तन हुआ। फलत वे तीर्थकर एव विश्ववद्य बन गए।

तत्पश्चात् भगवान महावीर ने ३० वर्ष तक निरीह भाव से अज्ञान-अन्धकार पूर्ण मन की अन्त हीन गदी गली मे भटक रही आत्माओं के हितार्थ दिव्य देशना दी जो प्रतिदिन ४ बार होती थी। अगणित श्रोता उसमे लाभान्वित होते थे। देशना-स्थल (समव शरण) सबके लिए बिना भेद भाव खुला था। भगवान की देशना का सक्षेप शास्त्रो के आधार पर इस प्रकार है —

यह निश्चित तथ्य है कि अज्ञान अन्धकार मे मन आत्म भूमि पर नाना विकृतिया का सचय करता है जिससे आत्मा का परमात्म पद तिरोहित है। पद को पाने की दिशा मे मन पर विजय पाने का उपाय भगवान् बताते है—

जह जह विसयेसु रई,
पसमई पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तह तह मणस्स पसरो,
भज्जई आलेवणा रहिओ॥

मन का आधार विषयो मे रति है। जब तक मन विषयो मे रत रहता है तब तक उसे वश मे नही किया जा सकता। और तो क्या? वहा वह और भी अधिक चचल हो जाता है। किन्तु अब सम्यक् ज्ञान का आलेवन हो जाता है, विषयो से रति स्वत हट जाती है। यही मन के प्रसार को नष्ट करने का अमोघ उपाय है।

भगवान् एक और उपाय बताते हैं —

यथोत्पाताक्षम पक्षी लून पक्ष प्रजायते।
राग द्वेष च्छदच्छेदे स्वातत्र्य रथस्तथा॥

जिस प्रकार कटी हुई पाखो का पक्षी उडने मे असमर्थ होता है। उसी प्रकार मन रूपी पक्षी राग और द्वेष रूपी पाखो के कट जाने पर विकल्प रूप भटकन से रहित हो जाता है।

विषयो से विरक्ति के बाद मन क्या करता है इसके सबध मे भगवान् कहते हैं —

विसयालेवण रहिओ णाण
सहावेण भाविओ सतो।
कीलई अप्प सहावे तक्काले
मोक्खसुक्खे सो॥

जिस समय मन विषयो के आलेबन से मुक्त हो जाता है और उसमे सम्यक् ज्ञान की भावना हो निकलती है उस समय वह आत्मस्वरूप मुक्ति सुख (अतीन्द्रिय सुख) मे क्रीडा करने लगता है।

मन विश्वसनीय नही अत मन को एक विशाल वृक्ष की उपमा देते हुए उसे समूल काट डालने के लिए भगवान् शिक्षा देते है —

णिल्लरह मणवच्छो,
खडह साहाउ राय दोषा जे।
अहलो करेई पच्छा
मा सिचह मोह सलिलेण॥

इस मन रूपी विशाल वृक्ष को समूल काट डालो । राग और द्वेष रूपी दोनों शाखाओं को खण्ड २ कर डालो । फल रहित कर दो । फिर यह मेरा मैं इसका इस व्यामोह रूपी जल से सींचना बंद कर दो । ताकि वह पुनः कहीं से भी पल्लवित न हो सके ।

क्योंकि—

णट्ठे मण वावारे विसयेसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हु ति ।

मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर कोई भी इंद्रियां विषयो मे प्रवृत्त नही होतीं । वृक्ष को मूलतः छिन्न-भिन्न कर देने पर पुनः उसमे पत्ते कहां से आ सकते है ?

मन द्वारा सचित आत्म तल की कालिमाओं से आत्मा को स्वच्छ कैसे किया जा सकता है ? उसके उपाय स्वरूप तप को भी महत्व पूर्ण स्थान देते हुए भगवान कहते हैं :—

जाव ण तवग्गितत्तं गदेह मूसाई णाण पवणेण।
ताव ण चत्त कलंक जीव सुवण्ण खु णिव्वडई ॥

जब तक शरीर रूपी मूषा में सम्यक् ज्ञान रूपी पवन के द्वारा यह जीव रूपी सुवर्ण तप रूपी अग्नि से नही तपाया जाता तब तक आत्मा रूपी कलंको से रहित ज्वा जल्य मान नही होता ।

आत्म साधक के लिए भगवान् एक सेवनीय अनुपम सिद्धांत प्रतिपादन करते हैं :—

यः परात्मा स एवाहं ? योऽहं स परमस्तत. ।
अहमेव मयो पास्यो नान्य कश्चिदिति स्थितिः ॥

जो परमात्मा है वही मैं हूँ । जो मैं हूँ वही परमात्मा है । अतः मैं ही (आत्मा) अपने द्वारा उपासनीय हूँ । अन्य कोई नहीं ।

आत्म साधक के लिए भगवान् आत्म ज्ञान की महत्ता बताते हैः—

जो ण वि बुज्झई अप्पा,
णेय परं णिच्छयं समासिज्ज ।
तस्स ण वोही न भणिया,
सुसमाही राहणा णेय ।

जो आत्मा स्वयं को नहीं जानता और न आत्म ज्ञान पूर्वक पर को जानता है वह अज्ञानी है और अज्ञानी को न तो बोधि, न समाधि और न आराधना होती है ।

इस प्रकार देशना देते हुए भगवान् ७२ वर्ष की आयु मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या को पावा से निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो गए ।



"स्वर्ग का सही महत्त्व तभी आंका जा सकता है जब पन्द्रह मिनट नरक में बिताये जायें ।"

—विल कार्लेटन

भजन

हे वीर ! तू ससार का अभिमान वन गया,
जिसने लिया उपदेश, वो इन्सान वन गया ।।

वहती थी नदी खून की मजहब के नाम पर,
उस वक्त तू दुनियां पर मिहरवान वन गया ।।

दुनियां को रिहा कर दिया हिंसा के पाप से,
सुख चैन का पथ लोगो को आसान वन गया ।।

वजने लगी सत्य और अहिंसा की दुन्दुभी,
सुन कर जिसे सारा जहा बलवान वन गया ।।

हर दिल मे पनपने लगे जव प्रेम के पौधे,
तो उजडा हुआ चमन फिर गुलिस्तान वन गया ।

उपदेश तेरा आज भी दुनियां मे समाया,
'भगवत' तू ज्ञानवानो का है प्रान वन गया ।।

भगवान महावीर के शासन में वर्ण-जाति नहीं, आचरण प्रधान है !

भगवान महावीर ने कभी भी जन्मजात श्रेष्ठता को महत्त्व नहीं दिया। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार श्रेष्ठत्व का मापदण्ड मानव का आचार है। जिसका आचार मानवोचित है, जिसकी आत्मा में धर्म उतरा है वह किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो मानवों से ही नहीं देवताओं तक से पूज्य है। विद्वान् लेखक ने पुष्ट प्रमाणों द्वारा इस तथ्य की असंदिग्ध स्थापना की है। पुराण साहित्य में इसकी पुष्टि करने वाले सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। खेद है कि महावीर की जय से दिगन्त को गुंजा देनेवाले हम जैनों ने ही इस ओर से अपनी आंखें बन्द करली हैं।

—सम्पादक



पं० परमेष्ठीदास जैन
न्यायतीर्थ,
सम्पादक 'वीर', ललितपुर

भगवान महावीर के शासन की अनगिनत विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि जैन धर्म किसी भी वर्ण, जाति या कुल को इस लिये ऊंच-नीच नहीं मानता कि वह परम्परा से ऊंच-नीच कहा जाता है, प्रत्युत आचार-व्यवहार को ही ऊंचता-नीचता का मापक मानता है। मास-मज्जा युक्त और चर्मावृत शरीर तो स्वभावतः ही अशुचि है, इसलिये किसी तथा-कथित उच्च जाति मे उत्पन्न होने से वह उच्च या पवित्र नही हो सकता क्यों कि —

चाण्डालोऽपि व्रतोपेतः पूजितः देवतादिभिः।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥

अर्थात्—व्रताचरणयुक्त होने से यमपाल चाण्डाल की पूजा देवों ने भी की थी, अतः किसी ब्राह्मण आदि को अपनी जाति के बड़प्पन का गर्व नही करना चाहिये।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये अमितगति आचार्य ने कहा है—

शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजाति भवा अपि।
कुलीनाः नरकं प्राप्ताः शीलसंयम नाशिनः ॥

भगवान महावीर के शासन में कोई भी उच्चजाति या बड़े वंश में उत्पन्न होने से ही बड़ा नहीं माना जाता किन्तु—

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती मता॥

अर्थात् जिस जाति में संयम, नियम, शील, तप, दान, दम, दया आदि गुण यथार्थरूप में पाये जायें वही जाति बड़ी है।

हमारे देश में आज जो धर्मनिरपेक्षता की ओर जाति का महत्व नहीं देने की हवा चल रही है यह भी पुरातन युग की ही भांति केवल रूढ़ि बन कर रह गई है। यदि हम जैन लोग अपने मन में सुसंगठित होकर भगवान महावीर के उदात्त उदार सिद्धान्तों का प्रचार करें तो सचमुच ही वर्तमान युग जैन धर्म के विकास, प्रचार और प्रसार के लिये सर्वोत्तम सुअवसर है।



"जो मनुष्य त्याग करके दु:खी होता है, उसने त्याग किया ही नहीं है। सच्चा त्याग सुखद होता है, मनुष्य को ऊँचा ले जाता है।"

—बापू

महावीर जयन्ती
स्मारिका
१९६९



महावीर जयन्ती स्मारिका के प्रधान सम्पादक, श्री भंवरलाल पोल्याका स्मारिका की प्रति श्री प्रद्युम्नसिंह को भेंट करते हुए

सभा के उप-सभापति श्री हुकुमचन्द सेठी सार्वजनिक सभा के अध्यक्ष श्री भागचन्द सोनी का स्वागत करते हुए।



श्री प्रकाशचन्द पाटनी आम सभा को सम्बोधित कर रहे हैं।



"भगवान महावीर ने कहा—

'मेरा धर्म तो जिन धर्म है, ऐसा धर्म जो मानव को उसकी कमजोरियों पर विजयी बनाता है। उसे प्रबुद्ध करता है।

स्पष्ट है यह धर्म मानव के प्राचीनतम धर्मों में से एक है जिसका संस्थापक कोई नही, जो आत्मा से उद्भूत है और आत्मा ही का उपकारक है, जो प्राचीनतम होते हुए भी आधुनिकतम है। यदि बंध की समस्या सार्वकालिक है तो मुक्ति के उपाय भी शाश्वत हैं।"

पंथ हैं अनेक लक्ष्य एक है



प्रवीणचन्द्र जैन
प्राचार्य
[illegible] विद्यापीठ ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय
[illegible]

भगवान महावीर की जयन्ती का पर्व हो, उस पर्व की स्मारिका निकाली जाय, उस स्मारिका के लिए लेख लिखना हो, लिखने वाला व्यक्ति संसारी हो, संसारी व्यक्ति मुक्त के विषय मे क्या लिखे, पर लिखना तो उसे है, क्योंकि वह वचन बद्ध हो चुका है, यह एक समस्या थी जो लगभग दो महीने से मेरे मन मे एक बड़े प्रश्न के रूप में उपस्थित थी। आज के जीवन मे महावीर स्वामी की या उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा धर्म के विचार की उपयोगिता भी है या नहीं इस बात से यह प्रश्न जुड़ गया तो वह और भी बड़ा हो गया। मैंने सोचा आज के असंतुष्ट, अर्थपरायण और अर्थ के लिए अन्धा होकर बेतहाशा दौड़ मे लगे हुए मानव के लिए यदि भगवान महावीर जैसे किसी महात्मा की आवश्यकता न हो तो क्या हिंसा और उससे पैदा हुई समस्त क्रूरता के प्रचारक किसी दुरात्मा की आवश्यकता होगी? अहिंसा और प्रेम के सन्देश के स्थान पर क्या उसे हिंसा और द्वेष का आदेश ही मान्य होगा? क्या वह साहस के साथ कह सकेगा कि मानव को आज हिंसा और आनन्द की ही आवश्यकता है? प्रश्न एक ही है, पर उसके पहलू अनेक हैं। इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्तर और क्षमता के अनुसार दे।

भगवान महावीर संसार के उन महापुरुषों में से एक हैं जिन्होंने धर्म

यह नही कहा कि जो बात वे कह रहे है वह केवल उन्ही की है, उन्होंने तो उन शाश्वत जीवन-मूल्यो की देशना की जो मानव को महा मानव और परम मानव बनाते आये है, आज को मवन बनाते आए हैं आत्मा को परमात्मा बनाते आये हैं। जिस मानव धर्म पर उन्होंने बल दिया वह उनसे पूर्व के उन महात्माओं, ऋषियों महर्षियों अथवा तीर्थंकरो के द्वारा प्ररूपित है जो मानव को, अधिभूत म परिस्थित आत्मा को, पतन में गड्ढे से बचाते या निकालते आये हैं। उन बातो की उन्होंने चर्चा की जिनमें आध्यात्मिक समत्व की प्रतिष्ठा होती है, हीनता की भावना हटकर आत्म विश्वास बढता है। उन्होंने कहा मेरा धम तो जिन धम है, ऐसा धम जो मानव को उसकी कमजोरियो पर विजयी बनाता है, उसे प्रबुद्ध करता है। स्पष्ट है, यह धम मानव के प्राचीनतम धर्मो मे से एक है जिसका सस्थापक कोई नही, जो आत्मा से उद्भूत है और आत्मा ही का उपकारक है, जो प्राचीनतम होते हुए भी आधुनिकतम है। यदि बध की समस्या सार्वकालिक है तो मुक्ति के उपाय भी शाश्वत हैं।

जिस समय भगवान महावीर एक क्षत्रिय राजकुमार के रूप मे पैदा हुए वह समय भारत मे ही नही, समस्त विश्व मे धार्मिक क्रान्ति का युग था। धर्म के सूय पर जो अधर्म का तामिस्र मेघपटल छाया हुआ था उसे दूर करने का युग था। विषमताओ के रहते हुए भी समता का अनुभव कैसे हो सकता है यह बताने का युग था। यह ध्यान देने की बात है कि जिन्होने यह काम किया वे भौतिक परिवेशो और उनके प्रभावो से मुक्त ही महामानव थे। इन सभी लोगो ने देश, काल और पात्र के अनुसार अपना काय किया। भारत मे ही कई ऋषियो और आचार्यों ने ब्राह्मणों मे जहा कमकाण्ड और विधि विधानो की आवश्यकता पर बल ही नही दिया, उनका विशाल रूप भी प्रस्तुत कर दिया, वहा आरण्यको और उपनिषदो मे उन्होने शुद्ध आध्यात्मिकता की भी आवश्यकता बतायी, त्रिगुणातीत ब्रह्म की अनुभूति की साधना के माग बताये। इसी समय भगवान बुद्ध ने भी मानवता को करुणा का सन्देश दिया। जन साधारण को आध्यात्मिकता की ओर लाने के लिए महाकाव्यो और पुराणों की रचना का महारम्भ हुआ। भारत के पडौसी देश पारस मे महात्मा जरथुस्थ ने मानव के मानस को आध्यात्मिकता की ओर मोडा तो दूसरे पडौसी देश जापान मे शिन्तोधम का नवीन सस्करण प्रकट हुआ। चीन मे ताव धम का जो मध्यम मार्गी रूप व्याप्त हुआ उसे महात्मा कन्फ्यूशस ने क्रमबद्ध करके सब ग्राह्य बनाया। यूनान, मिस्र और इजराइल की भूमि मे हजरत मूसा ने यूदा धम का प्रचार किया। आत्मा को परमात्मा का दर्शन या बोध कराया। इसी धम से आगे चलकर दो बडे धम निकले जो आज विश्व भर मे फैले हुए हैं—एक ईसाइयत और दूसरा इसलाम। दोनो मे आत्मा और परमात्मा दोनो की प्रतिष्ठा है। इसी युग मे बौद्ध धम भारत के बाहर उत्तर, पूव, दक्षिण और पश्चिम मे फैला।

इस युग के क्रान्तिकारी महात्माओ ने, जसा ऊपर कहा गया है, विश्व भर मे मानवीय गुणो के या जीवन-मूल्यो के प्रति आस्था उत्पन्न करने मे अपनी समस्त शक्ति लगायी, अज्ञान का अधकार हटा कर ज्ञान का प्रकाश फैलाया। यदि उन्नीसवी शती को औद्योगिक क्रान्ति का युग कह सकते हैं तो इस युग को आध्यात्मिक क्रान्ति का युग कह सकते हैं।

भगवान् महावीर भी इसी क्रान्तिकारी आध्यात्मिक युग के प्रमुख क्रान्तिकारियो मे से एक थे। आज मैं इन्हे दूसरे महामानवो से अलग करके नही देखना चाहता, दूसरो के साथ ही देखना पसन्द करूगा।

इन महा मानवो द्वारा प्रस्थापित या विस्तारित धर्मों के अध्ययन और चिन्तन तथा उसके बाद

आचरण से ही उस क्रान्ति का रहस्य समझ मे आ सकता है जो उनके द्वारा हुई। हम यहां उन विशिष्ट बातों का उल्लेख नही करेंगे जो एक धर्म को दूसरे से अलग करती है, बल्कि उन सामान्य बातो की चर्चा करेंगे जो एक को दूसरे से मिलाती हैं।

परिस्थितियां सब स्थानो पर अलग अलग थीं, पर एक बात सब जगह थी, वह यह कि साधारण जन अपने आत्मभाव को भूले हुए था, कुछ डरा या सहमा सा हुआ था। जीवन के प्रति उपेक्षा या निराशा का भाव उसके मन पर छाया हुआ था, वह पतन के गहरे गर्त मे पड़ा हुआ था। वैसे आत्मा का पतन या नाश तो होता नही, फिर भी नाश और पतन की बात व्यवहार में अवश्य आती है। किसी भी कारण से सही, आत्मा ज्ञान के प्रकाश से विमुख होकर जब अज्ञान के अंधेरे में फस जाती है तो उसे पतित या नष्ट कहा जाता है। इन महात्माओ ने सब से पहला और सब से बड़ा काम यही किया कि मानवो को ज्ञान–मार्ग मे प्रवृत्त करके उन्हें निराश दशा से हटाकर आशावान् बनाया। किसी ने कहा, तुम कौन हो ? पहचानो तो। किसी ने कहा, मेरी ओर देखो तो मैं वही हूँ जो तुम हो। किसी ने कहा, हम मे बड़ा और छोटा कोई नहीं है, सब एक हैं। किसी ने कहा, देखो तुम वह नही हो जो समझते हो, तुम तो अजर, अमर और अविनाशी हो। किसी ने कहा तुम अपने आप से पूछो; 'मैं कौन हूँ ?'' इस प्रकार उन्होंने मानव के मन मे जानने की इच्छा (जिज्ञासा) उत्पन्न की। जब जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है तो मार्ग दिखायी देता है, अवरोध क्षणिक या काल्पनिक प्रतीत होते है, तब उन्हे हटाना या उन पर विजय पाना सरल होता जाता है। भारतीय दर्शनों मे जिज्ञासा पर बड़ा बल दिया है, जैन दर्शन में सम्यक्त्व के लिए जिज्ञासा को प्रथम सोपान कहा है। विदेशी धर्मों ने भी इसे तत्व की खोज के लिए अलग अलग भाषा में आधार भूत इच्छा कहा है। तो, एक काम जो उन्होने किया वह है अपने आपको अशक्त समझने वाले मानव को अपनी सर्वथा शक्तता का बोध दिया।

'तुम कौन हो ?' इस सम्बोधक प्रश्न से 'मैं कौन हूँ ?' यह अनुभूति की ओर ले जाने वाला प्रश्न उदित हुआ। मन मे अपने आप ही यह विचार आया, मै शरीर तो हो नहीं सकता। तब क्या हूँ, कुछ हूं तो अवश्य। ऐसा कुछ जो अधिभूत नही है, भौतिकता पर आश्रित नही है। ज्ञानियों ने इसे आत्मा यह नाम दिया और इससे संबंधित सारे ज्ञान को अध्यात्म कहा। भूत का अर्थ है जो था (किसी रूप में) वह अब नही है (उस रूप मे); अर्थात भूत परिवर्तन शील तत्व है, इसके विपरीत आत्मा जो वर्तमान है, सदा है। भूत और वर्तमान का अन्तर समझ में आ जाय तो अनादि, अनन्त, न भूत न भविष्यत् बल्कि वर्तमान तत्व का रहस्य भी समझ मे आ जाना चाहिये। किसी ने कहा ईश्वर है जो अनादि और अनन्त, उसकी ओर जाओ, उसे प्रसन्न करो, पुत्र बनकर, सेवक बनकर मित्र बनकर, पति अथवा पत्नी भी बनकर, सार यह किसी तरह भी उसका सान्निध्य प्राप्त करो, तुम उसमे मिल जाओगे, वही हो जाओगे। किसी ने कहा, ये सम्बन्ध किससे जोड़ते हो ? ईश्वर की तलाश मे कहां मारे मारे फिरते हो, ये सम्बन्ध तो अपने आप से ही जोड़ो, कहो मैं ही अपनी पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, मित्र सब कुछ हूँ। अनादि हूं, अनन्त हूँ, आत्मा हूँ, परमात्मा हूं, सिद्ध हूं, अपना तीर्थ स्वयं हूं, क्या है जो मैं नहीं हूं, और क्या है जो मुझ से बचा है। यह यह शक्तिबोध या स्वरूप बोध है जो इन महामानवो ने मानव मात्र को अपनी अपनी पदावली मे दिया। मानव उठ खड़ा हो गया, जागरूक हो गया, अपनी शक्ति को पहचानने के लिए मानो चल पड़ा उस शक्ति

को पाने के लिये जो अपने में है अपने से बाहर नही।

इस ओर कैसे प्रवृत्त हो सकता है मानव? मार्ग क्या है? उपाय क्या है? क्या करे वह? क्या न करे वह? इसके उत्तर मे सब धर्मों ने मानो एक स्वर से कहा, जगत की जड वस्तुओं को देखो सभी तो बदलती रहती हैं, नाशशील है। तुम छोडो, त्याग करो उसे अपना रूप मानने का जो नश्वर है। यदि उसे ईश्वर ने बनाया है तो तुम्हारे लिए, यदि वह अनादि है अकृतक है तो भी वह तुम्हारे उपयोग के लिए। उसकी दासता छोडो। इसकी विधि है अपने स्वार्थो मे उदात्तता को लाओ। जो कुछ तुम्हारे पास है उसे ईश्वरार्पित करो या दूसरो को, समाज को अर्पित करो। दूसरे भी तुम्हारी तरह ही हैं। उन्हे पराया न समझो, उनके साथ प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करो। जैसा तुम करोगे वैसा ही तुम्हे मिलेगा। अप्रमत्त होकर दूसरो के शोषण से बचोगे तो कोई भी तुम्हारा शोषण नही कर सकेगा। प्रेम की हरियाली चारो तरफ लहलहाने लगेगी। दूसरो को शीतलता और शान्ति मिलेगी और तुम्हे भी। वह काम तुम जितनी आस्था के साथ करते जाओगे बन्धन कटते जायेंगे, सशय हटता जायगा। फिर क्रूरता के स्थान पर प्रसन्नता का, भय के स्थान पर उत्साह का, क्रोध के स्थान पर क्षमा का, अभिमान के स्थान पर विनय का, सग्रह के स्थान पर वितरण का, साराश यह कि सकीर्णता के स्थान पर व्यापकता का विशालता का भाव सर्वत्र छा जायगा।

इस उदात्तता का एक निश्चित परिणाम सभी धर्मों ने यह बताया है कि इससे जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियो मे समता और एकता के दर्शन होगे। जिसे सही अर्थ मे स्वतन्त्रता या साम्यवाद कहते हैं उसकी उपलब्धि होगी। यहा यह बता देना अप्रासगिक न होगा कि स्वतन्त्रता और साम्यवाद दोनो आध्यात्मिक धरातल पर ही गतिशील होने का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस धरातल पर गतिशील मानव करोडो की सम्पदा बाट दे तब भी कम होगा और मुस्कराहट भी दे दे तो भी वह बडी से बडी सम्पत्ति के दान से कम न होगा। कौन कितना देता है इसका महत्व नही, महत्व इस बात का है कि उसमे स्वतन्त्रता मिलती है या नही, समता फैलती है या नही। यदि ऐसा हुआ तो सब कुछ हो गया, और यदि ऐसा नही हुआ तो अह का ही पोषण हुआ जिसमे जहर फैला और मूर्छा व्याप्त हो गयी।

इसी प्रकार सब धर्मों ने जीवन के आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनो क्षेत्रो मे समन्वय की भावना पर बल दिया है। इस भावना से सस्कृति का और सस्कृति से समन्वय की भावना का पोषण होता है, दोनो परस्पर उपजीव्य और उपजीवक हैं। एक के बिना दूसरी की स्थिति नही। यो भी कह सकते हैं मानवीयता रूपी सिक्के के ये दो पहलू हैं। प्राणी मात्र के प्रति श्रेष्ठता का भाव, प्रेम और सेवा का भाव, अहिंसा और क्षमा का भाव दूसरे के गुणो का स्वीकार करने का भाव, इस प्रकार के समस्त भावो की प्रशसा सब धर्मों मे की गयी है। ये समस्त गुण समन्वय की भावना से ही प्रकाश मे आते है। समन्वय के लिए यह अनिवार्य है कि दूसरो के प्रति आदर का भाव हो। समन्वय को विकास के लिए आवश्यक मानते हुए प्राय सब धर्मों ने कहा है कि सत्य उतना ही नही जितना कहने या करने मे आता है। वह तो उससे कही अधिक व्यापक है, इसलिए मानव मात्र के वचन और कर्म मे सत्य को समझने के लिए परस्पर समादर की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन धर्म मे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या अपेक्षावाद को सत्य के अनन्त स्वरूपो को समझने के लिए स्वीकार किया गया है। वहा कहा गया है कि जिस अपेक्षा से कोई बात कही या की गयी है उस अपेक्षा को

समझो। यदि समझ मे न आये तो प्रयत्न करके समझो। जो ठीक लगे उसको स्वीकार करो, जो ठीक लगे उसे दूसरों को बताओ। आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया से समन्वय का भाव बढ़ता है। यों भी कह सकते है कि दूसरों की अच्छाई को अपना सकने की कला समन्वय है, इसी मे अहिंसा फैलती है, प्रेम पनपता है। समन्वय की विरोधिनी शक्ति का नाम घृणा है। यह बुद्धि और बल के वैभव के अभिमान से पैदा होती है। जिससे घृणा की जाती है वह असामाजिक बन जाता है, यह पाप कर्म मे भी रक्त होता जाता है। इस देश मे और दूसरे देशो मे घृणा के भाव से क्या क्या न हुआ। मानव-जाति टुकड़ो टुकडो मे बट गयी काले-गोरे का भेद कितना तीव्र है। युद्धो के मूल मे भी यही घृणा का भाव है, इसलिए सभी धर्मो ने ईर्षा, द्वेष और घृणा की निन्दा की। अपनी शक्ति का घमड न करो, दूसरे को नीच मत समझो, घृणा पाप से करो पापी से नही, इस प्रकार की बाते धर्म ग्रन्थो मे भरी पडी है। इसी समन्वय की बात को लेकर एक आचार्य ने कहा—

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु
> युक्तिमद्वचन यस्य कार्यस्तस्य परिग्रहः॥

कवि ने इसी भाव को अपनी भावना मे इस प्रकार प्रकट किया—

जिसने राग द्वेष कामादिक
जीते सब जग जान लिया
सब जीवो को मोक्ष मार्ग का
निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर-ब्रह्मा
या उसको स्वाधीन कहो
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह
चित्त उसी मे लीन रहो॥

भाव यह है कि साधु कोई भी हो वह आदरणीय है। वह असाधु या छद्मवेषी नही है यही बात देखने की है। जैनो के महामन्त्र में भी यही समन्वय की भावना है—जो अर्हद् है, जो आचार्य है, जो उपाध्याय है, जो साधु है, वह नमस्करणीय है। यहां किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है। साधुओ की ये श्रेणियां है, उनकी योग्यताए निश्चित है। जिसमें जैसी योग्यता हो उसके अनुसार वह आदरणीय है। इसमे देश, काल, वर्ग, जाति आदि किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। इनकी पूजनीयता वेष के कारण नहीं गुण और कर्म के कारण है।

ये है कुछ सामान्य बातें, और भी है जो भगवान् महावीर जैसे महामानवो ने संसार के कोने कोने में फैलायी। गर्व है मानव जाति को इन पर। इनमें से किस के कथन में या आचरण मे क्या कमी और क्या विशेषता है उसे बताना यहा अभीष्ट नही है। अभीष्ट केवल यही है कि उन्होने अपने अपने ढग से मानवो को अध्यात्म की ओर गतिशील होने की प्रेरणा दी। उन्होने जो कुछ कहा या किया है उसे आज अधिक सरलता से समझा जा सकता है। धर्म तो गति की प्रेरणा देने वाला तत्व है, उसकी यह शक्ति आज भी वैसी ही है जैसी पहले थी, आगे भी यह तो रहने वाली ही है। फिर आज तो वैज्ञानिक अनुसंधानो मे प्राप्त आविष्कार भी इतने और ऐसे हो गये है कि देश और भाषा की दूरी प्रायः समाप्त हो गयी है। एक भाषा से दूसरी भाषाओ मे अनुवाद भी तेजी से हो रहे है। धर्म गुरुओ और राजा-महाराजाओं के आतङ्क भी समाप्त हो गये है। राजनैतिक स्वतन्त्रता भी इसमे सहायक हो गयी है। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से कोई भी आज ऐसी स्थिति मे हो सकता है कि वह बता सके कि आज लोक के सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए इन धर्मों की उपयोगिता है या नहीं।

आज जिस बात की आवश्यकता है वह सम्यक्त्व की। सम्यक्त्व का अर्थ है रूढ़ियों का और

परम्पराग्रो का सन्तुलित अथवा वैनानिक परिचय । जीवन के मूल्यो मे आस्था रखना मानव के सवतो मुखी विकास के लिए बहुत जरूरी है । आस्थावान् व्यक्ति इन मूल्यो का विश्लेषण करके तत्सबधी ज्ञान प्राप्त करे और ज्ञान प्राप्त करके ही विरत न हो जाय, बल्कि उनका अपने जीवन मे आचरण भी करे । भगवान् महावीर ने बधन से, अज्ञान से मुक्ति का जो माग बताया है वह यही है–सम्यक्त्वी बनो मिथ्यात्वी मत बनो । सम्यक् दशन (आस्था), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के सम्मिलित रूप से आस्थावान होकर ज्ञान के आचरण से मुक्ति प्राप्त होती है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष माग ।

धर्मों में कोई विरोध नही हो सकता । धम और अधम में विरोध अवश्यभावी है । धर्म ही की विजय होती है । धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा । इसका भाव जगत् की सही स्थिति का आधार धर्म ही है । यतो धमस्ततो जय । धम हो तो विजय निश्चित है ।

जयन्ती के अवसर पर भगवान् महावीर के अनुसार हम सब धम समभावी हो ।

—इस कामना के साथ यह लेख समाप्त होता है ।



"निरर्थक शब्द भी सत्य भग करता है अत मौन से सत्य का पालन आसान हो सकता है ।"

—गांधीजी

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में

भगवान महावीर और महात्मा गाँधी

—भगवान् महावीर और महात्मा गांधी के अहिंसा सम्बंधी विचारों और मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन इस लेख में प्रस्तुत किया गया है किन्तु लेखक ने केवल उसके साम्य पक्ष को ही स्पर्श किया है। गृहस्थ और साधु की अहिंसा के बीच जो एक सीमा रेखा भगवान् महावीर के दर्शन में मिलती है वह विश्व के दर्शन में कहीं भी नहीं मिलती। गांधी दर्शन में भी वह नहीं है। नोआखाली काण्ड के समय यह प्रश्न स्वयं गांधीजी के समक्ष उपस्थित हुआ था। आवश्यकता है इस दृष्टिकोण से भी दोनों की मान्यताओं और विचारों का अध्ययन किया जाय। —सम्पादक



प्रेमचन्द रांवका
एम० ए०, शिक्षा शास्त्री

'अहिंसा' की प्रतिष्ठा भारतीय दर्शन और आचार-शास्त्र में प्राचीन-काल से होती आई है। गांधी जी ने अपनी अहिंसा में निश्चय ही भारतीय आर्ष ग्रन्थों की अहिंसा मान्यता का समावेश किया है। इस विषय में डा० नगेन्द्र ने 'आस्था के चरण' मे लिखा है कि गांधी जी पर जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त राम चरित मानस, मध्य युगीन सन्तों की वाणियां तथा बाइबिल का भी गहरा प्रभाव पड़ा। आरम्भ में गांधीजी को अहिंसा का स्वरूप जैन साधुओं के सत्संग से प्राप्त हुआ।

'अहिंसा' जैन दर्शन की मूलभित्ति है। इसकी व्याख्या में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार व्रतों का भी समावेश हो जाता है। भगवान् महावीर की अहिंसा नीति से प्रभावित होकर महात्मा गांधी ने सर्व प्रथम जैनाचार के इन चार व्रतों को अपने ग्यारह सेवा व्रतों मे समाविष्ट किया।

अपनी अहिंसा की व्याख्या करते हुए महावीर ने 'आचारांग-सूत्र' में कहा है कि संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। सबको अपना जीवन प्रिय है। मारना हिंसा है। यही नहीं, मारने के लिए किसी को प्रेरित या उसका अनुमोदन करना भी हिंसा ही है। महावीर ने अपने समय की जन भाषा में कहा—"अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु

संजमो'—अर्थात् प्राणी-मात्र के प्रति संयम, समता और मैत्री ही अहिंसा है। अहिंसा अपने कुटुम्ब, परिवार समाज एवं राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है, उसकी परिधि विशाल है। इस प्रकार महावीर 'सव जीव मैत्री" को अहिंसा मानते थे।

'गांधी दर्शन' में भी अहिंसा और प्रेम वस्तुत पर्यायवाची हैं गांधी विचार दोहन में गांधीजी लिखते हैं कि अनेक धर्मों में जो ईश्वर को प्रेम रूप कहा है वह प्रेम और अहिंसा कोई भिन्न वस्तु नहीं। प्रेम का शुद्ध व्यापक रूप ही अहिंसा है। पर जिस प्रेम में राग या मोह की गंध आती है वह अहिंसा नहीं हो सकती।

महावीर की दृष्टि में अहिंसा की गोद में प्राणि मात्र को सुख की सांस लेने का अधिकार है। दु ख किसी को प्रिय नहीं है। इसलिए महावीर ने कहा—किसी प्राणी की हत्या मत करो, किसी पर हुकुम मत लादो। किसी को अनुचर मानकर उसके साथ कठोर व्यवहार न करो और किसी पर बल प्रयोग भी मत करो। महावीर की अहिंसा का यह निषेधात्मक रूप है। उनकी अहिंसा के विधानात्मक रूप में प्राणि मात्र से मैत्री, बन्धुत्व, भ्रातृभाव एवं समानता का व्यवहार आता है। जिसे वे "जीओ और जीने दो" की संज्ञा देते हैं। गांधी भी अहिंसा के साधकों के लिए अपने से इतर प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न पहुँचाने की बात को ही पर्याप्त नहीं समझते थे। अपितु वे अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करना भी अपना कर्तव्य मानते थे। उनका यह विरोध भी अहिंसक था—जो विरोधी के प्रति भी प्रेम का ही परिचायक होता है। वे अपने शत्रु से भी प्रेम करते थे। घृणा या ईर्ष्या नहीं।

महावीर और गांधी की अहिंसा नीति को समझना आजकल कुछ कठिन सा माना जाता है। महावीर के मत से अहिंसा के मार्ग पर चलने में विपत्तियों का सामना अनिवार्य होगा, पर यह अहिंसा का मार्ग खोगा नहीं। स्वयं महावीर को अपनी साधना, तपस्या एवं दिनचर्या में दु साध्य विपत्तियां आईं, पर वे उनसे लेश मात्र भी विचलित नहीं हुए। गांधी ने भी सहन शक्ति को ही अहिंसा का इति रूप माना। उनका यह अहिंसा मूलक नीति कथन तो विश्व विख्यात है कि यदि कोई एक गाल पर तमाचा मारे तो उनके सामने अपना दूसरा गाल भी प्रस्तुत कर देना चाहिए। उनका यह कथन सहन शक्ति का प्रतीक है न कि कायरता का।

कुछ लोग अहिंसा को कायरता समझते हैं, पर अहिंसा को कायरता कहना 'अहिंसा' से अनभिज्ञ होना है। कायरता और अहिंसा में रात-दिन का अंतर है। महावीर की अहिंसा कायरों की नहीं, अपितु वह वीरों की है। अहिंसा पर क्षमा जैसा अस्त्र वीरों को ही शोभा देता है। कायर व निवल मनुष्य क्या क्षमा करेगा? समर्थवान की अहिंसा या क्षमा ही सच्ची है। क्षमा या अहिंसा तो जिसमें वह शक्ति होगी वही कर सकेगा। शक्तिवान होते हुए भी विरोधी को छोड़ देना अहिंसा का अपना गुण है। 'हरिजन एवं यंग इण्डिया' में व्यक्त गांधी के विचारों से पता चलता है कि हिंसक मनुष्य भी वाल्मीकि की तरह किसी भी दिन अहिंसक अवश्य बन सकता है। पर कायर नहीं। गांधी मानते थे कि अहिंसा वीरों का धर्म है कायरों का नहीं। वे आत्म रक्षा और स्त्रियों की सम्मान रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग की भी अनुमति देते हैं।

"न हिंसा अहिंसा"— अर्थात् हिंसक कार्यों में प्रवृत्त न होना ही अहिंसा है। अपने भावात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है प्राणि मात्र के प्रति प्रेम। स्थूल रूप में अहिंसा से अभिप्राय है "दुष्प्रवृत्तियों से बचना और बचाना।' इसके लिए बल प्रयोग की

अपेक्षा हृदय शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह हृदय-शुद्धि गांधी के हृदय-परिवर्तन से साम्य रखती है। अहिंसा के इस अर्थ से वंचित लोग ही अहिंसा का प्रबल विरोध करते दिखाई देते है। प्रायः यह कहा जाता है कि अहिंसा एक व्यक्तिगत साधना मात्र है, जिसका सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपयोग नही किया जा सकता। किन्तु गाधी के शब्दो मे अहिंसा न केवल व्यक्तिगत गुण है; अपितु अन्य गुणो की तरह विकसित किया जाने वाला सामाजिक गुण भी है। स्वयं गाधी ने अहिंसा को धर्म कूप से निकालकर उसका राजनीति एव आर्थिक क्षेत्र मे सफल प्रयोग कर दिखाया और फिर सामाजिकी करण करके इसे जन जीवन के लिए अनिवार्य बना दिया।

महावीर की विविध कोटिक अहिंसा-साधना की भी कई स्थितियां है। नीति के रूप मे दुर्बल की अहिंसा, सिद्धात रूप मे बलवान की अहिंसा और आत्म-शुद्धि के रूप मे अपनाई गई अहिंसा-जिसमें मनुष्य भौतिक ससार से अपना कोई नाता नही रखता। तीसरा मार्ग आत्म-शुद्धि के लिए होता हुआ भी लोककल्याण की भावना से युक्त है। क्योंकि एक व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्कर्ष निश्चय ही सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावित करता है। जो व्यक्ति स्वय आदर्शवान नही होगा, वह दूसरो के समक्ष क्या आदर्श प्रस्तुत करेगा। गांधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धात का मूल रहस्य यही है।

महावीर की तरह गाधी ने भी अपनी अहिंसा मे त्याग और तप को प्रमुखता दी और भोग का तिरस्कार किया। हिंसा पर विजय पाने के लिए आने वाले कष्टों को झेलना आवश्यक है—यही तपस्या है। इन्द्रिय और मन को जीते बिना जीवन मे अहिंसा नहीं आ सकती। गाधी ने भी अहिंसा-भाव की प्राप्ति के लिए आत्म-शुद्धि पर बल दिया। आत्म-शुद्धि का उपाय है अहंकार का पूर्ण उत्सर्ग।

'आचारांग सूत्र' के अनुसार क्रान्तिकारी तीर्थंकर महावीर ने अपने समय के सामाजिक सवर्णवाद के विरुद्ध अवर्णवाद की स्थापना की। वे समाजवादी जीवन-व्यवस्था के समर्थक थे। उनके अनुसार इसका कोई औचित्य नही कि एक तो क्षीणहीन जीवन विताये और दूसरा उन पर धर्म-पुण्य कमाने के नाम पर दया दिखलावे। इसलिए महावीर ने मानव-मात्र के बीच हीनता और उच्चता की भावना के उन्मूलन का दिव्य सन्देश जनजन को दिया कि कोई व्यक्ति न सर्वथा उच्च है और न सर्वथा नीच ही हो सकता है। एक ही व्यक्ति अपने दुर्गुणों के कारण हीन और सद्गुणो के कारण उच्च होता है। यही अनेकान्तता महावीर के अहिंसक दर्शन का सार है।

महावीर के समान गाँधी ने भी अपने वर्ण विभाजन मे किसी भी वर्ण विशेष को विशेषाधिकार नही दिया। उनकी वर्ण-व्यवस्था मे कोई भी वर्ण किसी भी रूप मे एक दूसरे से छोटा या बडा नही है। उन्होने अस्पृश्यता निवारण,को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसे वे अहिंसा के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध मानते थे। इसीलिए उन्होने महाजन और हरिजन को समान आदर देने का आग्रह किया।

वास्तव मे महावीर और गांधी का यह अहिंसा दर्शन एकांकी विचारधारा मात्र न होकर वैचारिक एव व्यावहारिक समन्वयवाद पर आधारित है। क्रान्तिकारी महावीर ने जिस प्रकार अपने अहिंसा मूलक दर्शन से तद्युगीन चिन्तनधारा को प्रभावित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य और कला को भी भूरिश: प्रभावित किया; उसी प्रकार कर्मयोगी गाधी ने अपनी अहिंसा भावना से युग धारा पर अमिट प्रभाव डालते हुए आज के जन-जीवन, समाज और साहित्य पर भी गहरा प्रभाव डाला है।

भगवान महावीर और महात्मा गांधी के रूप मे भारतवर्ष को ऐसे दो जीवन व्याख्याता मिले,

जिन्होंने अपने समय एवं परिस्थिति के अनुसार अपने दृष्टिकोण से तत्कालीन रुग्ण एवं जीर्ण भारतीय जन-जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की और उसका यथोचित उपचार भी किया। परिणामतः भारतीय जन-जीवन को एक नवीन जीवन एवं नूतन स्वास्थ्य प्राप्त हुआ। ये दोनों ही 'अहिंसा' के अलख जगाने का व्रत लेकर आये। जिसके माध्यम से इन दोनों ने विश्व के लिए अनिवार्य मानवतावादी दृष्टिकोण की अपनी शैली में व्याख्या की।

निस्सन्देह सुदीर्घकाल से चली आ रही अहिंसा की जिस परम्परा को भगवान महावीर ने विकसित किया उसका महात्मा गांधी ने पुनमूल्यांकन प्रस्तुत किया।



"हिंसा हमारी शारीरिक और मानसिक सभी विपत्तियों का कारण है। मन को विकृत और शक्तिहीन बनाने का कारण भी हिंसा ही है। मन को पूरा शक्तिशाली बनाने के लिए मनसा वाचा कर्मणा अहिंसक होने की जरूरत है। अहिंसा से ही महान् मनस्त्व की प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा मनुष्य का वरदान है।"

—चैनसुखदास

▸ आकाशवाणी नागपुर द्वारा प्रसारित

भगवान महावीर और बापू

राजनीति का क्षेत्र मायाचारी का क्षेत्र अति प्राचीन काल से ही समझा जाता रहा है। येन केन प्रकारेण अपने उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न करना राजनीतिक का काम है। ऐसे क्षेत्र में अहिंसा और ईमानदारी को प्रवेश कराना महात्मा जी की बहुत बड़ी सफलता और देन थी। अहिंसा और सत्य के पालन के लिये महात्माजी ने दूसरों को उपदेश ही नही दिया अपितु वे जीवन भर इनको अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करते रहे और वे उसमें अधिकांशतः सफल भी हुए। अहिंसा पालन की यह प्रेरणा महात्मा जी को कहां से प्राप्त हुई, उसका मूल स्रोत कहां था यह जानकारी प्राप्त कीजिये विद्वान् लेखक के इस लेख से।

—संपादक



डॉ० भागचन्द भास्कर
एम० ए०, आचार्य, पी-एच० डी० (सीलोन)
अध्यक्ष, पाली प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

शतावधानी कवि रायचन्द और बापू अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने समयानुसार जन समाज में सामाजिक क्रान्ति का बीड़ा उठाया। उसका मूल आधार मानवता का अधिकाधिक संरक्षण करना था। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ था। समूचा भारतवर्ष उनके व्यक्तित्व और विचारों की छाया मे आ गया था। आज भी उनके अनुयायी जैन प्रत्येक प्रान्त मे फैले हुए हैं। विशेष रूप से गुजरात तो प्रारम्भ से ही जैन शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र रहा है। बापू को भी जन्म-भूमि होने का उसे सौभाग्य मिला। फलतः जैन सिद्धान्तो से बापू का प्रभावित होना अस्वाभाविक नही।

यद्यपि बापू का सारा परिवार वैष्णव सम्प्रदायी था परन्तु उस पर जैन सम्प्रदाय के आचार विचारो का भी प्रभाव कम नहीं था। आत्मकथा मे बापू ने स्वयं लिखा है, "गुजरात मे जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह हर प्रवृत्ति मे पाया जाता है इसलिए मांसाहार का जो विरोध जैसा तिरस्कार गुजरात मे जैनों तथा वैष्णवो मे दिखाई देता है वैसा भारत या अन्य देशो मे और कहीं नहीं दिखाई देगा। मैं इन्हीं संस्कारों मे पला था।"

बापू को शान्त सहिष्णु बनने का पाठ भी अपने पारिवारिक वाता-

वग्ण स मिला था। उनके माता-पिता अपने बच्चो के साथ वैष्णव मदिर जाते, शिवालय जाते, और राम मदिर भी जाते। इसके अतिरिक्त जैन धम के आचार्यों म मे भी कोई न कोई आचार्य और विद्वान बापू के परिवार मे आते रहते और उनमे धार्मिक तत्वचर्चा होती रहती। जैन भिक्षु भी जब आते थे तो उन्हे भिक्षा देकर सम्मानित किया जाता था। विदेश जाने के पूव बापू ने मासाहार, मद्यपान तथा स्त्रीगमन त्यागने की प्रतिज्ञा अपनी मा के समक्ष ली थी फिर भी मा ने स्वय के सन्तोष के लिए जैन साधु बेचर स्वामि से सलाह ली। तब यही बापू को विदेश जाने की अनुमति मिल सकी। ऐसे धार्मिक वातावरण मे बापू का शैशव बीता और उन्हे जैनधम को समीप से देखने का अवसर मिला।

स्पष्टत बापू को जैन सस्कृति का परिवेश बाल्याव था से ही मिला अत उनके प्रत्येक सिद्धात म जैन आचार विचार का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे देखा जा सकता है। उन्होंने स्वय कहा है मेरे जीवन पर तीन पुरुषा ने गहरी छापा डाली है टाल्सटाय, रस्किन और रायचन्द भाई। इन तीनो पुरुषा मे रायचन्द भाई का सव प्रथम स्थान देता हू। उनसे मेरा गाढ परिचय था। उनका गभीर शास्त्रज्ञान शुद्ध चारित्र और आत्मदशन की उत्कट लगन का प्रभाव मुझ पर पडा। उस समय यद्यपि मुझे धम चर्चा मे अधिक रस नही मिलता था पर रायचन्द भाई की धम चर्चा को पूण मनोयोग से सुनता था समझता था और उसमे रुचि पूवक भाग लेता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्यो के सम्पक मे आने का सौभाग्य मुझे मिला। पर जो छापा मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई नही डाल सका। उनके बहुतरे वचन-सीधे और अन्तर मे उतर जाते। उनकी बुद्धि और सचाई के लिए मेरे मन मे आदर था। वे मेरे हित की ही बात कहेगे यह म जानता था। इसलिए अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयो मे उनका आश्रय लिया करता था।

बापू आत्मार्थी गुणग्राही और जिज्ञासु थे। वे जीवन मुक्त दशा प्राप्त करने के इच्छुक थे। दक्षिण अफ्रीका पहुचने पर उनकी यह इच्छा और बलवती हो गई। ईसाइयो के सम्पर्क से जब उन्हे हिन्दूधम मे शका पैदा हुई तो रायचन्द भाई से उन्हाने लगभग २७ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नो से बापू को अपार सन्तोष और शान्ति मिली। हिन्दूधम मे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा उनके मन को विश्वास हुआ। रायचन्द भाई के प्रति बापू की श्रद्धा भक्ति व सम्मान और भी बढ गया।

शतावधानी कवि रायचन्द भाई के सम्पक से जैन सिद्धान्तो के विषय मे पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी। फलत उनका आध्यात्मिक मानस जैन सिद्धान्तो से प्रभावित हुए बिना नही रहा। जैनधम मे प्रतिपादित सार्वभौमिक अहिंसा की पृष्ठभूमि मे उनके प्राय सभी आचार-विचार जागृत हुए।

जैनधम के अनुसार वीतरागी व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है यह बापू अच्छी तरह जानते थे। उन्होने इस सन्दभ मे लिखा है—बाह्याडम्बर से मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। शुद्ध वीतरागता मे आत्मा की निमलता है जो अनेक जन्मो के प्रयत्न से मिल सकती है। रोगो के निकालने का प्रयत्न करने वाला जानता है कि रोग रहित होना कितना कठिन है। मोक्ष की प्रथम सीढी वीतरागता है। जब तक जगत की एक भी वस्तु मे मन रमा है तब तक मोक्ष की बात कसे अच्छी लग सकती है? अथवा लगती भी हो तो केवल कानो को ही। ठीक वैसे ही जसे कि हम अथ के समझे बिना किसी सगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। इस प्रकार की केवल कण प्रिय क्रीडा मे व्यथ समय निकल जाता है और मोक्ष का अनुकूल आचरण पक्ष दूर होता जाता है। वस्तुत आन्तरिक वैराग्य

के विना मोक्ष की लगन नहीं होती। वैराग्य की इस अपूर्व दशा से मैं पूर्ण प्रभावित रहा हूं। वापू ने इसीलिए कहा था शंकर हो या विष्णु ब्रह्मा हो या इन्द्र, बुद्ध हो या सिद्ध, मेरा शिर तो उसी के आगे झुकेगा जो राग द्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो और जो अहिंसा व प्रेम की प्रतिमा हो। वापू की यह धार्मिक सहिष्णुता जैन धर्म की देन थी। इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र का श्लोक स्मरण आता है जिसने उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि से मात्र वीतरागी और तर्क-सिद्ध भाषीको नमन करने की प्रतिज्ञा की है चाहे वह तीर्थंकर हो या अन्य कोई विचारक।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषो कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः प्रतिग्रहः ॥

रायचन्द भाई ने वापू को धर्म की व्याख्या संकीर्णता की सीमा से हटकर सिखाई थी जिसका अनुकरण वापू ने अन्त तक किया। इस व्याख्या के अनुसार धर्म का अर्थ मतमतान्तर नहीं। वह तो आत्मा का गुण है जो मनुष्य जाति मे दृश्य अदृश्य रूप से विद्यमान है। धर्म ही स्व और पर के भेद का विभेदक है। जैन धर्म मे इसे ही भेद विज्ञान कहा है जो मुक्ति प्राप्ति का मूल कारण है।

१६ मार्च, १८९५ के एक अन्य पत्र के उत्तर मे रायचन्द भाई ने वापू को जैन धर्म के अनुसार आत्मा का स्वरूप समझाया और अन्त मे लिखा कि आत्म विचार करने की इच्छा तुमको रहा करती है यह जानकर सन्तोष हुआ। उस सन्तोष मे मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं। मात्र तुम समाधि के मार्ग पर आना चाहते हो, इस कारण संसार क्लेश से निवृत्त होने का तुमको प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार की संभावना देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है।

अन्य पत्रों में रायचन्द भाई ने वापू को आर्य आचार-विचार सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में लिखा था। आर्य आचार अर्थात् मुख्य रूप से दया, सत्य, क्षमा आदि गुणों का आचरण करना और आर्य विचार अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष के विषय मे भलीभांति विचार करना। कवि ने वापू को यह भी सुझाव दिया था कि जीव दया पालने के लिए हिंसा के स्थानकों में जाना-आना व अभक्ष्य भक्षण बन्द करना अत्यावश्यक है। संक्षेपतः जिस तरह सदाचार व सद्विचार का आराधन हो, वैसा आचरण करने योग्य है। यहा अभक्ष्य भक्षण न करने से तात्पर्य है मांस ग्रहण न करना। वापू ने इसका पालन दृढ़ता से अन्त तक किया। यहा तक कि कस्तूरवा की तीव्र रुग्णावस्था में भी डाक्टर उन्हे मांस नही दे सका। यह प्रभाव निश्चित ही जैनधर्मानुरक्त रायचन्द भाई के संसर्ग का परिणाम है।

इस प्रकार वापू को रायचन्द भाई समय-समय पर उद्बोधित करते रहते जिससे दक्षिण अफ्रीका मे अनेक अवसर आने पर भी वे अपने धर्म से विचलित नहीं होने पाये। दोनों महापुरुषों के बीच पत्राचार अन्त तक चलता रहा। रायचन्द भाई ने वापू को पुस्तकें भी भेजी जिनका उन्होंने मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उन पुस्तकों मे पचीकरण, मणि रत्न माला, योगवासिष्ठिका, मुमुक्षु प्रकरण व हरिभद्र सूरि का षड् दर्शन समुच्चय मुख्य थी।

वापू का अध्ययन और मनन जैसे-जैसे बढ़ता गया वे अध्यात्मिक दृष्टि को राजनीति के साथ जोड़ते गये। स्वातन्त्र्य संग्राम के लिए जिस निष्काम कर्मठता की आवश्यकता थी वह निष्काम कर्मठता वापू को जैन धर्म से मिली। उनके विचार अहिंसा व अपरिग्रह से ओतप्रोत रहे। लोक कल्याण की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। सत्याग्रह के पीछे सत्य कार्य के लिए सदैव अहिंसात्मक आग्रह और असत्य कार्य के लिए निरन्तर

अहिंसात्मक असहयोग की मूल भावना थी। आत्म-नियन्त्रण, अहिंसा, दृढ निश्चय व अपरिग्रह ये चार सत्याग्रह के सूत्र हैं। जैन धर्म की पृष्ठभूमि मे इनका उदय हुआ जान पडता है।

रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' के अनुवाद का नाम बापू ने सर्वोदय रखा था। इस सर्वोदय शब्द का उपयोग सर्व प्रथम जैनाचार्य समन्तभद्र ने अपने युक्त्यनुशासन मे किया था—

सर्वान्तवत् तद्गुण मुख्य कल्प
सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्त कर निरन्त,
सर्वोदय तीर्थ मिद तवैव ॥

यह शब्द और उसके पीछे निहित भावना बापू तक कवि रायचन्द के माध्यम मे पहुँची होगी।

जैन धर्म मे अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच व्रत माने जाते हैं। बापू ने पाचो व्रतो का पालन अपने समूचे जीवन मे किया और उनके व्यावहारिक उपभाग की प्रक्रिया अपने निस्वार्थ कर्मठ कार्यों के माध्यम से प्रस्तुत की।

अहिंसा बापू का व्यक्तिगत आचरण था परन्तु सामाजिक समस्याओ को पूरा करने मे उसे उपकरण बनाना और राजनीतिक लक्ष्य प्राप्ति मे उसका सफल प्रयोग करना उनके ही साहस व व्यक्तित्व की विशेषता थी। वस्तु तत्त्व को समझने और विभिन्न मतो मे आदर पूर्वक समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से बापू ने जैन धर्म के महत्वपूर्ण सिद्धात स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को आत्मकथा में समझाने का प्रयत्न किया है।

जीवन के विकास के लिए बापू ने ग्यारह नियम निर्धारित किये थे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीर श्रम, सर्व धर्म-समभाव और स्वदेशी। ये सभी नियम जैन सिद्धान्तो मे सरलता मे खोजे जा सकते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा बापू महामानव महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्तो से प्रेरित थे। यह रायचन्द भाई के ही सम्पर्क का परिणाम था। वैष्णवी होते हुए भी उनका समूचा जीवन आत्म मूलक जैन आदर्श का जीवन था। जैनधर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म नहीं। वह तो प्राणि मात्र का धर्म है। इसी धर्म के माध्यम मे बापू ने आत्मकल्याण करते हुए भारत मे स्वतन्त्रता का पुनीत दीपक जलाया और मातृभूमि के हाथो से परतन्त्रता की कठोर शृङ्खलायें भेद कर सारे विश्व मे अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित किया।

महावीर का अनेकान्त दर्शन

"केवलज्ञान सर्वतत्व प्रकाशक है और स्याद्वाद भी। दोनों में भेद केवल इतना है कि केवल ज्ञान साक्षात् रूप से सब तत्वों को जानता है और स्याद्वाद परोक्ष रूप से, स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पूर्ण दर्शी है अतः केवल ज्ञान के समान स्याद्वाद भी पूर्ण है।"



प्रो० उदयचन्द्र जैन
प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ईसा पूर्व छठी शताब्दी आध्यात्मिक अशांति का युग था। उस समय लोगों के मन में तात्कालीन प्रचलित धर्मों और मान्यताओं के प्रति कई प्रकार की शंकाएं उठ रही थी। वे जन्म, जरा, मरण आदि के दुःखों से छुटकारा पाने का साधन खोज रहे थे। वे एक ऐसे महा पुरुष की प्रतीक्षा मे थे जो उन्हे मोक्ष का मार्ग बतलाता, सांसारिक दुःख से उन्हे बचाता और धर्म के उच्च आदर्श को उनके सामने रखकर उन्हे कल्याण का पथिक बना देता। ऐसे समय में भगवान महावीर ने इस पवित्र भारत भूमि पर जन्म लिया था।

मानव जीवन में आचार शुद्धि और विचार शुद्धि का सर्वाधिक महत्व है। यथार्थ मे जीवन को निर्दोष और परमोच्च बनाने के लिए आचार की शुद्धि की और विचारो की शुद्धि की परम आवश्यकता है। आचार शुद्धि के लिए अहिंसा की और विचार शुद्धि के लिए अनेकान्त तथा स्याद्वाद की आवश्यकता है। भगवान महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर तीन वर्ष तक जो सहस्रो उपदेश दिये उनमे मुख्य बात अहिंसा और अनेकान्त की ही रहती थी। भगवान् महावीर के अनेकान्त दर्शन पर यहां संक्षेप में विचार किया जायगा।

वर्तमान युग वैज्ञानिक और बौद्धिक युग है। इस युग मे प्रत्येक बात

विज्ञान और तर्क की कसौटीपर कसी जाती है और जो बात उक्त कसौटी पर खरी नहीं उतरती है उसे मानने के लिए कोई तयार नहीं होता। सबके सामने एक ही दृष्टि है और वह है विज्ञान और तर्क की कसौटी। वर्तमान समय में प्रत्येक व्यक्ति हर एक बात को विज्ञान और तर्क की तुला पर तोलना चाहता है। इसलिए महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त दर्शन पर भी वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टिकोण से विचार करना ठीक होगा।

अनेकान्त क्या है ? वह जैन दर्शन का सब से बड़ा सिद्धान्त है जिसकी भित्ति पर समस्त जैन तत्त्वज्ञान स्थित है। प्रत्येक मत के दो पहलू होते हैं—एक धर्म और दूसरा दर्शन। इनमें से धर्म का मूल आचार है और दर्शन का मूल विचार। आचार और विचार में घनिष्ट सम्बन्ध है। विचार का प्रभाव आचार पर पड़ता है और आचार का प्रभाव विचार पर पड़ता है। आचार और विचार की तरह धर्म और दर्शन में भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। धर्म मनुष्य को नैतिक बनाता है और दर्शन मनुष्य को विचार शील बनाता है। धर्म को दर्शन से और दर्शन को धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता है। दोनों का लक्ष्य एक है और वह है प्राणी को संसार के दुःखों से छुड़ाकर मुक्ति प्राप्त कराना। जैन दर्शन के जितने सिद्धान्त हैं उनमें अनेकान्त तथा अनेकान्त से सम्बन्धित स्याद्वाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

अनेकान्त दो शब्दों के मेल से बना है। ये दो शब्द हैं अनेक और अन्त। यहां अन्त शब्द का अर्थ है धर्म। प्रत्येक वस्तु में अनेक या अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इतना कह देने से अनेकान्त दर्शन की कोई विशेषता प्रकट नहीं होती है। किन्तु अनेकान्त की विशेषता इस बात में है प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म युगल पाये जाते हैं। अनेकान्त का ठीक स्वरूप निम्न प्रकार है—

यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम् प्रत्येक वस्तु वस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्धशक्ति द्वयप्रकाशनमनेकान्त। अर्थात् जो वस्तु तत् है वही अतत् भी है आदि। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु में वस्तुतत्व के कारण भूत परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलों को प्रकाशित करता है। अनेकान्त के स्वरूप को निम्न प्रकार से भी बतलाया गया है—

सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।

अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों की मुख्यता रहती है। तथा वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों के अनेक युगल पाये जाते हैं जैसे नित्य अनित्य, एक-अनेक, सत् असत् इत्यादि। वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड ही नहीं है किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म युगलों का पिण्ड है। वस्तु का वस्तुत्व विरोधी धर्मों के अस्तित्व में है। यदि वस्तु में विरोधी धर्म न रहें तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त होजाय। यदि वस्तु सर्वथा एक रूप हो तो वह कुछ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकेगी और अर्थक्रिया के अभाव में वह वस्तु रह ही कैसे सकती है।

एकान्त वादियों की समझ में यह बात आती ही नहीं कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म पाये जाते हैं। वे सोचते हैं कि वस्तु में विरोधी धर्मों का होना तो नितान्त असंभव है। उनके ऐसा मानने का कारण उनका दुराग्रह ही है। वे एकान्त वाद के आवेश में वस्तु को एकान्त रूप ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में हरिभद्र सूरि ने ठीक ही कहा है—

आग्रही वत निनीषति युक्ति
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र
तत्र मति रेति निवेशम् ॥

अर्थात् दुराग्रही व्यक्ति की जिस विषय में मति होती है उसी विषय मे वह युक्ति को लगाता है, किन्तु पक्षपात रहित व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्ति सिद्ध होती है।

एकान्तवादी कहते है कि जो वस्तु सत् है वह असत् कैसे हो सकती है जो वस्तु नित्य है वह अनित्य कैसे हो सकती हैं। सत वस्तु के असत् होने में उन्हे विरोध आदि दोष प्रतीत होते है। ऐसा कहनेवालो को आप्तमीमासा के निम्न श्लोक पर ध्यान देना चाहिए—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥

अर्थात् स्वरूप आदि चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से सब वस्तुओ को सत् कौन नही मानेगा और पर रूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा से उनको असत कौन नहीं मानेगा। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव मे किसी भी तत्व की व्यवस्था नही हो सकती है।

अनेकान्त दर्शन की आवश्यकता।

वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए अनेकान्त दर्शन की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु या बात को ठीक ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार या एकान्त अभिनिवेश लादने से बड़े-बड़े अनर्थों की सम्भावना रहती है। यथार्थ मे अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। एकान्तवादी मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण मान बैठता है और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है, इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं और एक मत का दूसरे मत से विरोध उत्पन्न हो जाता है। किन्तु अनेकान्त उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता है। ऐसे अनेकान्त को नमशः प्रणाम हो। कहा भी है—

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

अर्थात् परमागम के बीज स्वरूप, जन्मान्ध-पुरुषो का हाथी के विषय मे विधान (एकान्त दृष्टि) का निषेध करने वाले और एकान्तवादियो के विरोध को दूर करने वाले अनेकान्त को नमस्कार हो।

अनेकान्त दर्शन विचारो की शुद्धि करता है। वह मानवों के मस्तिष्क से दूषित विचारो को दूर कर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए प्रत्येक मनुष्य का आह्वान करता है। वह कहता है कि वस्तु विराट् है, अनन्तधर्मात्मक है। यदि ससार के राजनीतिज्ञ भी अनेकान्त दर्शन को ठीक तरह से समझ ले तो संभव है कि संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाय। क्योकि अनेकान्त दर्शन द्वारा धर्म समता की तरह मानव समता का भी बोध हो सकता है और मानव समता का ज्ञान होने से सब झगडों का सदा के लिए अन्त हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए वस्तु स्थिति का ठीक ठीक प्रतिपादन करने वाले अनेकान्त दर्शन की संसार को अत्यन्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। स्याद्वाद उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन करने का साधन या उपाय है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। स्याद्वाद पद संयुक्त है। स्याद् और वाद इन दो शब्दों के

मेल से स्याद्वाद पद बनता है। स्याद्वाद पद में जो स्यात् शब्द है उसका ठीक ठीक अर्थ समझना आवश्यक है। कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं तो कोई संभावना। स्यात् का अर्थ शायद करके कोई स्याद्वाद को सन्देहवाद कहते हैं तो कोई उसको संभावनावाद कहते हैं। ऐसे लोगों का यह जान लेना आवश्यक है कि स्यात् शब्द तिङन्त नहीं है किन्तु एक निपात है। वह सन्देह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। स्यात् शब्द के अर्थ का विधिवत् समझने के लिए जैन शास्त्रों पर दृष्टि डालने का कष्ट अवश्य करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में स्यात् शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से किया है —

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

स्यात् शब्द के विषय में पहली बात यह है कि वह निपात है, दूसरी बात यह है कि वह एकान्त का निराकरण करके अनेकान्त का प्रतिपादन करता है। वह एक निश्चित अपेक्षा को बतलाता है। उसका अर्थ अनिश्चय या संशय नहीं है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। शब्द के द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन एक ही समय में संभव नहीं है क्योंकि शब्दों की शक्ति नियत है। वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु का शब्द के द्वारा प्रतिपादन क्रम से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त वस्तु के प्रतिपादन करने का और कोई उपाय नहीं है। स्याद्वाद के बिना वस्तु का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन कर इष्ट तत्त्व घृत को प्राप्त करती है। स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण के द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है। कहा भी है —

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

समन्वय का मार्ग स्याद्वाद

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय हमारे सामने उपस्थित करता है। वह अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को मानकर परस्पर में विवाद करने वाले लोगों में समझौता कराने में समर्थ है। किसी भी वस्तु को यदि पूर्णरूप से समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से उसका निरीक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा किये बिना वस्तु का पूर्णरूप समझ में नहीं आ सकता। जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धांत भिन्न-भिन्न मतभेदों को दूर करने में सर्वथा समर्थ है। सब धर्मों के सिद्धांतों का समन्वय करने के लिए स्याद्वाद सिद्धांत अत्यन्त उपयोगी है। इस प्रकार स्याद्वाद हमारे सामने समन्वय का मार्ग उपस्थित करता है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त सुव्यवस्थित, परिमार्जित एवं आवश्यक है। यह न अनिश्चित वाद है और न संदिग्धवाद। अनेक धर्मात्मक वस्तु की ठीक-ठीक व्यवस्था करने के कारण स्याद्वाद सुव्यवस्थित है। सुव्यवस्थित होने के साथ साथ वह व्यावहारिक भी है। इसके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता। स्याद्वाद जैन दर्शन एवं जैन तत्त्व ज्ञान की नींव है। यह वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है। भगवान् महावीर ने इसी स्याद्वाद का उपदेश दिया है। आचार्यों ने स्याद्वाद के मूल्य को समझा है और उसे केवल ज्ञान के समान बतलाया है।

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

केवल ज्ञान सब तत्त्व प्रकाशक है और स्याद्वाद भी। दोनों में भेद केवल इतना है कि केवल ज्ञान साक्षात् रूप से सब तत्त्वों को जानता है और स्याद्वाद परोक्ष रूप से। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पूर्णदर्शी है। अतः केवलज्ञान के समान स्याद्वाद भी पूर्ण है।



महामानव महावीर

मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

"........उस समय (आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व) मानव का अंकन जातीयता व अर्थ के आधार पर होता था। विवश मनुष्य का मूल्य एक पशु से अधिक नहीं था। वह पशुओं की भांति बाजार में बेचा जाता था। धन ही धर्म का हेतु हो रहा था.....महामानव महावीर ने ऐसे अवसर पर राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया और.......।"



महापुरुषों द्वारा नया विचार समाज को दिया जाता है। उससे रूढ़ विचारों का परिष्कार होता है और कुण्ठाओं का उन्मूलन होकर जीवन सतुलित होता है। किन्तु कुछ समय बाद वे ही विचार नये प्रवाह के अभाव में पुनः प्राचीनता की परत के नीचे दब जाते है। यह क्रम अनवरत चलता हुआ महामानव की अनिवार्यता को अनुभूत करा देता है। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भी समाज की ऐसी ही रूढ़ स्थिति थी। उस समय मानव का अंकन जातीयता व अर्थ के आधार पर होता था। विवश मनुष्य का मूल्य एक पशु से अधिक नही था। वह पशुओं की भांति बाजार मे बेचा जाता था। 'धनमेव अशेष धर्म हेतु ?'–धन ही धर्म का हेतु हो रहा था, अत: दीन व्यक्ति के परित्राण का निमित्त नियति के हाथों मे चला गया था। धर्म-स्थान साम्प्रदायिक अभिनिवेश के स्थल बन चुके थे। उनके बाहर सत्य की उपलब्धि आकाश-कुसुम थी। महामानव महावीर ने ऐसे अवसर पर ही राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया। तीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने तथाकथित धर्माचार्यों द्वारा होने वाले धर्म के उपहास को देखा। मानव की विडम्बनाओं का लेखा-जोखा लिया। उनका मानस रूढ़ परम्पराओं एवं जीवन की कुण्ठाओं के प्रति सजग हुआ। वे किसी से कुछ कहें, समाज मे आन्दोलन करें, उससे पूर्व उन्होंने अपने को साधने की

भजन

(तज—मन साफ तेरा है या नही पूछ ले जी मे)

महावीर का कर ध्यान ओ नादान खुशी से ।
हो जायगा कल्याण सुना दे यह सभी से ।।

उपदेश जो श्री वीर ने दुनियाँ को दिया था,
गाफिल जनों को नींद से हुशियार किया था ।

फिर होम से पशुओ को बचाया था बली से ।। महावीर ।।

समता, सरल स्वभाव का सन्देश सुनाया ।
घर घर पर अहिंसा धर्म का था मर्म बताया ।

उनको लगाया राह जो भूले थे कभी से ।। महावीर ।।

क्यो मुफ्त मे रोता है तू नादान हुआ है,
उनकी सी राह देख क्यों हैरान हुआ है ।

अब भी समय को देख हो होशियार अभी से ।। महावीर ।।

दिल मे जो कोई उसको सदा याद करेगा,
निश्चय है कष्ट से नही वो नेक डरेगा ।

"पङ्कज" की आरजू है फकत एक उसी से ।। महावीर ।।

"......धर्म उसे कहना चाहिये जिसमें अधर्म का तनिक भी संसर्ग न हो, सुख उसे समझना चाहिये जिसमें दुख की संभावना तक न हो, ज्ञान उसे जानना चाहिये जो अज्ञान से सम्प्रक्त न हो और गति वह है जहां से फिर आने का चक्कर न हो।...... "

अप्रतिहत शक्ति भगवान् महावीर



प्रो० अमृतलाल शास्त्री
साहित्याचार्य, जैन दर्शनाचार्य
प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी

इस युग के प्रारम्भ में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव ने अपने जन्म से अयोध्यापुरी को पवित्र किया था। इनका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत (स्क० ५, अ० २–६) में भी समुपलब्ध है। इन्ही के पौत्र मरीचि, जो धर्म-प्राण भारतवर्ष के प्रथम सम्राट भरत के ज्येष्ठ पुत्र रहे, अनेक जन्म लेने के उपरान्त चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हुए। जैन वाङ्मय में इनके चार अन्य नाम भी व्यवहृत हैं—वर्धमान, सन्मति, वीर और अतिवीर, पर इतिहास लेखकों ने अपने ग्रन्थों मे प्रायः महावीर नाम का उल्लेख किया है, जो सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित है।

गर्भावस्था से जीवन के अन्त तक देहधारियों के सामने न जाने कितनी भीषण बाधाएं आया करती हैं, जो उनकी शक्ति को प्रतिहत करके उन्हें सन्मार्ग से विचलित होने को बाध्य कर देती हैं, पर भ० महावीर के बहत्तर वर्ष के जीवन काल में आदि से अन्त तक ऐसी एक भी बाधा उनके सामने नहीं आयी, जो उनकी शक्ति को कुण्ठित करके उनके दृढ़ निश्चय पर तनिक भी प्रभाव डाल सकी हो।

—भ० महावीर स्वयम्बुद्ध थे। उनके विशिष्ट ज्ञान को देखकर उस समय के विशिष्ट विद्वान भी आश्चर्य की अनुभूति करने लगे। विनय और

सजय नाम के दो चारणऋधिधारी मुनियों के मन में एक शास्त्रीय शङ्का थी। उसका सटीक समाधान उन्हें भ० महावीर के अवलोकन मात्र से प्राप्त हुआ था, फलत उन्होंने इनका सन्मति नाम रख दिया। विषधर सर्प से भी भयभीत न होने के कारण लोग उन्हें वीर कहने लगे।

भ० महावीर जन्म से ही अनुपम सुन्दर थे। यौवन के आने ही उनमें और भी निखार आ गया। उनके दिव्यदेह की ऊंचाई सात हाथ थी। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावशाली था।

उनके माता-पिता उनके विवाह हेतु कन्या की तलाश करने लगे। अनेक राजे-महाराजे इसी विषय को लेकर राजा सिद्धार्थ के पास आये। माता-पिता परिणयन के पश्चात् भ० महावीर को राज्य सौंपना चाहते थे पर वे इन दोनों कार्यों के लिए तयार नहीं हुए। मा के अत्यधिक आग्रह को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अत विवाह का बन्धन उन्हें बाध न सका। यौवन में काम पर विजय पाना टेढ़ी खीर है। युवक अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को जीत सकता है पर वह स्वयं काम के द्वारा जीत लिया जाता है। भ० महावीर इसके अपवाद रहे अत प्रजा के व्यक्ति इन्हें अतिवीर कहने लगे।

तीस वर्ष की भरी जवानी में भ० महावीर ने घर छोड़ दिया,और निर्जन वन में जाकर ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन दीक्षा ले ली।

दीक्षा के उपरान्त लगातार बारह वर्षों तक भ० महावीर ने घोर तपश्चरण किया। कड़ाके की सर्दी, गर्मी और बरसात में भी वे तपश्चरण के मार्ग से विचलित नहीं हुए।

जब शीतलहरी की मात्रा प्रखर हो जाती है तब रात भर के बिछुड़े चकवा-चकवी शरीर के अकड़ जाने से प्रभात को मिलन वेला में इच्छा रहते हुए भी अपने-अपने स्नेह को व्यक्त नहीं कर पाते। भूखे हस शैवाल को चोंचों में दबाते ही छोड़ देते हैं। बर्फ जैसी शीतलता के कारण वह उनके गले के अन्दर नहीं पहुँच पाती। हाथी धूलि को उठा कर भी अपने शरीर पर नहीं डाल पाते। सिंह पजों की अकड़न के कारण सामने आये हुए हाथी पर भी आक्रमण नहीं कर पाता। हिरण भूख से व्याकुल होकर भी हरी घास खाने में असमर्थ हो जाते हैं।

भीष्म ग्रीष्म के समय प्रचण्ड मार्तण्ड अपनी प्रखर किरणों से सारी पृथिवी को चूल्हे पर चढ़े हुए तवा की भांति गरम कर देता है। आकाश से आग बरसने लगती है। अनिल और अनल एक जसे प्रतीत होने लगते हैं। जलाशयों का जल काढ़े की तरह खौलने लगता है।

पावस के मौसम में मेघ अपनी इच्छानुसार कभी फूल बरसाते हैं तो कभी पत्थर और अग्नि भी। उपलवृष्टि कभी इतनी जोर की होती है कि भीम काय हाथियों की भी हड्डियां चटक जाती हैं। नदियों में इतनी बाढ़ आ जाती है कि मछलियां भी उन्नत वृक्षों की शाखाओं तक पहुँच जाती हैं। झझावात बड़े बड़े पहाड़ों के शिखरों को भी हिला देता है और वृक्षों को अपने साथ उड़ा ले जाता है। रात्रि के समय अन्धकार इतना गाढ़ हो जाता है कि उसमें सुई की नोक भी नहीं कोंची जा सकती। मूसलाधार वर्षा सारी पृथिवी को जल-मयी बना डालती है।

इस तरह के तीनों मौसम भ० महावीर के तपश्चरणकाल में बारह बार आये पर उनके ऊपर तनिक भी विपरीत प्रभाव नहीं डाल सके। वे ऐसे मौसमों में भी अप्रतिहत शक्ति बने रहे।

इस तरह के घोर तपश्चरण की अग्नि में पड़ कर भ० महावीर का आत्मा कचन की भांति निर्मल एवं पवित्र हो गया। फलत ई० से ५५७

वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भ० महावीर को केवल ज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई। आभ्यन्तर शत्रु–चार घातिया कर्मो पर विजय प्राप्त करने पर उन्हें यह सफलता मिली, अतः अब उनका महावीर नाम पड़ गया।

पूर्णज्ञान की प्राप्ति होने पर तीर्थङ्करों की देशना प्रारम्भ हो जाती है, पर योग्य शिष्य के अभाव मे भ० महावीर की देशना प्रारम्भ नहीं हुई, और ६६ दिनो तक वे मौन पूर्वक विहार करते रहे।

विहार करते–करते वे मगध की राजधानी राजगृही मे पहुँचे और वहां उन्होने विपुलाचल की अधित्यका को अलङ्कृत किया। इस शुभ समाचार को सुनते ही राजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उनके प्रजाजनों ने उनके दर्शनो के लिए अपने अपने स्थान से प्रस्थान कर दिया। भ० महावीर की सर्वज्ञता की बात को सुनकर वहां के प्रतिभाशाली महान् विद्वान् इन्द्रभूति गौतम को, जो ब्राह्मण थे, विश्वास नही हुआ, फलतः वे भी उनकी सर्वज्ञता को परखने के लिए जीवतत्व विषयक जटिल शङ्काओ को लेकर अपने पांच सौ शिष्यो के साथ विपुलाचल पर गये। उन्हे आते देख कर भ० महावीर ने दूर से ही कहा–आओ गौतम, आओ ! गौतम सोचने लगे कि आस पास मे बैठे हुए किसी स्थानीय व्यक्ति से उन्हे मेरा सगोत्र नाम ज्ञात हुआ होगा। पास मे जाकर ज्यो ही वे बैठे त्यो ही भ० महावीर ने बिना पूछे ही उनकी शङ्काओ को बतलाकर उनका विस्तृत सटीक समाधान दे दिया। इससे गौतम इतने अधिक प्रभावित हुए कि तत्काल ही उनके शिष्य बन कर दीक्षित हो गये। उनके पश्चात् वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला और प्रभास भी शिष्य बन गये और दीक्षा ग्रहण कर ली। इन ग्यारह शिष्यों–गणधरो मे प्राधान्य गौतम को प्राप्त हुआ। इसीलिए प्रवचन के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण मे भ० महावीर के बाद उन्ही को मङ्गल रूप मे स्मरण किया जाता है, जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोक से स्पष्ट है—

'मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इसके उपरान्त श्रावण कृष्णा प्रतिपद् के पूर्वाह्न की मङ्गलवेला मे अभिजित नक्षत्र मे भ० महावीर की प्रथम देशना वही पर हुई। लोकहिताय भ० महावीर की यह देशना उनकी बयालीस वर्ष की आयु से बहत्तर वर्ष की आयु पर्यन्त यत्र-तत्र लगातार तीस वर्षो तक चालू रही।

इस देशना का संकलन भ० महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने किया, जो आज द्वादशाङ्गवाणी या विपुल जैन वाङ्मय के रूप में समुपलब्ध है।

भ० महावीर ने अपनी देशना मे बतलाया कि सभी प्राणी सुख के अभिलाषी होते हैं और उसी के लिए वे सतत प्रयत्नशील भी रहते है। दुःख किसी को भी इष्ट नही होता। अतः मानव को ऐसा कोई काम नही करना चाहिए जिससे किसी को दुःख हो। सर्वाधिक दुःख का कारण हिंसा है, अतः हिंसा सभी पापो से बढकर है। जो आज दूसरे प्राणी की हत्या करता है, वही आगे जाकर उसके द्वारा मारा जाता है। पाप का फल इस जन्म के साथ अगले जन्मो मे भी भोगना पड़ता है। अतः हिंस्य के साथ हिंसक भी दुःख का पात्र बनता है। केवल हिंसा का परित्याग करने से झूठ, चोरी, व्यभिचार एवं अतिसंग्रह जैसे पापो से भी छुटकारा मिल जाता है; क्योंकि जिसके बारे में असत्य बात कही जायगी, जिसका धन–बाह्यप्राण चुराया जायगा और जिसकी बहू-बेटी के साथ व्यभिचार किया जायगा, उसे घोर कष्ट होगा, जो हिंसा ही तो है। धन संचय के व्यसन

भी जो धनिक लोभवश, बाजार में आये हुए माल को अत्यधिक मात्रा में खरीद कर रख लेगा वह अवश्य ही उस माल की महगाई का कारण बनेगा, इसमें निधन व्यक्तियों को कष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। अत मानव जाति को सुखी बनाने के लिए हिंसा का मनसा वाचा कर्मणा परित्याग किया जाना चाहिए।

जिन वस्तुओं के खान-पान से हिंसा हो वे भी सर्वथा त्याज्य हैं। मांस बिना हत्या किये प्राप्त नहीं हो सकता। मांस कच्चा हो या अग्नि पर पकाया गया हो पर उसमें प्रतिपल असंख्य सूक्ष्म जीव उत्पन्न हुआ करते हैं अत मांस की जरा सी डली के भक्षण करने में एक ही साथ अगणित प्राणियों का घात हो जाता है। मद्य का निर्माण अनेक मादक वस्तुओं को सडा कर किया जाता है, अत इसमें अगणित जीवों की राशियां उत्पन्न हो जाती हैं, फलत एक बिन्दु मद्य के पान करने से भी असीम जीवों का विनाश हो जाता है। हिंसा के अतिरिक्त भी मद्य-मांस के सेवन में दोष होते हैं, जो शरीरियों और कवायियों को पतन के गर्त में गिरा देते हैं। शहद मधुमक्षिकाओं का वमन है। यह जिस छत्ते को निचोडकर निकाली जाती है, उसमें मधुमक्खियों के करोड़ों अण्डे भी होते हैं, निचोड़ने से उन सब का संहार हो जाता है। बड, पीपल, पाकर, कठूमर और अंजीर आदि क्षीरी वृक्षों के फलों में असंख्य जीव रहते हैं, जो प्रत्यक्षगोचर होते हैं अत इनके सेवन करने वाले हिंसा में लिप्त हो जाते हैं। अनगालित जल के पीने में उसमें रहने वाले जीवों की हिंसा हो जाती है। रात्रि में सावधानी बरतने पर भी न जाने कितने जीव भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं। इसमें उनकी हिंसा हो जाती है और भोजन करने वाले अनेक रोगों के शिकार भी बन जाते हैं। मांस आदि उक्त वस्तुओं के परित्याग को मूल गुण कहते हैं। जैसे जड के बिना वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार इन मूल गुणों के बिना मानव भी सच्चा मानव नहीं हो पाता।

हिंसात्मक धार्मिक अनुष्ठान अपनी पवित्रता से वञ्चित हो जाते हैं और उनका फल भी जैसा सोचा जाता है उससे सर्वथा विपरीत ही होता है।

'ज्ञान के बांध से घिरे हुए, ब्रह्मचर्य और दया के जल से भरे हुए, पाप के मैल को हटाने वाले अत्यन्त निर्मल आत्म-तीर्थ में स्नान करके इन्द्रिय दमन की वायु से प्रज्वलित जीवकुण्डस्थ ध्यानाग्नि में असत्कर्मों की आहुति देकर उत्तम कोटि का अग्नि होत्र किया जाना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को नष्ट करने वाले दुष्ट कषाय रूपी पशुओं में शम-मन्त्रों के उच्चारण के साथ यज्ञ होना चाहिए, जो कि विद्वानों द्वारा विहित है।'—यह उचित है, क्योंकि जो धार्मिक अनुष्ठानों में हिंसा से धर्म की कामना किया करते हैं वे जहरीले काले नाग के मुख के ऊपरी भाग में स्थित विष की पोटली से सुधावृष्टि की इच्छा करते हैं।

धर्म उसे कहना चाहिए, जिसमें अधर्म का तनिक भी संसर्ग न हो, सुख उसे समझना चाहिए, जिसमें दुःख की संभावना तक न हो ज्ञान उसे जानना चाहिए, जो अज्ञान से संयुक्त न हो और गति वह है जहां फिर आने का चक्कर न हो।

यों सारे आकाश में जीव राशि व्याप्त है, इसलिए उठने-बैठने, चलने-फिरने हिंसा हो जाया करती है फिर भी यत्न पूर्वक ऐसे ढंग से चले फिरे उठे-बैठे जिससे हिंसा से बचाव हो सके। हिंसा भावना नहीं होती, वह हिंसा के दोष से बच जाता है।

वैचारिक हिंसा भी हिंसा है। उससे बचने का उपाय स्याद्वाद है। जगत की छोटी या बडी चेतन या अचेतन सभी वस्तुएं नानाधर्मात्मक हैं, इसीलिए उनकी साधक सत्ता अनेकान्त है। अन्त शब्द का

अर्थ धर्म भी होता है। किसी एक धर्म की विवक्षा से उसका कथन करना, एवं अन्य धर्मो का निषेध न करना स्याद्वाद है। 'स्यात' शब्द का अर्थ 'शायद' नहीं है। एक व्यक्ति अपने पिता का पुत्र है, पर अपने पुत्र का पिता भी तो है। पिता के सामने वह पुत्र ही है और पुत्र के सामने पिता ही। अतएव उसे शायद पिता हैं या शायद पुत्र है–यह कहना सही नही है, क्योकि वह अपने पिता का पुत्र ही है और पुत्र का पिता ही है। यह पिता ही है, पुत्र नही है किसी भी दृष्टि से-ऐसा नही कहा जा सकता अन्यथा लोक व्यवहार भी नहीं चल सकेगा जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है।

भारत वर्ष मे शास्त्रार्थ का वडा प्रचार रहा है। इसमें हिंसा भी खूब हुआ करती थी। भ० महावीर ने शास्त्रार्थियों को समन्वय की नयी दृष्टि प्रदान की। सांख्यदर्शन वस्तु को सर्वथा नित्य मानता है और बौद्ध दर्शन सर्वथा अनित्य। पर जैन दर्शन की दृष्टि से वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य भी है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी। प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, अतः उसकी अवस्थाए वदलती रहती है, उसका समूल नाश कभी नही होता। गेहूँ इन्द्रिय ग्राह्य हैं या यों कहिये उनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारो गुण विद्यमान है, अतः ये पुद्गल हैं। गेहूं पिस कर आटा बन जाते है, अतः उनकी अवस्था, जिसका दूसरा नाम पर्याय है, बदल जाती है पर पुद्गलत्व तो बना ही रहता है। इस दृष्टि से गेहूं नित्य भी है और अनित्य भी। इसी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के विषय में गाम्भीर्य विचार करें और ही के स्थान मे भी का प्रयोग करते चलें तो वस्तु की सही जानकारी प्राप्त होगी और कलह का विनाश भी।

प्रयत्न करने पर भी जब इष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती तो अल्पज्ञ व्यक्ति दूसरे के सिर दोष मढ़ कर उसमें अपराधी मानता है, और इसमें हिंसा तक की नौबत आ जाती है। पर समझदार व्यक्ति यदि यह सोच ले कि जैसा कर्मोदय रहा वैसा ही फल मिला है तो झगडे की नौबत नहीं आ सकती और न हिंसा ही हो सकती है। नीव खोदने वाला नीचे की ओर ही वढ़ता जायगा और दीवार वनाने वाला ऊपर की ओर ही। इसी तरह जिसका जैसा कर्म होता है वैसा ही उसे फल मिलता है।

सभी प्राणियों के व्यक्तित्व को अपने ही समान महत्व दिया जाना चाहिए यही वास्तविक साम्यवाद है। जगत के सभी प्राणी एक दूसरे का उपकार करते है, अतः अपने-अपने स्थान मे सभी का महत्व है। मानव समाज का जीवन पशुसमाज पर और पशुसमाज का जीवन मानव समाज पर आश्रित है। जन्म जात शिशु को पहले गाय का दूध दिया जाता है, मां का दूध तो उसे चार-पाच दिनो के वाद मिल पाता है। वैलो से खेती में मदद मिलती है। घोड़े आदि मानव की यात्रा में सहायक होते हैं। अतः मानव समाज का जीवन पशु समाज पर आश्रित है। मानव भी उन्हे खिला-पिला कर जिलाता है, अतः उनका जीवन मानव समाज पर आश्रित है। मानव का जीवन गर्भावस्था से लेकर श्मशान पहुचने तक पराश्रित ही रहता है। जिनका आश्रय लेना पडता है उनमें सभी वर्ग के लोग शामिल हैं। एकेन्द्रिय जीवो को छोटा समझा जाता है, पर वे तो पञ्चेन्द्रिय जीवो से भी अधिक उपकार करते हैं। वनस्पति न हो तो दाल, चावल, गेहूँ, लकडी और ईंधन आदि कहा से प्राप्त होंगे? जल और वायु न हो तो जीवधारी कैसे जीवित रहेंगे? पृथ्वी न हो तो रहने के लिए किसे आधार वनाया जायगा? इस दृष्टि से सभी प्राणियो के व्यक्तित्व का समादर होना चाहिए।

भ० महावीर के इस उपदेश में सभी का हित निहित है। इसके परिपालन से सभी अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'—इस उक्ति के अनुसार भ० महावीर के समय में दार्शनिक क्षेत्र भी

व्यक्ति रहे जो अपने को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं तीर्थ प्रवर्तक मानते थे, यद्यपि उनमें वे विशेषताएं नहीं रहीं जो भ० महावीर में विद्यमान थी। ऐसे व्यक्तियों में पूरण आदि थे, जिनका नामोल्लेख आचार्य विद्यानन्द ने आप्तमीमांसा की दूसरी कारिका का व्याख्यान करते हुए अष्टसहस्री (पृ ४) में किया है।

पूरण के आगे 'आदि' पद जुड़ा हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य विद्यानन्द को मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजयवलट्ठिपुत्र और गौतम बुद्ध—ये पांच और विवक्षित हैं। इनकी मान्यताएं न केवल भ० महावीर से, बल्कि आपस में भी एक-दूसरे से भिन्न थीं। पूरण या पूर्ण काश्यप अक्रियवाद के, मक्खलि गोशाल नियतवाद के, अजित केशकम्बल उच्छेदवाद के, प्रक्रुधकात्यायन अन्यान्यवाद के, संजय वलट्ठिपुत्र विक्षेपवाद के और गौतम बुद्ध क्षणभङ्गवाद के समर्थक थे। उवासगदसाओ (उपासक दशाङ्गसूत्र) के प्रथम और द्वितीय अध्ययन के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मक्खलि गोशाल भ० महावीर का अधिक विरोध करता था—यत्र तत्र जा-जा कर उनके विरोध में उनके भक्तों को भड़काया करता था। पर इन सभी की मान्यताएं इन्हीं के साथ समाप्त हो गयीं। गौतम बुद्ध को छोड़ कर इनमें से किसी का भी कोई साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। इन सबके रहते हुए भी भ० महावीर की प्रभावशक्ति तनिक भी प्रतिहत नहीं हुई।

भ० महावीर की तपस्या और देशना पूर्णत सफल रही। इनकी अहिंसा आदि के कुछ सिद्धान्त भ० बुद्ध को भी मान्य रहे, पर भ० महावीर और उनके अनुयायियों ने अहिंसा के जिस रूप को अपनाया उसे भ० बुद्ध या उनके अनुयायी नहीं अपना सके।

भ० महावीर की अहिंसा ने महात्मा गांधी को भी प्रभावित किया। इसी अहिंसा को शस्त्र बना कर इस देश को दासता की शृङ्खलाओं से छुड़ाने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जैनों की अहिंसा देश की परतन्त्रता का कारण हुई थी। किन्तु यह अवर्णवाद मात्र है। देश की परतन्त्रता का कारण शासकों की विलासिता तथा उनका आपसी विरोध रहा है। देश पर आक्रमण करने वालों के साथ युद्ध करने पर यदि आक्रमणकारियों की हिंसा हो जाय तो वह पाप नहीं है, क्योंकि हिंसा भावना पर आश्रित होती है। ऐसे अवसरों पर देश रक्षा की भावना रहती है, न कि अकारण दूसरों को मारने की। गृहस्थ के लिए चार प्रकार की हिंसाओं में केवल संकल्पी हिंसा ही त्याज्य होती है।

कन्नौज, कलिङ्ग, काशी, कुरुजांगल, कोशल, गान्धार, पञ्चाल, वाल्हीक और सिन्धु आदि अनेक भारतीय देशों में लगातार तीस वर्षों तक धर्मामृत की वर्षा करने के उपरान्त भ० महावीर बिहार प्रान्त की पावा नगरी में पहुंचे और वहां से वे बहत्तर वर्ष की आयु में ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व कार्तिक की अमावस्या की अरुणोदय वेला में मोक्ष गये।



भगवान महावीर के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि

"........भगवान महावीर ने विचारों में अनेकान्त, जीवन में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद व समाज में अपरिग्रह व पांच अणुव्रतों जैसे अनुपम सिद्धान्तों द्वारा अज्ञानी प्राणियों का दिशा बोध किया जो आज भी आकाश दीप की भांति प्रकाश स्तम्भ बन मानव का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं।........"



सुश्री सुशीला कुमारी वैद
एम० ए० पूर्वार्ध, धर्मालंकार

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के प्रातः माता त्रिशला के गर्भ से कुण्डलपुर नामक ग्राम मे भगवान महावीर का जन्म हुआ।

जिस समय भगवान् महावीर ने जन्म लिया, समाज मे हिंसा का बोलवाला था। तत्कालीन धर्माचार्य धर्म की ओट मे अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे, अज्ञान रूपी बादल समाज के चारो ओर मंडरा रहे थे, मानवों का अगर कोई सिद्धान्त शेष था तो वह था 'जीवो जीवस्य भोजनम्' अर्थात एक जीव ही दूसरे जीव का भोजन है। इस प्रकार जो धर्म प्राणीमात्र के सुख और शांति तथा कल्याण के लिये था वही हिंसा, विषमता और प्रताड़न का अस्त्र बना हुआ था।

ऐसे समय मे समाज रूपी रात्रि का अज्ञान रूपी अंधकार दूर करने के लिए भगवान महावीर रूपी सूर्य का भारत वसुंधरा पर उदय हुआ।

जन्म से ही भगवान् का हृदय दयार्द्र था। दीन दुखियो को देखकर उनका हृदय आकुल-व्याकुल हो जाता था। इतना ही नहीं जब तक वे उन दुखियों के दुखों को दूर नहीं कर देते उन्हे शांति न मिलती। वे समदर्शी थे। इस प्रकार भगवान् महावीर की कीर्तिगाथा पवन की भांति सम्पूर्ण भारत में

व्याप्त हो गयी।

वे द्वितीया के इन्दु के समान दिन प्रतिदिन बढकर कुमार-अवस्था मे प्रविष्ठ हुये। एक समय की घटना। भगवान् महावीर अपने इष्ट मित्रो के साथ एक वृक्ष पर चढने उतरने का खेल खेल रहे थे। सगम नामक एक देव भयकर सर्प का रूप धारण कर फुकार करता हुआ वृक्ष की जड से लेकर स्कध तक लिपट गया। सर्प की भयकरता को देख कुमार के सब साथी वृक्ष से कूद-कूद कर घर भाग गये। पर उन्होने अपना धैर्य नही छोडा। वे उसके विशाल फण पर पाव देकर खडे हो गये और आनन्द से उछलने लगे। उसके साहस से प्रसन्न हो कर देव, सर्प का रूप छोड कर अपने असली रूप मे प्रकट हुआ तभी से आपको महावीर नाम से जाना जाता है।

धीरे-धीरे भगवान जवान हो गये। एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने भगवान महावीर से कहा, पुत्र! अब तुम पूर्ण युवा हो गये हो, मै तुम्हारा विवाह कर तुम्हे राज्यभार सौप दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। पिता श्री के वचन सुन भगवान ने कहा—पिताजी, भला जिस ससार से आप बचना चाहते है उसमे मुझे आप क्यो कर फसाना चाहते हैं। आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये जिससे मै जगल के प्रशान्त वायु मण्डल मे रह कर आत्म ज्योति को प्राप्त कर जगत का कल्याण करू।

पिता-पुत्र का यह सवाद सुन माता त्रिशला व्याकुल हो उठी। उसकी आखो के सामने अधेरा छा गया और वह बेहोश हो गई। होश आने पर भगवान महावीर ने उन्हे ससार की असारता के बारे मे समझाया, तब माता त्रिशला ने उन्हे खुशी से दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

भगवान् महावीर के दीक्षा ग्रहण के समय देवगण जय जय घोष करते हुये आकाश मार्ग से कुण्डलपुर आये। वहा उन्होने भगवान का दीक्षाभिषेक किया। सुन्दर आभूषण धारण करने के पश्चात् देव निर्मित चन्द्र प्रभा पालकी पर सवार होकर वन मे आये और वहा अगहन बुदी दशमी के दिन 'ॐ नम सिद्धेभ्य' कह कर वस्त्रादि त्याग दिये और आत्म ध्यान मे तल्लीन हो गये।

एक दिन भगवान् महावीर उज्जयिनी के अति मुक्तक नामक श्मसान मे गये और प्रतिमा योग धारण कर वही विराजमान हो गये। उस देव महादेव रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा लेनी चाही। उसने वेताल विद्या के प्रभाव से रात्रि के अधकार को अत्यधिक सघन बना दिया। तदनन्तर सर्प, सिंह, हाथी और अग्नि आदि के साथ लम्बी सेना बना कर आया और कठोर उपसर्ग किये। पर भगवान महावीर आत्म ध्यान से तनिक भी विचलित न हुए। भगवान् महावीर के इस अनुपम धैर्य को देखकर महादेव रुद्र अपने असली रूप मे आया और भगवान से क्षमा याचना की।

जृम्भिका गाव के समीप ऋजुकूला नदी पर मनोहर नाम के वन मे सागौन वृक्ष के नीचे भगवान महावीर ध्यानस्थ थे। वही पर उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। देवो ने आकर ज्ञान कल्याण का उत्सव मनाया और समवशरण की रचना की।

तभी भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी और इन्द्रभूति जिसका अमर नाम गौतम था, उनका पहला गणधर बना।

इसके पश्चात् इनके वायुभूति, अग्नि सुधर्म, मौर्य मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेल और प्रभास आदि दस गणधर और बने।

इनके अतिरिक्त इनके समवशरण मे तीन सौ ग्यारह द्वादशाग के वक्ता थे, ९ हजार ९ सौ शिक्षक थे तेरह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवल ज्ञानी थे तीन लाख श्राविकायें थी, असख्यात देव-देविया और

संख्यात तिर्यन्च थे। इन सबको उन्होने नय प्रमाण और निक्षेपों से वस्तु का स्वरूप बताया।

इसके पश्चात् सम्पूर्ण भारत में विहार कर धर्म प्रचार किया। सर्वप्रथम भगवान महावीर ने धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्यय को रोकने के लिये यज्ञो का विरोध किया जिससे जनमानस में यज्ञ विरोध इतना विकसित हुआ कि पशु यज्ञो का नाम ही शेष रह गया।

भगवान महावीर ने विचारो में अनेकान्त, जीवन में अहिसा, वाणी मे स्याद्वाद व समाज मे अपरिग्रह व पाच अणुव्रतो जैसे अनुपम सिद्धातो के द्वारा अज्ञानी प्राणियो का दिशाबोध किया, जो आज भी आकाश दीप की भांति प्रकाश स्तम्भ बन मानव का पथ-प्रदर्शन कर रहे है।

जीवन के अन्तिम वर्षो मे भगवान महावीर पावापुरी आये और वहां ध्यान में लीन हो गये। वही पर उन्होने सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर कार्तिक बदी अमावस्या के दिन प्रात.काल ७० वर्ष की अवस्था मे मोक्ष लाभ किया। देवो ने आकर निर्वाण क्षेत्र की पूजा की और उनके गुणो की स्तुति की।



"भगवान महावीर का जयन्तीं समारोह एक ऐसा अवसर है जब कुछ क्षणों के लिये हमें अपने हृदय को टटोलना चाहिए और अहिंसा के महान् आदर्श के महत्व को समझने का यत्न करना चाहिए। दैनिक जीवन में अहिसा को एक सहज सिद्धान्त के रूप में सबसे पहले लागू करने का श्रेय भगवान महावीर को ही है। इसीलिए हम उन्हें अहिंसा के प्रवर्तक कहते हैं। सभी भारतवासियों को चाहे वे भगवान महावीर के अनुयायी हों अथवा नहीं इस महान देन पर गर्व है।"

—स्व० डा० राजेन्द्र प्रसाद

भजन

रे मन ! महावीर जय वोल !

यह दुनिया है एक तमाशा,
इसकी क्या करता है आशा !
अगर चाहता है सुख मग तो,
अपनी गाठ टटोल !

रे मन ! महावीर जय वोल !

दुर्लभ ये मनुष्य की काया,
लुटा रहा क्यो अनुपम माया ।
वदले मे क्यो हस हस लेता
कुटिल वासना मोल !

रे मन ! महावीर जय वोल !

करना है जो उसको करले,
है अवसर भव-सागर तरले ।
ज्ञान मयी अपने अन्तर मे,
प्रेम भावना घोल !

रे मन ! महावीर जय वोल !

विश्व गुलामी, है नादानी,
आई यह स्वतन्त्रता रानी ।
स्वागत कर 'भगवत' अव उसका,
अपने घट पट खोल !

रे मन ! महावीर जय वोल !



महावीर जयन्ती

१६६६

सार्वजनिक सभा में
सर सेठ श्री भागचंद सोनी (अजमेर)
अध्यक्षीय भाषण करते हुए।





संस्कृतिक कार्यक्रम की एक झांकी





सर्वोदयी नेता श्री गोकुल भाई भट्ट
सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए

जैनधर्म और विश्व शांति

"जैन धर्म ही वह विधा है जिस की आधार शिला प्रेम और शांति रही है, जिसकी वृद्धि के युग में मानव का चरित्र स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक रहा है। इतिहास से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य सदृश जैन नरेशों के शासन काल में प्रजा का जीवन सुखी एवं आचरण पवित्र था। वह समृद्धि के शिखरार पर समासीन थी। आज भी इस वैज्ञानिक धर्म के प्रकाश में जो लोग अपनी चर्या व्यतीत करते हैं वे अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक सुखी समृद्धि और समुन्नत हैं।"



सुश्री राजकुमारी जैन
M.A. शास्त्री

आज विश्व युद्ध की विभीपिका से त्रस्त एक ऐसी कगार पर खड़ा है जहां से वह कभी भी विध्वंस के गर्त मे गिर सकता है। आज मानव मानव के खून का प्यासा हो उठा है। भौतिक रूप से मानव जितना समृद्ध हो रहा है आध्यात्मिक रूप से वह उतना ही दीन हीन हो रहा है कि चिर सुख और शान्ति के मार्ग को क्षणिक सुख के लिये भुला बैठा है। सर्व भक्षी भौतिक वाद का प्रचुर विकास होने से पहले तो ससार की आंखे विज्ञान के चमत्कार के आगे चकाचौंध युक्त सी हो गयी थी। किन्तु एक नहीं दो दो महायुद्धों ने विज्ञान की चमक दमक को समाप्त कर दिया। अणु बम इस तथा कथित प्रगति शील विज्ञान का ही अभिशाप है जिसने अल्पकाल में ही सैकड़ों जानों को स्वाहा कर दिया। कुछ जन नायकों की महत्वाकांक्षाओं की पुष्टि की लालसा के निमित्त हजारों व्यक्ति क्षण भर में भून दिये गये।

२. अभी हम गत युद्धों के दुष्परिणामों से पूर्णतया संभल भी नहीं पाये थे कि फिर से तृतीय महायुद्ध के बादल हमारे सर पर मंडराने लगे हैं। भारत व पाकिस्तान की समस्या विश्व के सामने है, चीन जो कभी हमारा दोस्त था [illegible] आज हमारी ही जमीन हड़प कर रहे युद्ध की [illegible]

दे रहा है । कुछ लोग अपने राजनैतिक स्वार्थ के खातिर सदियों की भ्रातृत्व भावना को भूल कर सारी मानव जाति जो शांति से जीने की इच्छुक है, को युद्ध की ज्वाला में धकेल देना चाहते हैं। ईरान इजराइल को युद्ध की धमकी देता है, पाकिस्तान भारत को बार बार ललकारता है, चीन का भारत के प्रति रवैया हम देख ही रहे हैं। ये सब सम्पूर्ण विश्व को कभी भी मौत के मुंह में धकेल सकती है।

३ प्रश्न है क्या हमे इन्हीं भय ग्रस्त परिस्थितियों में जीना होगा ? यदि जीवन की गाडी इसी ढर्रे पर चलती रही तो यह जीवन जीवन नहीं मौत से भी बढ़कर है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। युद्ध का भयानक ताण्डव देख मानव ने शान्ति की आवश्यकता अनुभव की और उसका पथ प्रदर्शन किया धर्म ने। विश्व में उत्पन्न हुयी विचित्र परिस्थितियां एवं अनगिनत समस्याओं से व्यथित त्रस्त करुण विश्व शान्ति निमित्त धर्म का द्वार खटखटाता है और कहता है कि हम उच्च तत्व ज्ञान और गम्भीर चिंतनाओं वाले धर्म की उतनी जरूरत नहीं है जितनी कि उस धर्म की जो कलह, विद्वेष, अशान्ति उत्पीडन आदि विपत्तियों से बचाकर शान्ति और कल्याण का मार्ग बतावे। जैन धर्म ही वह विद्या है जिसकी आधार शिला प्रेम और शान्ति रही है। जिसकी वृद्धि के युग में मानव का चरित्र स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक रहा है। इतिहास से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य सदृश जैन नरेशों के शासन काल में प्रजा का जीवन सुखी एवं आचरण पवित्र था। वह समृद्धि के शिखर पर समासीन थी। आज भी इस वैज्ञानिक धर्म के प्रकाश में जो लोग अपनी जीवन चर्या व्यतीत करते हैं वे अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक सुखी समृद्ध और समुन्नत हैं।

४ आज लोगों तथा राष्ट्रों का झुकाव स्वार्थ पोषण, शोषण, दल-प्रमुख तथा सत्ता एकत्रित करने की ओर है 'survival is the fittest' समर्थ का ही जीने का अधिकार है, दुर्बल को सदैव के लिये मृत्यु की गोद में सो जाना चाहिये' यह है आज के युग की बुलन्द आवाज। आज के सत्ताधीश दूसरों की दुर्बलता से लाभ उठाकर प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, साम्राज्यवाद, साम्यवाद आदि मोहक सिद्धान्तों के नाम पर बड़े २ देशों को हजम कर लेते हैं जैसे व्याघ्र गाय को स्वाहा कर लेता है। ऐसी व्याघ्र वृत्ति वाले राष्ट्रों के सम्मुख League of Nations (राष्ट्र संघ) प्रायः विनोद जनक रही और U N O (संयुक्त राष्ट्र संघ) भी महत्व पूर्ण प्रभाव नहीं दिखा पा रहा है। शान्ति के उपासकों का प्रभाव इतना अल्प है कि वे कूट-नीतिज्ञों के छल प्रपंच के विरुद्ध कुछ नहीं कर पा रहे हैं। धन और सत्ता के बल पर सत्य का द्वार बन्द है।

५ जैन धर्म सबको पुरुषार्थ और आत्म निर्भरता की शिक्षा देता हुआ समझाता है कि यदि तुमने दूसरों के साथ न्यायोचित व्यवहार किया तो तुम्हें विशेष शान्ति और आनन्द प्राप्त होगा। यदि प्रभुता के मद में दूसरों के अधिकारों का अपहरण किया तो तुम्हारा जीवन विपत्ति की घटाओं से घिरा होगा। प्रकृति का यह अबाधित नियम 'As you sow so you reap' जैसा बोओ वैसा काटो' किसी के साथ तनिक भी रियायत नहीं करेगा।

६ यन्त्रवाद के विशेष प्रचार के कारण अपेक्षाकृत वस्तुओं की उत्पत्ति अवश्य विपुल परिमाण में हो गयी है किन्तु फिर भी इस समृद्धि के मध्य गरीबी (Poverty amid prosperity) का कष्ट बढ़ता ही जा रहा है। आज की राजनीति की चालें ही विचित्र हैं चाहे मानव को खाने को दाना न हो किन्तु लाखों टन गेहूं तथा अन्य खाद्यान्न विदेशों में इसलिये जला दिये जाते हैं या नष्ट किये जाते हैं कि बाजार का निर्धारित

भाव घटने न पावे। आज पूंजीपति यूरोप व अमेरिका का प्रमुख ध्येय धन सचय करना ही है। धन ही उनका ईश्वर है, भगवान है, परमात्मा है। महात्मागांधी के शब्दो में—लोग चाहे जो कहे धन आखिर किसी का सगा न रहा वह हमेशा बेवफा दोस्त साबित हुआ है। इसीलिये कहते है कि अमेरिका का भविष्य उजला था। लेकिन यदि वह इसी तरह धन की पूजा करता रहा तो उसका भविष्य काला है। आज जो पश्चिम मे धन की पूजा हो रही है इसके स्थान पर वहा करुणा, सत्य, परिमित परिग्रह वृत्ति अचौर्य ब्रह्मचर्यादि की आराधना होनी चाहिए। करुणा की छाया में सभी जीव आनन्दित होते हैं। सुख का सिन्धु वही दिखाई देता है जहां करुणा की मन्दाकिनी वहा करती है। पूंजीवाद की समस्या भी सुलझ सकती है यदि पूंजीपतियो के हृदय मे यह बात जम जाय कि—"बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुष." अर्थात बहुत आरभ और परिग्रह नरकायु के कारण है। थोडा आरंभ और थोडा परिग्रह मनुष्य आयु के कारण है। माया तैर्यक्यो-नस्य" माया पशुगति का कारण है। पवित्र आचरण, जितेन्द्रियता और सयम के द्वारा सुरत्व की उपलब्धि हो सकती है।

७. आज शोषण का बोलबाला है 'Might is right' 'बल ही सच्चा है' की नीति सर्वत्र अपनायी जाती है। आज शासक शासितो का, धनी निर्धनो का, मिल मालिक मजदूरो को शोषण करने मे मग्न है। उन्हें यह ध्यान नही कि शासक का कार्य जोंक की तरह शोषण नही वरन् मेघमाला के समान अमृत वर्षा कर इस भूतल को सर्व सम्पन्न और समृद्ध करना है। सभी धार्मिको को 'जीवो और जीने दो' (Live and let live) के सिद्धांत का पालन करना चाहिये। उनके हृदय मे यदि प्राणी मात्र के प्रति 'समता सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकं' की भावना प्रतिष्ठित हो जाय तो वह दिन दूर नही जब विश्व मे शान्ति का झण्डा लहराने लगेगा।

८. बढती हुयी जन संख्या के समाधान के भले ही वैज्ञानिको मे कृत्रिम उपाय निकाले लेकिन कुछ लाभ न हो सका। माल्थस के सिद्धांतानुसार यदि उत्पादन की वृद्धि ३+२ के अनुपात मे होती है तो जन संख्या की वृद्धि ३×२ के अनुपात में हो रही है। जैन धर्म मे तो प्राचीन काल से ही इस समस्या को हल करने के लिये 'विषय भोगो पर अनासक्ति, आत्म सयम (Self control) एवं ब्रह्मचर्यादि का उल्लेख मिलता है। यदि अधिकाश व्यक्ति इस पर अमल करे तो यह समस्या सहज ही दूर हो सकती है।

९. जैन दर्शन का अध्ययन करने से ज्ञान होता है कि पंचशील के सभी सिद्धात जो विश्व शांति के लिये आवश्यक हैं दार्शनिक भूमिका पर प्रस्तुत किया है। जैन धर्म मे प्रत्येक आत्मा को समान स्वभाव व धर्म वाला माना गया है। यदि विश्व मे शान्ति व पर सम्मान की भावना को जाग्रत करना होगा। दूसरे के स्वार्थ को स्वय का स्वार्थ मानना होगा। समझौते की ओर झुकना होगा, अधिकारो के साथ कर्तव्यों का ज्ञान कराना होगा, व्यक्ति स्वातन्त्र्य को प्रधानता देनी होगी जो विचार मे अनेकान्त, सहिष्णुता, समानाधिकार अहस्तक्षेप की भावना को जन्म देगी। आज मानव विश्व शान्ति की मांग कर रहा है जिसकी पूर्ति आचार मे अहिंसा विचार मे अनेकान्त और वाणी में स्याद्वाद से ही सभव है जो कि जैन धर्म के मूल स्तंभ है। भारत की तटस्थ नीति जो समझौते के आधार पर बनी हुयी है आज विश्व को युद्ध के भयंकर दावानल से बचाये हुये है और सह अस्तित्व, भ्रातृत्व और समझौते की भावना की ओर मार्ग प्रशस्त कर रही है।

भजन

सन्मति ज्ञान भरु मेरे मन मे।
क्रोध मोह ममता को तोडू,
लोभ मान माया को छोडू,
तीन गुप्ति को धारण करके, ध्याऊ चेतन मन मे ।।
अपने सम समझू, मैं सब को,
प्रेम-भाव सिखलाऊ जग को,
जग के दुख से मुक्ति पाने जाकर बैठू वन मे ।।
अति क्रूर कर्म-रिपु को मारु,
आशा निराशा को सहारु,
ममता ही बधन का कारण, भाव भरु यह मन मे ।।
दर्शन, ज्ञान, चरित्र सिखाऊ,
आत्म तत्व ही सार बताऊ,
सुन्दर मुक्ति मिलाप होय तब व्यापे सिद्ध भुवन मे ।।
सब—धर्म—समभाव सुनाऊ,
मोक्षमार्ग हितकर समझाऊ,
सत्य अहिंसा-मार्ग दिवाकर चमके आत्म गगन मे ।।

भगवान् महावीर की सत्य-संधित्सा

"......जव तक उन्हें (भगवान महावीर) को । सत्य प्राप्ति नही हुई, उन्होंने सत्य का उपदेश भी नहीं किया । सत्योपलब्धि के बाद भी उन्होंने कभी यह नही कहा कि मै जो वताता हूँ उसी का अनुसरण करो किन्तु उनका स्पष्ट और प्रवल उद्घोष था स्वय सत्य की शोध करो । ...."



साध्वी मंजुला

एक व्यक्ति प्यास से आकुल हो रहा था । उसे पानी की चाह थी, पर वह उसके लिए श्रम करना नही चाहता था । जव विना श्रम किये उसकी प्यास नही बुझी तो उसने परिश्रम करना शुरू किया पर वह नही जानता था कि श्रम कहा करना चाहिए ? इस ज्ञान के अभाव में उसने निर्जल भूमि को खोदा, पानी नही मिला । ज्ञान और क्रिया का योग हुआ । भूमि सजल थी और खोदने का श्रम भी किया गया था पर निष्ठा का अभाव था । पाच, सात हाथ भूमि खोदी, जल नहीं निकला तो व्यक्ति अधीर होकर दूसरे स्थान को खोदने लगा । वहा भी जल नही मिला । इस प्रकार चार-पांच स्थानो से भूमि को खोदा गया पर सफलता नही मिली । और व्यक्ति प्यास से तडपता रहा ।

एक दूसरा व्यक्ति जिसमें ज्ञान, क्रिया और निष्ठा का योग था, उसने अपने ज्ञान से भूमि का परीक्षण किया: परिश्रम पूर्वक उसका खनन किया और तब तक उसका धैर्य विचलित नही हुआ जब तक उसे भूमि पर तैरता हुआ जल दिखाई नही दिया । श्रम सफल हुवा । पानी पीकर वह स्वयं तो तृप्त हुआ ही लाखों-लाखो प्राणियो का सहयोगी बन कर कृतकृत्य भी हो गया ।

भगवान महावीर ने जीवन की सफलता के लिए ज्ञान, क्रिया और निष्ठा का होना आवश्यक माना है । सत्यशोध जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है ।

इस लक्ष्य की सिद्धि में अज्ञान और अकर्मण्यता की भाँति ही आतुरता भी बाधक है। सत्य पाने के लिए आतुर होने वाले व्यक्तियों का पथ-दर्शन करते हुए भगवान महावीर ने कहा सच्चंसि धिइ कुव्वहा' सत्य में धैर्य रखो। धैर्य के अभाव में व्यक्ति सत्य के समीप पहुंच कर भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक लोगों की आस्था कितनी विचित्र है? वे एक भौतिक अभिसिद्धि के लिए सैकड़ों वर्षों तक धैर्य में कायरत रह सकते हैं पर एक अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति आंतरिक उपलब्धि के अन्तिम छोर पर आकर अपना धैर्य खो बैठता है। यह अधीरता ही अध्यात्म का प्रकाश फैलाने में बाधा बन रही है।

भगवान् महावीर को 'सत्य' की तीव्र जिज्ञासा थी। वे जनसंग्रह को महत्व न देकर जन-जन को सत्य की एषणा में लगाने का महत्व देते थे। जब तक उन्हें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई, उन्होंने सत्य का उपदेश भी नहीं किया। सत्योपलब्धि के बाद भी उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मैं जो बताता हूं उसी का अनुसरण करो किन्तु उनका स्पष्ट और प्रबल उद्घोष था।

"अप्पणा सच्च मेसेज्जा"

स्वयं सत्य की शोध करो। अन्य द्वारा शोधित सत्य से भी व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है पर उसी में तृप्ति का अनुभव करना 'सत्य पर आवरण डालना है।

भगवान् महावीर एक परम्परावद्ध धर्मसंघ के अनुशास्ता थे फिर भी वे वैचारिक अभिनिवेश से सर्वथा मुक्त थे। उनके विचारों की उदात्तता ने कभी यह आग्रह नहीं किया कि धर्म की आराधना या सत्य की आराधना किसी अमुक वेशभूषा या सम्प्रदाय में ही हो सकती है।

वेष-भूषा के साथ धर्म का अनुबन्ध हो ही नहीं सकता। धर्म आत्मगत नहीं होता तो मुनि का वेश स्वीकार करने पर भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने संघबद्ध साधना की बात बताई थी, किन्तु इसके साथ यह भी कहा था कि एक एक व्यक्ति धर्मसंघ को छोड़ देने पर भी धर्म से रिक्त नहीं होते और कुछ व्यक्ति धर्म-सम्प्रदाय की सीमाओं में रहकर भी धर्म को आत्मसात् नहीं कर सकते।

भगवान महावीर का यह दृष्टिकोण उनके अनाग्रहभाव, उदारता और सत्यसंधित्सा का प्रतीक है। वे सम्प्रदाय के ममत्व, विधि विधानों के घेरे और जन संग्रह की तृष्णा में कभी नहीं उलझे। उनके अभिमत से सम्प्रदाय, विधि विधान आदि सत्य शोध में सहायक बन सकते हैं। वे मुक्तभाव से सत्य के निकट पहुंचे और संसार को सत्य शोध की प्रेरणा दी।

भगवान् महावीर के हर अनुयायी का यह पहला कर्त्तव्य है कि वह वैचारिक आग्रह को छोड़ कर सत्य को अनावृत करने का प्रयास करे।

महावीर का जीवन दर्शन

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्री
साहित्य शोध विभाग, दि० जैन अ०
क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर

"........अहिंसा जगत की माता है क्योंकि वह समस्त जीवों की प्रतिपालना करने वाली है। अहिंसा ही आनन्द देने वाली है। यही उत्तम गति और शाश्वत लाभी है। जगत् में जितने भी उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब अहिंसा में ही निहित हैं। अहिंसा मुक्ति प्रदातृ है। उसी से आत्महित संभव है।...."



महाश्रमण महावीर लोकोत्तर मानव थे। उनका जन्म धर्म की पुनः स्थापना के लिये हुआ था। उनके जन्म के समय सारे देश में यज्ञों के नाम पर हिंसा का नग्न ताण्डव हो रहा था। यज्ञों क्रियाकान्डों एव पोपडम का सीमातीत प्रचार बढ़ने से अधिकांश जनता का जीवन अशान्त एवं भयातुर बन चुका था। पशुओं की बलि तो सामान्य बात हो गई थी। उन्हे गाजर मूली की तरह काट पीट दिया जाता अथवा यज्ञो मे होम दिया जाता था। कहीं कहीं तो गरीब अनाथ एव उत्पीडित मानव भी बलि चढ़ा दिये जाते। यज्ञो की धुंआ के कारण आकाश स्वच्छ ही नही होने पाता और उस वातावरण मे अहिंसक एव शान्त लोगो का दम घुटने लगा था। ऊंच नीच का भेद भाव अपनी चरम सीमा पर था और इस कारण एक वर्ग के व्यक्तियो को सामान्य मानव के अधिकार भी सुलभ नही थे तथा उनके विकास के सभी मार्ग बन्द कर दिये गये थे। शासन एवं समाज संचालन की कमान एक वर्ग विशेष के कुछ व्यक्तियो ने संभाल ली थी और वे अपने स्वार्थ साधन मे ही लगे रहते थे। बड़े बड़े राजा महाराजा भी उनसे डरते और उन्हे प्रसन्न करने का ही प्रयत्न करते। समाजवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद का बोलबाला था। न किसी को कुछ कहने का अधिकार था और वह केवल एक वर्ग के हाथ मे रह गया था

इसलिये अधिकांश जनता अशिक्षा एवं अज्ञान की चक्की में पिसा करती थी। धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार होते और जनता उनका शिकार बनती थी। पददलित एवं उत्पीड़ित समाज राजनीति का मुख्य आधार धर्म बन चुका था और उसकी आड़ में स्वार्थी व्यक्तियों ने बहुसंख्यक प्रजा को पीस डाला था।

महावीर के पूर्व तेईस तीर्थंकर और हो चुके थे। उनसे पूर्व राम और कृष्ण ने अपने चरण कमलों से भारत भूमि को पावन किया था। इन सभी महापुरुषों ने जनता में बड़ी भारी क्रान्ति फैलायी थी। अन्याय का घोर विरोध करके न्याय की स्थापना की थी। कर्मण्येवाधिकारस्तु का पाठ पढ़ाने वाले योगीराज कृष्ण ने मानव मात्र को कर्त्तव्य पथ पर बढ़ते जाने का अमोघ मन्त्र दिया था। उन्हीं के समकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ ने गिरिनार में अहिंसा एवं सत्य का सन्देश प्रसारित किया था। उनके पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ ने वाराणसी में जन्म लेकर उत्तर भारत को अपने चरण रज से पवित्र किया था तथा धर्म पर चलने वाले पाखण्डवाद के विरुद्ध जिहाद बोला था। वे स्वयं राजकुमार थे लेकिन जनता के हित उन्होंने राजपाट छोड़कर गांव गांव एवं नगर नगर में विहार किया था। उन्होंने मानव को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित कराया तथा चारों ओर जगत में शान्ति की स्थापना की थी। उनके निर्वाण को २५० वर्ष हो चुके थे। इस अवधि में स्वार्थी एवं धर्मान्ध व्यक्तियों को फिर अपना सिर उठाने का अवसर मिल गया और वे समझने लगे कि अब उन्हीं का साम्राज्य है तथा किसी में उनके विरुद्ध आवाज उठाने का साहस नहीं है।

महावीर का जन्म

ऐसे युग में महावीर का जन्म हुआ। उनके जन्म के दिन चैत्र शुक्ला त्रयोदशी थी और वह ईसा के ५९९ वर्ष पूर्व का समय था। तारीख के अनुसार उस दिन ३० मार्च थी। उनके जन्म के साथ ही चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भी सदा सदा के लिये पवित्र हो गई। महावीर क्षत्रिय कुल में पैदा हुये थे। उनके पिता महाराजा सिद्धार्थ थे जो ज्ञातृ वंशी काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। महाराजा सिद्धार्थ कुण्ड ग्राम अथवा कुण्डल नगर के राजा थे। यह कुण्डल नगर वज्जी संघ की प्रधान राजधानी वैशाली के निकट था। कुण्डलपुर का एक छोटा राज्य अवश्य था लेकिन उसमें अन्य राज्यों की अपेक्षा शान्ति थी। महावीर की माता का नाम त्रिशला था जो प्रियकारिणी एवं विदेहदत्ता भी कहलाती थी। वह वैशाली के अधिपति चेटक की बहिन थी।

महाराजा सिद्धार्थ का राज्य गणतन्त्र राज्य था। प्रजा के द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि राज्य कार्य में सलाह देते थे। प्रजा सिद्धार्थ के शासन से अत्यधिक सन्तुष्ट थी। इसलिये जब राजघराने में कुमार महावीर का जन्म हुआ तो सारे राज्य में राजकुमार के जन्म पर अपूर्व खुशियाँ मनाई गई। प्रजा आनन्द विभोर हो उठी और अपने विकास एवं उत्थान का स्वप्न देखने लगी। महावीर जैसे युवराज को पाकर वह प्रसन्नता से भर गई। बालक महावीर लोकोत्तर गुणों के धारी थे। इसलिये उन्हें पाकर माता पिता की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। वैसे उनके जन्म से पहिले से ही उन्हें आनन्दानुभव होने लगा था। अकाल महामारी आदि भयंकर रोगों से मुक्ति मिल चुकी थी। बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया।

वर्द्धमान बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि एवं अतिशय तेजोमय थे। जो भी एक बार उनका दर्शन कर लेता वही कृतकृत्य हो जाता और बार बार उनके दर्शन करने का प्रयास करता। माता पिता एवं परिजनों के आनन्द का तो ठिकाना ही

क्या था। वे अपनी बाल सुलभ क्रीडाओं से सबको आनन्दित करते रहते। इस तरह महावीर बचपन से ही जनता के अत्यधिक प्रिय बन गये। एक बार दो चारण ऋद्धिधारी संजय विजय मुनियों को तत्व व्यवस्था मे कुछ शंका हो गई। इसके निवारणार्थ वे दोनों बालक वर्द्धमान के सामने पहुँचे तो उनके दर्शन मात्र से ही उनकी शंकाओ का समाधान हो गया। इसी चमत्कार से उन्हें सन्मति नाम से पुकारा जाने लगा। उनके महान् व्यक्तित्व की बात चारों ओर फैल गई और उनकी लोक प्रियता दिन प्रतिदिन बढने लगी।

राजकुमार वर्द्धमान में बचपन से ही आत्म-विश्वास भरा पड़ा था। विपत्ति को देखकर घबराना तो वे जानते ही नही थे। उनका सफलता पूर्वक सामना करते थे। कहा जाता है कि एक बार वे उद्यान मे अपने साथियो के साथ खेल रहे थे। खेल में सभी बालक इतने खोये हुये थे कि किसी को कुछ भी पता न था कि बाहर क्या हो रहा है। कभी वे पेड़ पर चढते और कभी उतरते। इतने मे ही एक भयंकर सर्प भी उनकी क्रीड़ा मे आनन्द लेने के लिये इधर से निकल आया और वह उनमे शामिल हो गया। जब राजकुमारो की दृष्टि उस नाग पर पड़ी तो वे चीत्कार करके भाग खड़े हुये लेकिन महावीर जरा भी नही डरे और उसे हाथ से उठा कर उसी से खेलने लगे। वास्तव मे वह सर्प एक देव था जो स्वर्ग से महावीर के निर्भीकता की परीक्षा लेने के लिये ही वहां आया था। इस घटना के पश्चात तो उनकी वीरता एवं साहस आम चर्चा का विषय बन गया। उन्हे "वीर" नाम से पुकारा जाने लगा।

बाल्यकाल मे वे राजकुमारो के साथ क्रीडा अवश्य करते लेकिन जब वे गरीबों, असहायों तथा उत्पीडित मानवों को देखते तो वे चिन्तित हो उठते और घन्टों एकान्त में मानव तथा प्राणी मात्र की निराकुलता एव समाज शान्ति की समस्या पर विचार करते। जब वे बाजार में निकलते अथवा अन्य समारोहो मे शामिल होते तो उन पर सामाजिक भेद भाव, धर्म के नाम होने वाले अत्याचारो तथा लोगो की ऊंच नीच की भावनाओं का बड़ा प्रभाव पडता। उनका हृदय पिघल जाता और सभी को साथ लेकर चलने की बात सोचा करते। कभी कभी तो उनके इस तरह के चिन्तन पर माता पिता घबरा उठते और उन्हे सदा ही उल्लास एवं प्रसन्नता के वातावरण में रखने का प्रयत्न करते और उन्हें समारोहो एवं प्रजा के साथ घुल मिलने के कार्यक्रमो से दूर रखते।

जब उन्होंने यौवन में प्रवेश किया तो उनकी सुन्दरता, शरीर का गठन देखते ही बनता था। वे साक्षात कामदेव लगते और उनसे अधिक सुन्दर एव सुडौल कुमार की जब तलाश की जाती तो नकारात्मक उत्तर ही मिलता। माता पिता उनका विवाह करने की तैयारी मे थे लेकिन महावीर तो महावीर थे। माता पिता का जब भी विवाह का प्रस्ताव सामने आता वे उठ कर चल देते। माता त्रिशला ने राजकुमार के मन की बात जानने के लिये कितने ही सेवको तथा परिजनो को नियुक्त किया। महावीर के बाल साथियो से विवाह के प्रस्ताव पर विचार करने का अनुरोध किया। लेकिन किसी की सिफारिश पार न पड़ी। सभी ने सुन्दर से सुन्दर राजकुमारियों के नाम गिनाये। गृहस्थावस्था का गुणानुवाद किया। पहिले के तीर्थंकरो के उदाहरण दिये। यही नही राज सत्ता मिट जाने की आशंका प्रकट की तथा अपनी वृद्धावस्था की दुहाई दी। प्रजा के प्यार एव जगत की परम्परा को पालने का नाम लिया। लेकिन महावीर ने स्वयं का और जगत के उद्धार का जो निश्चय कर लिया था उस निश्चय से वे कैसे मुड़ते। जो पाव क्रान्ति की ओर बढ़ चुके थे, वे कैसे पीछे हटते। उनके हृदय में तो सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति करने की जो लगन थी। वे जगत के सुन्दरतो

से सेवा कराने नहीं आये थे और न राज्य करने अथवा अनेक राज्यों को जीत कर सम्राट बनने। ऐसे सुख तो उन्होंने पहिले कितने ही भवों में भोग लिये थे लेकिन फिर भी उनमें तृप्ति नहीं मिली थी। इसलिये जिससे सदा ही अतृप्ति मिले तो फिर उसी ओर जाने का क्या प्रयोजन।

एक एक वर्ष व्यतीत होते होते महावीर तीस वर्ष के हो गये। उन्होंने माता पिता को अपने गृह त्याग के निश्चय की सूचना दे दी। माता पिता ने भी अपना कठोर हृदय करके उनकी बात मान ली इनके गृह त्याग के पूर्व विशाल राज दरबार लगाया गया। प्रजाजनों की भारी भीड़ अपने प्रिय राजकुमार को देखने के लिये उमड़ पड़ी। राजकुमार का यह अंतिम दरबार था। इसलिये वे भी राजसी ठाट बाट में आये थे। उनके स्वागत के लिये कितने ही तोरण द्वार बनाये गये। मार्ग के दोनों ओर दर्शकों की अपार भीड़ थी। महावीर इस मार्ग से निकले और राजदरबार में जा पहुँचे राजकुमार महावीर की जय के नारों से दरबार गूंज उठा। महावीर ने भी सबका अभिवादन हाथ जोड़कर स्वीकार किया। जय जयकार समाप्त होने के पश्चात् उन्होंने प्रजा को अपने निश्चय से अवगत कराया और कहा कि कल से राजकुमार महावीर नहीं किन्तु भिक्षु महावीर कहलायेंगे। उसका न कोई राज पाट होगा न बन्धुजन और न परिवार के लोग। वे दिगम्बरी दीक्षा लेकर अपने आत्मविकास के पथ पर चलते रहेंगे और तब तक चलते रहेंगे जब तक उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जावे। राजकुमार के इन वचनों को सुनकर उपस्थित जन समूह के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली और वे फफक फफक कर रोने लगे। प्रजा के प्रतिनिधियों ने उन्हें एक बार फिर समझने का प्रयास किया लेकिन किसी के समझाने का कुछ असर नहीं हुआ। आखिर महावीर के प्रस्ताव को सभी ने स्वीकार कर लिया। और उन्हें अपने हृदय से शुभाशीर्वाद देकर उनकी सफलता की कामना की गई।

उस दिन मगसिर शुक्ला दशमी थी। उनकी प्रव्रज्या को देखने के लिये जन मेदिनी उमड़ पड़ी और लाखों नर नारियों ने अपने अश्रुपूरित नेत्रों से विदाई दी। जिस परिग्रह परिकर को मरते समय तक स्वेच्छा से छोड़ने में बड़े बड़े पुरुषों का साहस नहीं होता महावीर ने उन्हें एक क्षण में त्याग दिया। उन्होंने अपने वस्त्र उतारे आभूषण फेंके तथा केशलोंचकर परम निर्ग्रन्थ बन गये। उनके इस अपूर्व त्याग से सारा आकाश जय जयकार से गूंज उठा। देवों ने स्वर्ग से फूल बरसाये। अब सारा संसार उनका अपना हो गया और वे जगत के हो गये। वे विश्व बन्धुत्व की ओर चल पड़े। वैराग्य की ओर उनका यह प्रथम कदम था।

तपस्वी जीवन

निर्ग्रन्थ बनने के पश्चात सर्व प्रथम उन्हें प्रकृति प्रकोपों से लड़ना पड़ा। सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की भीषणता का सामना करना पड़ा। वे कभी पहाड़ों की गुफाओं में, कभी नदी के किनारे और कभी वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते एवं आत्म दर्शन की सर्वोच्च भूमि को प्राप्त करने के लिये तपस्या में लीन रहते। कहां उनका सुकुमार बदन और कहां उग्र तपस्वी जीवन। दोनों में भीषण विषमता। गृहस्थ अवस्था में जिनके चारों ओर परिचारकों की पंक्ति खड़ी रहती थी और उनके संकेतों पर नाचती रहती थी वही महावीर आज एकाकी विहार करते और प्रकृति प्रकोपों की किंचित भी परवाह नहीं करते। वे तपस्या एवं आत्म ध्यान में घंटों लीन रहते। कभी कभी तो उन्हें एक ही आसन पर बैठे कई दिन निकल जाते कभी वे जगत के स्वभाव पर विचार करते तो कभी शरीर और आत्मा के भेदाभेद का चिंतन करते। वे मौन रहते। न किसी से वाद विवाद करते

और न किसी को धर्मोपदेश देते। लेकिन जिधर भी उनके चरण पड़ते वही की भूमि शस्य श्यामला हो जाती। प्रकृति प्रकोप दूर हो जाते और प्रजाजनो मे एक आनन्द छा जाता। वे एक समय एक स्थान पर चातुर्मास के अतिरिक्त नही ठहरते। उनकी तपस्या बड़ी ही सधी हुई थी। तपस्या मे वे अभी युवा थे लेकिन वर्षो से तपस्या करने वाले भी उनके सामने नतमस्तक हो जाते। सच है महाकवि कालिदास की उक्ति अनुसार "तपसि वयः न समीक्षते"। नगर अथवा ग्राम मे वे अहार के लिये जाते। लेकिन उनके दर्शनो के लिये भीड़ लग जाती और उनकी अहार प्रणाली को देखकर दंग रह जाती। अहार के लिये उनके कभी कभी कठिन नियम होते और इस तरह निराहार ही उन्हे कितने दिनो तक रहना पडा था। लेकिन जिस किसी के यहां अहार हो जाता वही पतित पावन बन जाता। कैवल्य प्राप्ति के पहले उन्होने बारह चातुर्मास किये तथा नालदा, चम्पापुरी, राजगृह, श्रावस्ती, उज्जैन आदि नगरों को अपने चरण रज से पवित्र किया। जब योगिराज महावीर चम्पापुर पधारे तो उन्होने सती चन्दनबाला का उद्धार किया। चन्दनबाला वैशाली के राजा चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी लेकिन भाग्य के थपेड़े खाती हुई जब वह वृषभसेन द्वारा खरीद ली गई तो उसे बन्धन ही मिला। एक दिन महावीर गोचरी के लिये निकले तो कारागृह मे पड़ी हुई चन्दनबाला ने उन्हे पड़िगाह लिया। भगवान महावीर का निरन्तराय अहार हुआ। उन्होने एक बन्दिनी का उद्धार किया। कुछ समय पश्चात वही चन्दनबाला आर्यिकाओ की प्रधान बनी।

लगातार १२ वर्ष तक इसी तरह दुर्धर तप करते रहे। वे घन्टों तक ध्यानस्थ रहते और आत्मचिन्तन किया करते। एक बार वे यहीं ही ध्यानलीन थे कि एक ग्वाला उधर से आया और उसने बैलों की देख रेख करने के लिये छोड़ कर आगे चला गया। जब वह वापिस लौटा तो उसे बैल नही मिले। उसने ध्यानस्थ योगीराज महावीर से पूछा। भगवान महावीर ध्यान मे इतने तल्लीन थे कि उन्हे ग्वाले के बलों का कोई ध्यान नही रहा। ग्वाला अत्यधिक क्रोधित हो गया और उसने भगवान के दोनो कानो मे कीलें ठोक दी और अपने घर चला गया। महावीर ने उस भयंकर उपसर्ग को सहन कर लिया लेकिन उस ग्वाला को कुछ नही कहा। एक दिन महावीर ने एक सर्प के बिल के पास ही ध्यान लगा लिया। सर्प बड़ा भयकर था। और उसकी फूत्कार से ही काफी दूर के प्राणी स्वय पेट कालग्रस्त हो जाते थे। जब उसने महावीर को ध्यान ग्रस्त देखा तो क्रोधाभिभूत होकर उन्हे डसने लगा। उसने अपना पूरा जोर लगा लिया भगवान महावीर के चरणो से खून की धार भी वह निकली लेकिन उन्हे वह ध्यान से विचलित नही कर सका। आखिर उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी और महावीर के चरणो मे गिर कर क्षमा भी मागनी पडी।

४२ वर्ष की आयु मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन उन्हे कैवल्य हो गया। अनन्त ज्ञान की प्राप्ति हो गई। भूत भविष्य एव वर्तमान सभी उपमाएं उनके ज्ञान मे झलकने लगी। लोग उन्हे सर्वज्ञ महावीर कहने लगे। सारे देश में उनके अलौकिक ज्ञान की चर्चा फैल गई और देश के सभी भागों से झुन्ड के झुण्ड लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। सर्व प्रथम उनका प्रवचन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन विपुलाचल पर्वत पर हुआ। एक सुन्दर सभा भवन बनाया गया। जो समवसरण कहलाया। उसमे बारह गोलाकार सभामण्डप थे। भगवान महावीर मध्य मे विराजमान थे और उनके चारों ओर अपने स्थान पर साधु साध्वियां, देव देवियां, स्त्री पुरुष, पशु पक्षी बैठे थे। महावीर ने अपना सर्व प्रथम प्रवचन अर्धमागधी भाषा मे दिया जो उस समय की जन भाषा थी [illegible]

अवसर था जब किसी धर्माचार्य ने जन भाषा मे उपदेश दिया हो। इसलिये सारे देश मे प्रसन्नता की लहर दौड गई। और उनके प्रवचनो से लाखो नर नारी लाभ लेने लगे। वर्ग भेद जाति भेद तो उनकी सभाओ मे कभी रहा ही नही। स्पृश्य अस्पृश्य का प्रश्न भी उन्होने कभी नही उठाया। धर्म साधना के द्वार सब के लिये खोल दिये गये। कर्म बन्धनो से मुक्ति मिलने के पश्चात् किसी भी जाति वाले मनुष्य को मुक्ति सभव है इसका भी उन्होने स्पष्ट शब्दो मे समर्थन किया।

सभागृह—

कैवल्य होने के पश्चात् भगवान महावीर का जहा भी विहार होता वहीं उनका समवसरण रचा जाता। जैन साहित्य मे समवसरण सभागृह का ही दूसरा नाम है। महावीर के समवसरण मे सभी का धर्मश्रवण की अनुमति थी। ऊच नीच, धनी निर्धन, राजा, प्रजा का कोई भेद भाव नही था। सभागृह मे बारह स्थान निश्चित थे जिनमे मुनिजन कल्पवासिनी देवियां, आर्यिका एव अन्य स्त्रिया, ज्योतिष देविया, व्यतर देविया, भवनवासी देविया, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषदेव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च बैठते थे। क्षमाशील तीर्थकर के प्रभाव से सभी प्राणी अपने विरोधी स्वभाव को भूल जाते थे। एक ही कक्ष मे गाय, सिंह, बकरी और व्याघ्र बैठ कर धर्म श्रवण कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाते थे।

उपदेश—

भगवान महावीर ने सब प्रथम अहिंसा की पुन प्राण प्रतिष्ठा करके सर्वोदय मार्ग का पुनर्निर्माण किया। जीवो और जीने दो का सन्देश घर घर मे पहुचाया उन्होने कहा कि अहिंसा विश्व शाति का आधार है। अहिंसा प्रेम का स्रोत है जिसके अमृत द्वारा जगत के प्राणियो को जीवन दान दिया जा सकता है। उन्होने अहिंसा को जगत्कल्याण की कसौटी बताया और कहा कि सब कोई जीना चाहता है सब को अपना जीवन प्रिय है, सब कोई सुखी बनना चाहता है इसलिये किसी भी प्राणी को कष्ट पहुचाना ठीक नही है।

अहिंसा ही जगत की माता है। क्योकि वह समस्त जीवो की प्रतिपालना करने वाली है। अहिंसा ही आनन्द देने वाली है। वही उत्तम गति और शाश्वत लक्ष्मी है। जगत मे जितने भी उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब अहिंसा मे ही निहित हैं। अहिंसा मुक्ति प्रदाता है। उसी से आत्महित सभव है। उन्होने कहा कि ससार म जितने भी दु ख, शोक, भय, और दुर्भाग्य आदि प्राप्त होते हैं उन सबको हिंसा जनित मानना चाहिये क्योकि अहिंसा मे तो शाश्वत आनन्द ही आनन्द है।

अनेकान्तवाद—

महावीर ने वस्तु को अनन्त धर्मात्मक घोषित करके मानव के चिन्तनात्मक विकास को असीमित कर दिया। अनेकान्तवाद को उन्होने सब धर्म समन्वय का रूप दिया और कहा कि सभी धर्म अच्छे हैं लेकिन उनमे व्याप्त आग्रहवाद खराब है।

अपरिग्रहवाद

भगवान महावीर ने कहा कि आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है। वर्गभेद का सघर्ष इस परिग्रह के दुष्परिणामो का फल है। महावीर का यह अपरिग्रहवाद समाजवाद की दिशा मे प्रथम प्रयास था।



गृहस्थ धर्म

भँवरलाल पोल्याका

सब जीवों के लिए यह शक्य नहीं कि पूर्ण चारित्र का पालन कर सके। ऐसे केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने सांसा झंझटों से अपने आपको मुक्त कर लिया अतः चारित्र स्वतः ही दो भागों में विभा हो जाता है एक गृहत्यागी द्वारा ।लन तथा दूसरा गृहस्थ द्वारा पालनीय। गृहत्य जिस चारित्र का पालन करते है वह महा. और ग्रहस्थ जिस चारित्र का पालन करते वह अणुव्रत संज्ञा से अभिहित किया जाता और प्रत्येक के अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, ब्र चर्य और अपरिग्रह इस प्रकार से पांच-५ भेद हैं। गृहस्थों के चारित्र का य ८का- परिचय देना ही इन पंक्तियों का उद्देश्य है

इस पुण्य भूमि भारत में जितने धर्म और उनके प्रवर्तक आज तक पैदा उतने विश्व के किसी भी देश मे नही हुए। इस ही कारण यह देश प्रधान कहलाता है। धर्म की महिमा का जितना गुणगान यहाँ हुआ उत कही नही हुआ।

मनु ने कहा—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत।

धर्म ही मारता है और धर्म ही रक्षा करता है अतः धर्म को मत मा। नहीं तो वह तुम्हे मार डालेगा।

धर्म ही वह तत्त्व है जो मानव को पशुओ से पृथक् करता है हितोपदेश कार ने कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

पशु भी भोजन करते हैं, सोते हैं और काम केलि करते है। इस दृ से पशु और मनुष्यों मे कोई भेद नही है। धर्म ही वह पदार्थ है जो मानव पशु से अधिक है। यदि मानव में धर्म न हो तो उसमे और पशु में कोई भे

नही होता ।

आचार्य गुण भद्र ने भी कहा है—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स ताव
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन् ।
दृष्टा परस्पर- हतिजनकात्मजाना,
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन मे धर्म का वास रहता है तब तक वह अपने को मारने वाले को भी नही मारता किन्तु जब वह धर्म विहीन हो जाता है तो वह अपने पैदा करने वाले पिता और अपनी ही आत्मज सन्तानो को भी मारने मे सकोच नही करता । अत इस जगत की रक्षा धर्म ही कर सकता है अन्य नही ।

किसी सस्कृत कवि ने कहा—

यस्य धर्म विहीनानि दिनायान्ति यान्ति च ।
स लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥

जिसके रात और दिन धर्म से रहित व्यतीत होते है ऐसा मनुष्य लुहार की धाकनी की तरह सास तो लेता है मगर फिर भी वह जीवित नही हैं ।

वह धर्म क्या है और उसकी उपलब्धि कहा होती है । महर्षि कणाद ने कहा है—यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धर्म अर्थात् जिससे इस लोक मे अभ्युदय की सासरिक सुखो की तथा परलोक मे नि श्रेयस अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है । सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र ने कहा कि धर्म वह है जो जीवो का ससार के दुखो से छुडा कर मोक्ष तत्व की प्राप्ति करा दे जिसके पालन करने से कर्मो का समूल उच्छेद हो जावे वह धर्म है ।

धर्म सव सुखाकरो हित करो धर्म बुधाश्चिन्वते,

धर्म सबको सुखी करने वाला और सबका हित करने वाला होता है ।

वह धर्म मिलता है मनुष्य के आचरण मे । वह बाजार बिकती वस्तु नही है । सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने कहा कि सदाचारी ही सदाचार परखने की अन्तिम कसौटी है । इसका अर्थ यह हुवा कि अमुक व्यक्ति धर्मात्मा है या नहीं इसकी कसौटी यह है कि उसका चरित्र कैसा है । इस ही लिये हमारे आचार्यों ने मानव के चारित्र का ही धर्म की सज्ञा प्रदान की है । मनुष्य चाहे जितनी उच्च पदवी को प्राप्त कर ले, वह चक्रवर्ती हो जावे, अशेष शास्त्रो का पठन कर ले स्वय सरस्वती ही उसकी वाणी मे क्या न आ बैठे किन्तु यदि उसका चरित्र ठीक नही है तो वह प्रतिष्ठा योग्य नही है धार्मिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नही है । आध्यात्मिक उन्नति तब तक नही हो सकती जब तक कि चरित्र हमारी आत्मा मे न उतरे । इस ही लिये जैन धर्माचार्यों ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समष्टि को मुक्ति का कारण बताया । केवल दर्शन या ज्ञान अथवा दोनो मिलकर भी तब तक परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कराने मे समर्थ नहीं हैं जब तक कि उनके साथ चरित्र न हो ।

आत्मिक गुणो के अधिकाधिक विकास का प्रयत्न ही चरित्र है । आत्मिक गुणो का विकास राग द्वेष की निवृत्ति से होता है और जब राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है तो आत्मा मे अहिंसा उतरती है । पूर्ण अहिंसक वह ही हो सकता है जो राग द्वेष से रहित हो । ऐसा व्यक्ति निराकाक्षी और निष्परिग्रही होगा, उसका अधिकाश समय ज्ञान ध्यान और तप मे व्यतीत होगा, वह शत्रु और मित्र को बराबर समझेगा, प्राणी मात्र का हितचिन्तक होगा । और भी आत्मिक गुणो का विकास उसके अन्दर होगा । ऐसा ही पूर्ण चरित्र का धारी आत्मा हमारा उपास्य है । भगवान् महावीर की उपासना भी इस ही कारण की जाती है कि उन्होने पूर्ण चारित्र को अपनी आत्मा मे उतारा था ।

सब जीवों के लिये यह शक्य नहीं कि वे पूर्ण चारित्र का पालन कर सके। ऐसे तो केवल वे ही कर सकते है जिन्होने सासारिक झंझटो से अपने आपको मुक्त कर लिया है। अतः चारित्र स्वतः ही दो भागो मे विभाजित हो जाता है एक गृहत्यागी द्वारा पालनीय तथा दूसरा गृहस्थ द्वारा पालनीय। गृहत्यागी जिस चारित्र का पालन करते है वह महाव्रत और ग्रहस्थ जिस चारित्र का पालन करते हैं वह अणुव्रत संज्ञा से अभिहित किया जाता है और प्रत्येक के अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस प्रकार से पाच-पांच भेद है। गृहस्थों के चारित्र का यत्किञ्चित् परिचय देना ही इन पंक्तियों का उद्देश्य है।

अनुव्रतों का पालक गृहस्थ अपनी प्रत्येक क्रिया से यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करेगा। उसकी प्रत्येक क्रिया मे यह प्रयत्न रहेगा कि उसके उस कार्य से छोटे से छोटे जीव को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो। यदि वह गृहस्थी की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पशु पक्षी रखेगा तो उसका प्रयत्न होगा कि उन्हे कम से कम कष्ट हो, वह उन्हे अनावश्यक रूप से तग नही करेगा, समय पर उनके भोजन पान आदि की व्यवस्था करेगा तथा उनकी आवश्यकता भर उनका खुराक देगा। वह स्वय किसी पर हमला नहीं करेगा लेकिन यदि कोई उस पर या उसके देश अथवा सबंधियो पर किसी प्रकार का अत्याचार अथवा अनाचार करेगा तो वह उसका प्रतिकार करेगा।

वह इस प्रकार की झूठ नही बोलेगा जिससे दूसरे का किसी प्रकार का अहित हो। साथ ही दूसरो की भलाई के लिये झूंठ भी बोल सकेगा। दूसरो को अनाचार की ओर प्रवृत्त नही करेगा, किसी के साथ विश्वासघात नहीं करेगा, किसी की चुगली अथवा निन्दा नहीं करेगा, लेखनी मे भी असत्य नही लिखेगा, किसी की धरोहर का हरण नही करेगा।

वह किसी की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई अथवा धरोहर रखी हुई वस्तु को बिना उसके स्वामी की आज्ञा के न तो स्वयं ग्रहण करेगा और न दूसरों को ही उसके हरण करने का उपदेश देगा, न किसी को चोरी करने का उपाय बतायेगा और न वह चोरी से लाए हुए द्रव्य को खरीदेगा ही। वह राज्य के नियमो और विधि विधानो का पूर्ण रूप से पालन करेगा, जितना टैक्स अथवा कर राज्य को देय है उतना ईमानदारी से देगा। टैक्स आदि बचाने के लिये दो प्रकार के बही खाते नही रखेगा अथवा तस्कर व्यापार जैसे अन्य धधे नही करेगा जिनसे राज्य के नियमों की अवहेलना हो। वह मिलावट करके भी या की हुई वस्तुओ को विक्रय नही करेगा उदाहरणतः काली मिर्च में एरण्ड ककडी के बीज मिलाना, पिसे धनिये मे अखाद्य पदार्थ मिला देना, चाय में लकडी का रंगा छिलका, नकली केसर आदि न स्वयं बनाएगा और न मिलावटी पदार्थो को शुद्ध कह कर विक्रय करेगा। वह लेन देन मे खरा होगा। लेने और बेचने के बाट अलग नही रखेगा। एक ही प्रकार के बाटो से पूरा तौल कर अपना व्यापार करेगा।

वह अपनी परिणीता स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री से किसी प्रकार के अनुचित सम्बध नही रखेगा और न दूसरो को ही इस प्रकार करने की प्रेरणा देगा। अनंग क्रीड़ा नही करेगा। गाली आदि गन्दे शब्दो का प्रयोग नही करेगा। अपनी स्त्री के साथ भी संयमपूर्ण व्यवहार करेगा उच्छृंखल होकर अपनी इन्द्रियो को खेलने नहीं देगा। विवाह आदि कराने की दलाली इत्यादि नही करेगा।

वह अपनी आवश्यकता से अधिक का संग्रह नहीं करेगा और उसमें भी आसक्त भाव नहीं रखेगा। दूसरे के पास अधिक सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या नही करेगा। लोभ का परित्याग करेगा। सतोष वृत्ति को धारण करेगा।

वह आग्रह हीन होगा दूसरो के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयत्न करेगा । अपने विचार जबरदस्ती किसी पर लादेगा नही । वह दूसरे धर्म का भी समानरूप से आदर करेगा ।

वह अधिक जीने की कामना करने की अपेक्षा प्रयत्न करेगा कि जितना जीवन वह जीये उसे सफलता और शुद्धता पूवक जोये । वह समझेगा कि जीवन क्षण अगुर है पता नही कब मौत का पजा उसे दबोच ले अत प्रति समय, प्रतिक्षण अपना जीवन धम मय बनाए रखने का प्रयत्न करेगा ।

वह अध श्रद्धालु नही होगा । प्रत्येक बात को विवेक की तराजू पर तोलेगा तब ही उसे मानेगा । कभी ठगाई मे नही आवेगा । धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा अटल होगी । दुनिया के प्रलोभन कभी भी उसे माग से च्युत नही कर सकेंगे ।

जिस मानव के जीवन म उपरोक्त धम उतरेगा वह ही वास्तव मे धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है और वह ही वस्तु स्वभाव रूप धम अर्थात आत्म तत्व की प्राप्ति की ओर प्रयत्न करता हुआ अन्त मे उसे प्राप्त कर लेगा और वह जगत्पूज्य बन जायगा ।



"अपने पूर्वजो के खोदे हुए कुए का खारा पानी पीकर दूसरे का शुद्ध जल का त्याग करने वाले बहुत से बेवकूफ इस दुनिया मे घूमते हैं ।"

—विवेकानन्द

स्व० मास्टर मोतीलालजी

मास्टर साहब के द्वारा सन् 1920 में दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर में सन्मति पुस्तकालय की स्थापना की गई थी, मास्टर साहब गृहस्थ होते हुए भी साधु थे, अपने जीवन काल में ही आपने 35,000 से अधिक पुस्तकों का संग्रह कर लिया था जिससे सभी व्यक्ति बिना भेद भाव के लाभान्वित हुए। इस मन्दिर की जगह काफी समय से पुस्तकालय के लिए कम प्रतीत हो रही थी। सरकार द्वारा अर्जुनलाल सेठी नगर में दी गई भूमि पर अब इसके नये भवन का निर्माण कार्य हो रहा है।

मास्टर मोतीलालजी का सच्चा स्मारक

अर्जुनलाल सेठी नगर में निर्माणाधीन :—

सन्मति पुस्तकालय भवन

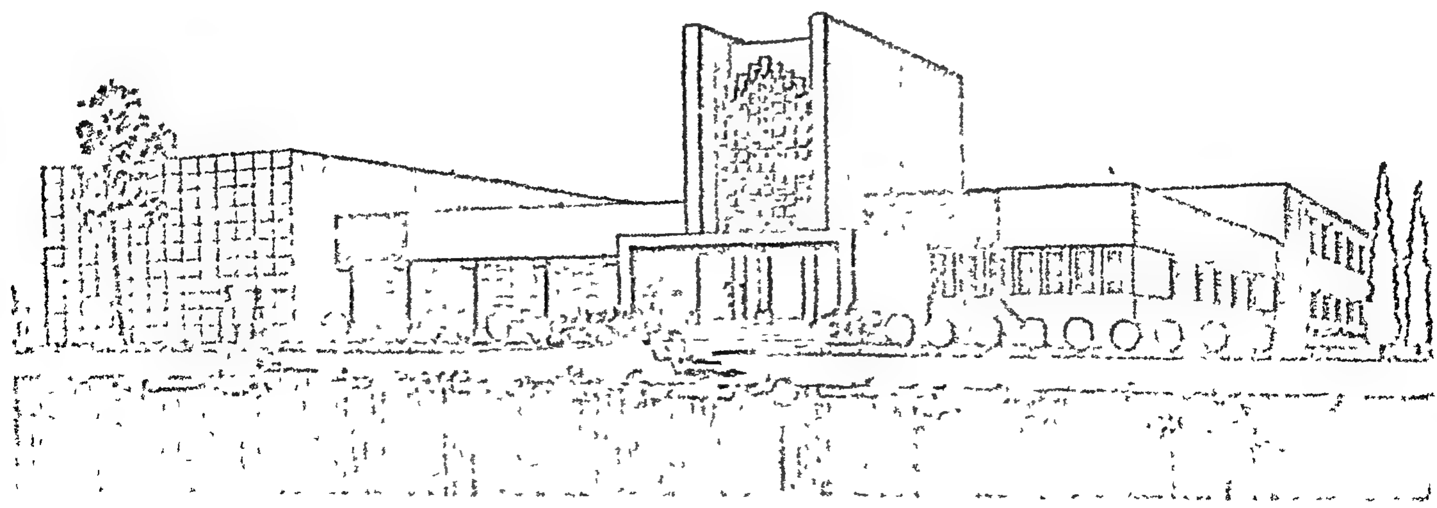
के लिये उदार मन से दान दीजिये

याद रखिये

ज्ञान दान से बढ़ कर कोई दान नहीं होता।

पुस्तकालय को दी गई आर्थिक सहायता आयकर से मुक्त है।

विनीत :
अनूपचन्द गोलिया
संयोजक
अर्थ संग्रह समिति



तिरुकुरल

(तमिलवेद)

एक जैन रचना

"हमें जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाए प्रमाण विषय को वल न देकर प्रत्युत निर्बल वना देते हैं। आग्रह हीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बंध सत्य से है न कि सम्प्रदाय से।"

विद्वान् लेखक के ये शब्द प्रत्येक शोधार्थी के लिये एक आदर्श उपस्थित करते हैं।

—सं०



प्रस्तुत परामर्शक
मुनिश्री नगराजजी
डी०-लिट्०

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने कहा—"यदि कोई चाहे कि भारत के समस्त साहित्य का मुझे पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाये तो तिरुकुरल को विना पढे उसका अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता।" इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को शैव, वैष्णव, वौद्ध आदि सभी अपना धर्म ग्रन्थ मानने को समुत्सुक है। लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व लिखा गया वह ग्रन्थ तमिल वेद अर्थात् तिरुकुरल है। तमिल जाति का यह सर्वमान्य और सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसीलिए उसका नाम 'तमिलवेद' पडा है।

प्रचलित धारणा के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता तिरुवल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं। यह एक काव्यात्मक नीति ग्रन्थ है। वहुत वड़ा नही है। यह ग्रन्थ कुरल नामक छन्द मे लिखा गया है। कुरल छन्द एक अनुष्टुप श्लोक से भी छोटा होता है।

इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ और काम—ये तीन मूलभूत आधार माने गये हैं। विभिन्न विषयपरक १३३ अध्याय हैं और एक-एक अध्याय में दश-दश कुरल छन्द हैं। कुल मिलाकर १३३० कुरल होते हैं, जो पंक्तियों में २६६० हैं। रचना सौष्ठव तमिल के विद्वानों द्वारा निरुपम माना गया है। हिन्दी मे गद्य अनुवाद उपलब्ध है, पर पद्य का गद्यात्मक या पद्यात्मक अनुवाद एक भाव

बोध से अधिक कुछ नहीं बताया करता। कालिदास ने संस्कृत शब्दावली में जिस भाषा को अपने कलात्मक कवित्व में बांधा है और जो आनन्द उससे संस्कृत काव्य रसिक उठा सकता है, वह कलात्मकता उसके हिन्दी अनुवाद में थोड़े ही आ सकती है? वह अनुवाद भी यदि संस्कृत पद्य या हिन्दी गद्य में हो तो काव्यात्मक आनन्द के विषय में तमिल नहीं जानने वाले हम अननुभूत और अनभिज्ञ ही रह सकते हैं तथापि कवि की उक्ति-चारुता आदि कुछ विशेषताओं को हम तथारूप अनुवाद से भी पकड़ सकते हैं।

काव्य की भाषा तीखी और हृदय स्पर्शी है। धर्म की उपादेयता के विषय में कहा गया है—"मुझ से मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है? बस एक बार पालकी उठाने वाले कहारों की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देख लो जो उसमें सवार है।' [1]

क्रोध के विषय में कहा गया है— जो व्यक्ति क्रोध को दिल में जमाकर रखता है, जैसे वह कोई बहुमूल्य पदार्थ हो, वह उस मनुष्य के समान है जो कठोर जमीन पर हाथ दे मारता है। उस आदमी को चोट आए बिना नहीं रह सकती।"[2]

मायावी के विषय में कहा गया है—'तीर सीधा होता है और तम्बूरे में कुछ टेढ़ापन रहता है। इसीलिए आदमियों को उनकी सूरत से नहीं उनके कामों से पहचानो।'[3] भावार्थ—तीर सीधा होकर भी कलेजे में लगता है, तम्बूरा टेढ़ा होकर भी अपनी मधुर ध्वनि से हमें आह्लादित करता है अतः मायावी लोगों की ऊपरी सरलता में न फंसो।

धैर्य के विषय में कहा गया है—"विपत्ति से लोहा लेने में मुस्कान से बढ़कर कोई साथी नहीं हो सकता।[४]

वाणी के विषय में कहा गया है—"तुम ऐसी वक्तृता दो कि दूसरी कोई वक्तृता उसे चुप न कर सके।"[५]

सामान्य उपदेशों को भी निराले ढंग से कहने में कवि बहुत सफल रहा है।

गरिमा और अभिधा

यह ग्रन्थ इतना ख्यातिलब्ध कैसे हुआ और इसे इतनी मान्यता कैसे मिली, इस विषय में भी एक सरस किंवदन्ती तमिल लोगों में प्रचलित है। कहा जाता है, उन दिनों दक्षिण में मदुरा नामक एक नगर था। वह नगर अपने विद्याबल से प्रसिद्ध था। वहां तमिल भाषा के विद्वानों की एक बड़ी सभा थी। उसमें एक ऊंचा आसन रहता। उसके विषय में यह धारणा थी कि जब सभा लगती है, तब अदृश्य रूप में यहां सरस्वती आकर बैठती है। अन्य ४९ आसनों पर उस सभा के धुरंधर विद्वान् बैठते थे। दूर दूर तक इस सभा का यश फैला था। विविध ग्रन्थ-रचयिता यहां आते और अपने ग्रन्थ को उस सभा के समक्ष रखते। सभासद उस ग्रन्थ का वाचन करते और उस पर अपना मत अभिव्यक्त करते।

तिरुवल्लुवर एक सन्त प्रकृति के पुरुष थे। वे अपने ग्रन्थ का ऐसा अभिस्थापन नहीं चाहते थे, पर मित्रों के दबाव से अपना ग्रन्थ लेकर उन्हें मदुरा की उस विद्वत्-सभा में उपस्थित होना पड़ा। उन्होंने अपना ग्रन्थ सभाध्यक्ष के हाथों में दिया। सभाध्यक्ष ने अन्य सभासदों को वह ग्रन्थ दिखाते हुए तिरुवल्लुवर से पूछा—आपका ग्रन्थ किस विषय पर है? वल्लुवर ने विनम्र भाव से कहा—मानव जीवन पर। यह पूछे जाने पर कि मानव जीवन के किस पहलू पर है, वल्लुवर ने कहा—सभी पहलुओं पर।

इस बात पर सभी सभासद हंसे। छोटा-सा ग्रन्थ और मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर विवेचन।

प्रधान ने पुस्तक का वाचन प्रारम्भ किया। दो चार पद्य पढे कि वल्लुवर की भाव-व्यंजना ने सभी को आकृष्ट किया । क्रमशः पूरा ग्रन्थ पढ़ा गया। सभी सभासद आनन्द विभोर हो उठे। एक स्वर से सब ने कहा—सचमुच ही यह ग्रन्थ तो तमिलवेद बन गया है।

इस प्रकार तिरुवल्लुवर महान् ख्याति अर्जित कर अपने घर लौटे। तिरुकुरल ग्रन्थ तब से तमिल-वेद कहा जाने लगा। तिरुकुरल का अभिप्राय होता है—कुरल छन्दो मे लिखा गया, पवित्र ग्रन्थ। तिरुवल्लुवर का अभिप्राय होता है—पवित्र वल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर।

वल्लुवर का गृह-जीवन

वल्लुवर कबीर की तरह जुलाहे थे। कपड़ा बुनना और उससे आजीविका चलाना उनका परम्परागत कार्य था। जातीयता की दृष्टि से वे दक्षिण की अछूत जाति के माने गये हैं। उनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वह भी एक आदर्श और अर्चनीय महिला मानी गई है। पतिव्रत धर्म को निभाने में वह निराली थी। अपने पति के प्रति मन, वचन और कर्म से वह कितनी समर्पित थी और कितनी श्रद्धाशील थी; इस सम्बन्ध मे बहुत सारी घटनाएं तमिल समाज मे प्रचलित है।

कहा जाता है, तिरुवल्लुवर ने एक बार उसकी श्रद्धा का अंकन करने के लिए कहा—आज लोहे की कीलों और लोहे के टुकड़ों का शाक बनाओ। वासुकी ने बिना किसी तर्क और आशंका के चूल्हे पर तपेली चढ़ा दी और वह लोहे के टुकड़ो और कीलों को उबालने लगी।

एक बार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश मे भी किसी खोई हुई वस्तु को खोजने के लिए तिरुवल्लुवर ने वासुकी से चिराग मंगाया। वासुकी ने बिना ननु-नच के चिराग जलाया और वह खोई हुई वस्तु को खोजने मे पति की मदद करने लगी।

एक दिन वासुकी घर के कूएं से पानी निकाल रही थी। अकस्मात् पति का आह्वान कानो मे पड़ा। उसने अपने आधे खींचे बर्तन को ज्यों का त्यों छोड़ा और पति के पास चली गई। कार्य-निवृत्त होकर जब वह वापस आई तो देखा, पानी का बर्तन ज्यों का त्यो कुंए मे आधा लटक रहा है।

सन्त पुरुष

तिरुवल्लुवर एक सन्त पुरुष थे। उनकी साधना परिपूर्ण थी। उनके जीवन की एक ही घटना उनकी शान्त वृत्ति का पूरा परिचय दे देती है। एलेल सिंगल नामक एक धनाढ्य व्यक्ति वल्लु-वर के ही नगर मे रहता था।

वह अपने समुद्री व्यवसाय से प्रसिद्ध था। उसके एक लड़का था। वह अधिक लाड़ प्यार में ढीठ सा हो गया था। बड़े-बूढ़ो के साथ भी शरारत कर लेना उसके प्रतिदिन का कार्य था। एक दिन वह अपने साथियों की टोली के साथ उस मुहल्ले से गुजरा, जहा वल्लुवर अपना बुनाई का काम किया करते थे। उस समय वल्लुवर शान्त भाव से किसी चिन्तन में बैठे थे और उनके सामने बेचने की दो साडिया रखी थी। शरारती युवक के मित्रों ने वल्लुवर को एक सन्त बताते हुए उनकी प्रशंसा की। शरारती युवक ने कहा-सन्त पन स्वयं एक ढोंग है। एक आदमी की अपेक्षा दूसरे आदमी मे ऐसी कौन सी विशेषता होती है, जिससे वह सन्त बन जाता है। मित्रों ने कहा—शान्ति। इसी विशेषता से सन्त कहलाता है। शरारती युवक यह कहते हुए कि मै देखता हू उनकी शान्ति, वल्लुवर के सामने ही आ धमका। एक साड़ी उठा ली और बोला—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर—दो रुपया।

युवक ने साड़ी के दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़े के लिए पूछा—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर ने शान्त भाव से कहा—एक रुपया। युवक चार, आठ सोलह आदि टुकडे क्रमश करता गया और अंतिम का दाम पूछता ही गया। सारी साडी मटियामेट हो गई। वल्लुवर उसी शान्त भाव मुद्रा से यह सब देखते रहे। अंत मे युवक ने कहा—मेरे यह साडी अब किसी काम की नहीं है। मैं नहीं खरीदता। वल्लुवर ने भी शान्त भाव से कहा—सच है बेटे। अब यह साडी किसी के किसी काम की नहीं रही है। शरारती युवक तिलमिला सा गया। मन मे लज्जित हुआ। मित्रो के सामने हुई अपनी असफलता पर कुढने लगा। जेब से दो रुपये निकाले और वल्लुवर के सामने रख दिये। वल्लुवर ने रुपया को वापस करते हुए कहा—बेटे। अपना सौदा पटा ही नही तो रुपये किस बात के? अब युवक के पास कहने को कुछ नही रह गया था। अपनी ढीठता पर उसका हृदय रो पडा। वह सन्त के चरणो मे गिर पडा यह कहते हुए कि मनुष्य मनुष्य मे इतना अन्तर हो सकता है, जितना मेरे मे और वल्लुवर सत मे, यह मने पहली बार जाना है।

कहा जाता है, इस घटना के पश्चात् वह शरारती युवक सदा के लिए भला हो गया। उसका पिता और वह सदा के लिए वल्लुवर के भक्त हो गये और वे वल्लुवर का परामर्श लेकर ही प्रत्येक कार्य करने लगे।

जैन रचना

'कुरल' और 'वल्लुवर' के विषय मे उक्त सारी धारणाए तो जनश्रुति के अनुसार चल ही रही हैं, पर अब इस समग्र विषय पर इतिहास भी कुछ करवट लेने लगा है। वल्लुवर सन्त-श्रेणी के व्यक्ति और विलक्षण मेधावी थे, इस मे कोई सन्देह नही, पर उन्हे वह ज्ञान कहा से मिला, यह विषय सर्वथा अस्पष्ट था। अब बहुत सारे आधारो से प्रमाणित हो रहा है[६] कि वल्लुवर जैन आचाय कुन्द-कुन्द के शिष्य थे, और 'कुरल' उनकी रचना है। वल्लुवर 'कुरल' के रचयिता नही, प्रसारक मात्र थे।

यह एक सुविदित विषय है कि जैन धर्म किसी एक परिस्थिति विशेष मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत मे गया। इतिहास बताता है—बारह वर्षो के दीर्घदुष्काल के समय उत्तर भारत मे साधु चर्या का निर्वाह कठिन होने लगा था। उस समय भगवान महावीर के सप्तम पट्टधर श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी साधु-साध्वियों और श्रावक श्राविकाओ के एक महान् सघ के साथ दक्षिण भी आये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी दीक्षित होकर उनके साथ आये थे। वह सघ यात्रा कितनी बडी थी, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि १२००० साधु-श्रावको का परिवार तो केवल प्रव्रजित सम्राट् चन्द्रगुप्त का था।

मैसूर राज्य मे ऐसे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का कन्नड प्रदेश मे आना और दीर्घकाल तक जैन धर्म का प्रचार करते रहना प्रमाणित होता है।[७]

भद्रबाहु के दक्षिण जाने वाले शिष्यो मे प्रमुख तम विशाखाचार्य थे। वे तमिल प्रदेश में गये। वहा के राजाओ को जैन बनाया। जनता को जैन बनाया। सारे तमिल प्रदेश मे जनधर्म फैल गया और शताब्दियो तक वह वहा राज धर्म के रूप मे माना जाता रहा। तमिल साहित्य का श्रीगणेश भी जैन विद्वानो के द्वारा हुआ। व्याकरण आदि विभिन्न विषयो पर उन्होने गद्यात्मक व पद्यात्मक ग्रन्थ लिखे।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे आचार्य श्री कुन्द कुन्द मद्रास के निकट पोन्नूर की पहाडियो मे रहते थे। वल्लुवर का आचार्य कुन्द-कुन्द से सम्पर्क हुआ। वे श्री कुन्द-कुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्द-कुन्दाचार्य ने उनको अपना

शिष्य बना लिया। अपनी रचना 'कुरल' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए उन्होंने आदेश दिया—"देश में भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तो का प्रचार करो।" साथ-साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को चेतावनी भी दी, "देखो! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना, क्योंकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है, आत्म-प्रशंसा के लिए नहीं।"

प्रमाणो के अधिक विस्तार में हम न भी जाएं तो भी उस ग्रन्थ का आदि पृष्ठ ही एक ऐसा निर्द्वन्द्व प्रमाण है जो 'कुरल' को सर्वांगतः जैन-रचना प्रमाणित कर देता है। प्रथम प्रकरण ईश्वर स्तुति का है। हमे देखना है कि रचयिता का वह ईश्वर कैसा और कौन होता है? मुख्यत. ईश्वर की परिभाषा ही जैन धर्म को अन्य धर्मों से पृथक् रखती है। कुरल की ईश्वर-स्तुति मे कहा जाता है—धन्य है वह पुरुष जो आदि पुरुष के पादारविन्द मे रत रहता है, जो कि न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष ८। जैन सस्कृति के मर्मज्ञ सहज ही समझ सकते है कि इस स्तुति-वाक्य में कविता का हार्द क्या रहा। यह तो स्पष्ट है ही कि रचयिता अपने ग्रन्थ को सर्वमान्य प्रार्थना से अलंकृत करना चाहता है। ग्रन्थ के नैतिक उपदेशो से जैन-जैनेतर सभी लाभान्वित हों, यह इसका अभिप्रेत रहा है। इन कारणों से उसने मगलाचार मे सार्वजनिकता वरती है। रचयिता का अभिप्राय इतने मे हो अभिव्यक्त किया जा सकता कि जैन देवो की स्तुति हो और वैदिक लोग उसे अपने देवों की स्तुति माने परमार्थ नष्ट न हो और समन्वय सध जाये। अन्य जैन आचार्यो ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

महावीर आदि तीर्थकरो मे मेरा अनुराग नहीं है और कपिल आदि तैर्थिकों पर मेरा द्वेष नही है। जिसका वचन यथार्थ हो, उसी का वचन मेरे लिए ग्राह्य है। भाषा समन्वयमूलक है। यथार्थता मे महावीर का वचन ही ग्राह्य है।

एक अन्य श्लोक में जो जैन परम्परा मे वहुत प्रसिद्ध है ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी प्रणाम किया गया है, पर शर्त यह डाली है कि वे राग-द्वेष रहित हो। कहा गया है—

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

कथन मात्र के लिए प्रणाम सब को किया गया है, पर प्रणाम ठहरता केवल जिन के लिए है। कुरल के प्रस्तुत श्लोकार्थ मे भी आदि ब्रह्मा की स्तुति की गई है। पुराण परम्परा के अनुसार ब्रह्मा आदि पुरुष हैं, क्योंकि उसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण पैदा हुए हैं। अतः यह स्तुति उस आदि ब्रह्म तक पहुंचनी चाहिए। यहाँ राग-द्वेष रहित होने का अनुवन्ध लगा कर रचयिता ने वह स्तुति आदि-पुरुष श्री आदिनाथ प्रभु तक पहुचा दी है। वे आदि पुरुष भी हैं और राग-द्वेष रहित भी।

एक अन्य श्लोक मे रचयिता कहते हैं—"जो मनुष्य हृदय कमल के अधिवासी भगवान् के चरणो की शरण लेता है, मृत्यु उस पर दौड़कर नहीं आती।" यहाँ विष्णु की स्तुति प्रतीत होती है, पर हृदय कमल के अधिवासी भगवान् कहकर रचयिता ने सारा भाव जैनत्व की ओर मोड दिया है। सगुणता से भगवान् निर्गुणता की ओर चले गये।

अन्य अनेकों श्लोको मे भी रचयिता ने अपने अभिप्राय का निर्वाह किया है। ईश्वर-स्तुति प्रकरण का प्रत्येक श्लोक ही इस दृष्टिकोण से वहुत मननीय है। इस प्रकरण के कुछ श्लोक इस प्रकार है-

१—'अ' शब्द श्लोक का मूल स्थान है, ठीक इसी तरह आदि ब्रह्म सब लोकों का मूल स्रोत है। यहां आदि-ब्रह्म शब्द से आदिनाथ भगवान् की ओर संकेत जाता है।

२—"यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्री चरणों की पूजा नहीं करते हो तो तुम्हारी यह सारी विद्वत्ता किस काम की?" इस श्लोक में अपने परमेश्वर का स्वरूप सर्वज्ञ के रूप में स्पष्ट कर दिया है। जैनों का ईश्वर कर्ता-धर्ता नहीं, सर्वज्ञ ही है।

६—"जो लोग उस परम जितेन्द्रिय पुरुष के दिखाये धर्म मार्ग का अनुसरण करते हैं वे दीर्घजीवी होंगे।" प्रस्तुत भावना में भी जितेन्द्रिय शब्द से जिन भगवान की ओर संकेत किया गया है।

७—"केवल वही लोग दुःखों से बच सकते हैं जो उस अद्वितीय पुरुष की शरण में आते हैं।" तीर्थंकर भरत क्षेत्र में एक साथ दो नहीं होते। इसलिए रचयिता ने उन्हें भी अद्वितीय पुरुष कहा है ऐसा लगता है।

८—"धन-वैभव और इन्द्रिय-सुख के ज्वार-संकुल समुद्र को वही पार कर सकते हैं, जो उस धर्म सिन्धु मुनीश्वर के चरणों में लीन रहते हैं।" यहाँ जैनों के परमेष्ठी पंचक में पंचम पद की स्तुति की गई है।

९—"जो मनुष्य अष्टगुण संयुक्त परब्रह्म के चरण कमलों में सिर नहीं झुकाता, वह उस इन्द्रिय के समान है जिसमें अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है।" जैन परम्परा में मुक्त जीव सिद्ध भगवान् कहलाते हैं। वे केवल ज्ञान, केवल दर्शनादि आठ गुणों से संयुक्त होते हैं। पूर्वोक्त भावना में उनकी स्तुति का ही संकेत मिलता है।

१०—जन्म-मरण के समुद्र को वे ही पार कर सकते हैं, जो प्रभु के चरणों की शरण में आ जाते हैं। दूसरे लोग उसे तर ही नहीं सकते।" प्रस्तुत भावना के प्रभु शब्द में पंचपरमेष्ठी रूप प्रभु की स्तुति की गई है। ऐसा स्वयं लगता है।

५—देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणों का उत्साहपूर्वक गान करते हैं, उन्हें अपने कर्मों का दुःखप्रद फल नहीं भोगना पड़ता।" इस प्रकार समग्र स्तुति दशक में कहीं भी जैनत्व की सीमा का उल्लंघन नहीं किया गया है, अपितु स्तुति को जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं से सम्मत बनाते हुए भी रचयिता ने जैनत्व का संपोषण किया है।

इस प्रकार हम अन्य प्रकरणों की छान बीन में भी जा सकें तो सम्भवतः बहुत सारी उक्तियां मिल जायेंगी जो नितान्त रूप से जैनत्व को अभिव्यक्त करने वाली ही हैं।

अन्य विद्वानों के अंकन में

'तिरुक्कुरल' कृति की इस सहज अभिव्यक्ति को भारतीय व पाश्चात्य अन्य विद्वानों ने भी आंका है। कनक सभाई पिल्लै (kanaksabhai Pillai) एस० वियपुरी पिल्लै (S Viyapuri pillai), टी० वी० कल्याण सुंदर मुदालियार (T V Kalyan Sundara Mudaliar) आदि अनेकों जैनेतर विद्वान् हैं, जिन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि तिरुकुरल एक जैन रचना है।[८] यूरोपीय विद्वान् एलिस (Allis) और ग्राउल (Graul) ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

तमिल विद्वान् कल्लदार (Kalladar) ने कुरल की प्रशस्ति में लिखा है—"परम्परागत सभी मतवाद एक दूसरे से विरोध रखते हैं। एक दर्शन कहता है, सत्य यह है, तो दूसरा दर्शन कहता है यह ठीक नहीं है, सत्य तो यह है। कुरल का दर्शन एकान्तवादिता के दोष से सर्वथा मुक्त है।"[१०]

इस प्रसंग में यह भी एक महत्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है कि 'कयतरम्' (Kayatram) नामक

तमिल निघण्टु के देव प्रकरण में जिनेश्वर के पर्याय वाची नामों में वहुत सारे वही नाम दिये गये है जो कुरल की मगल प्रशस्ति मे प्रयुक्त किये गये है। निघण्टुकार ने जो कि ब्राह्मण विद्वान् है, कुरल के रचयिता को जैन समझ कर ही अवश्य ऐसा माना है।

कुरल पर अनेको प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं। उनमे से अनेक टीकाएं जैन विद्वानो द्वारा लिखी गई हैं, इससे भी कुरल का जैन-रचना होना पुष्ट होता है।

सब से महत्वपूर्ण मानी जाने वाली टीका के रचयिता धर्मार हैं। उनके विषय में भी धारणा हे कि वे प्रसिद्ध जैन-विद्वान् तो थे, पर धर्म से जैनी नहीं थे।[११]

कुन्द-कुन्द ही क्यों ?

कुरल को जैन रचना मान लेने के पश्चात् भी यह जिज्ञासा तो रह ही जाती है कि उसके रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही क्यों ? इस विषय मे भी कुछ एक ऐतिहासिक आधार वनते हैं। मामूलनार (Mamoolnar) तमिल के विख्यात कवि है। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उन्होने कुरल की प्रशस्ति गाथा में कहा है—कुरल के वास्तविक लेखक थीवर हैं, किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को इसका लेखक वतलाते हैं, पर बुद्धिमान लोगो को अज्ञानियो की वह मूर्खता भरी बातें स्वीकार नहीं करनी चाहिए।[१३]

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपने द्वारा सम्पादित तिरुकुरल में भलीभांति प्रमाणित किया है कि तमिल परम्परा में आचार्य कुन्द-कुन्द के ही 'थीवर' और 'एलाचार्य' ये दो नाम हैं।

जैन विद्वान् जीवक चिंतामणि ग्रन्थ के टीका-कार नचिनार किनियर (Nachinar kiniyar) ने अपनी टीका मे सर्वत्र तिरुकुरल के लेखक का नाम थीवर वतलाया है।

तमिल साहित्य मे सामान्यतः थीवर शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ मे किया जाता है।

कुरल की एक प्राचीन पाण्डुलिपि के मुखपृष्ठ पर लिखा मिला है—एलाचार्य द्वारा रचित तिरुकुरल। इन सारे प्रमाणो को देखते हुए सन्देह नही रह जाना चाहिए कि कुरल के वास्तविक रच-यिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही थे।

भ्रम का कारण

यह एक वडा-सा प्रश्न चिन्ह वन जाता है कि आचार्य कुन्द-कुन्द (थीवर व एलाचार्य) ही इसके रचयिता थे तो यह इतना वड़ा भ्रम खड़ा ही कैसे हुआ कि इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे। तमिल की जैन परम्परा में यह प्रचलित है कि एलाचार्य (आचार्य कुन्द-कुन्द) एक महान् साधक व गणमान्य आचार्य थे, अतः उनके लिए अपने ग्रन्थ को प्रमाणित कराने की दृष्टि से मदुरा की सभा में जाना उचित नहीं था। इस स्थिति में उनके गृहस्थ शिष्य श्री तिरुवल्लुवर इस ग्रन्थ को लेकर मदुरा की सभा मे गये और उन्होंने ही विद्वानो के समक्ष इसे प्रस्तुत किया। इस घटना-प्रसंग से तिरुव-ल्लुवर इसके रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। दूसरा कारण यह भी था कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने यह ग्रन्थ वल्लुवर को प्रचारार्थ सौंपा था और वे इसका प्रचार करते थे, अतः सर्वसाधारण ने उन्हे ही इसका रचयिता माना। ऐसा भी सम्भव है कि आचार्य कुन्द-कुन्द इस ग्रन्थ को सर्वमान्य वनाए रखने के लिए अपना नाम इसके साथ जोडना नही चाहते थे जैसे कि उन्होंने अपने देव का नाम भी सीधे रूप मे ग्रन्थ के साथ नही जोडा। रचयिता का नाम गौण रहे तो प्रचारक का नाम रचयिता के रूप में किसी भी ग्रन्थ के साथ सहज ही जुड़ जाता है।

उपसंहार

'तिरुकुरल' काव्य आज दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी एक नीति ग्रन्थ के रूप में समाज के लिए बहुत उपयोगी है। समग्र जन समाज के लिए यह गौरव का विषय होना चाहिए कि एक जैन रचना पंचम वेद के रूप में पूजी जा रही है। अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य चालू रहे। यह ठीक है कि एतद् विषयक बहुत सारी शून्यताएं तमिल की जन परम्परा भर देती है, पर अपेक्षा है, उन शून्यताओं को ऐतिहासिक प्रमाणों से और भर देने की। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया है, पर अपने प्रतिपादन में कुछ एक सहारे उन्होंने ऐसे भी लिए हैं जो शोध के क्षेत्र में बड़े लचीले ठहरते हैं। जैसे तिरुकुरल के धर्म, अर्थ, काम आदि आधारों को कुन्द-कुन्द के अन्य ग्रन्थों में वर्णित चत्तारि मंगल के पाठ में पुष्टि करना। हमें जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाये गये प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रहहीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बन्ध सत्य से है, न कि सम्प्रदाय से।

---

१ क्षमा-प्रकरण-७
२ क्रोध-प्रकरण-७
३ माया प्रकरण-६
४ विपत्ति में धैर्य प्रकरण-१
५ वाक्-पटुता प्रकरण-५
६ विशेष विवरण के लिए देखें—ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित-Thirukkural की भूमिका।
७ आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, चतुर्थ अध्याय के० एस० धरणेन्द्रिया एम०ए०, बी०टी० के लेख के आधार पर।
८ ईश्वर स्तुति प्रकरण-४
९ Thirukkural Ed by Prof A Chakravarti, Introduction, P X
१० Speaking about these traditional darshanas he (Kalladar) points out that they are conflicting with one another However one system says the ultimate reality is one another system will contradict this and says no This mutual incompetability of the six systems is pointed out and the philosophy of Coural is praised to be free from this defect of onesidedness
Thirukkural Ed by Prof, A Chakravarti, Introduction
११ Thirukkural Ed by Prof A Chakravarti, Preface P II
१२ Thirukkural, Ed by Prof A Chakravarti Introduction, P X
१३ Thirukkural Ed by A Chakravarti preface,
'The real author of the work which speacks of the four topics is Thevar But ignorant people mentioned the name of Valluwar as the author But wise men will not accept this statement of ignorant fools
१४ Thirukkural, Ed by Prof A Chakravarti, Introduction P XII
१५ Thirukkural Ed by A Chakravarti Introduction P XIII,
According to the Jaina tradition Elacharya was a great Nirgrantha Mahamuni a great digambara ascetic not caring for worldly honours His lay disciple was delegated to introduce the work to the scholars assembled in the Madura acadamy of the sangha Hence the intro duction was by Velluwai, who placed it before the scholars of the Madura sangha for their approval

जैन कवि का कुमार सम्भव

कालिदास रचित कुमार सम्भव से प्रेरणा ग्रहण कर परवर्ती कुछ कवियों ने अपनी रचना को भी उसी नाम से अभिहित किया है। पन्द्रहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध श्वे. कवि चन्द्रशेखर सूरि भी उनमें से एक हैं। विद्वान् लेखक ने उनकी कृति को विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि श्री चन्द्रशेखर सूरि प्रतिभाशाली कवि हैं किन्तु वे रूढियों के दास है। यदि वे तात्कालीन काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं की संकरी गली से निकल कर नये मार्ग की उद्भावना करते तो उनकी प्रतिभा साहित्य को अधिक महत्वपूर्ण रचना प्रदान कर सकती।

—सम्पादक



प्रो० सत्यव्रत 'तृषित'
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, श्रीगंगानगर

मेघदूत की भांति कालिदास के कुमार सम्भव ने किसी अभिनव साहित्यिक विधा का प्रवर्तन तो नही किया, किन्तु महाकवि के उक्त काव्य से प्रेरणा ग्रहण कर तीन-चार कुमार सम्भव संज्ञक कृतियों की रचना संस्कृत-साहित्य में अवश्य हुई है। इस कोटि की रचनाओ में जैन कवि जयशेखर सूरि (पन्द्रहवीं शताब्दी) के कुमार सम्भव को गौरवमय पद प्राप्त है। महाकवि कृत कुमार सम्भव की भांति जैन कुमार सम्भव का उद्देश्य कुमार (भरत) के जन्म का वर्णन करना है, किन्तु जिस प्रकार कुमार सम्भव के प्रामाणिक अंश (प्रथम आठ सर्ग) मे कार्त्तिकेय का जन्म वर्णित नही है, वैसे ही जैन कवि के महाकाव्य मे भी भरतकुमार के जन्म का कही उल्लेख नही हुआ है और इस प्रकार दोनों काव्यों के शीर्षक उनके प्रतिपाद्य विषय पर पूर्णतः चरितार्थ नही होते। परन्तु जहाँ कालिदास ने अष्टम सर्ग मे पार्वती के गर्भाधान के द्वारा कुमार कार्त्तिकेय के भावी जन्म की व्यंजना कर काव्य को समाप्त कर दिया है, वहाँ जैन कुमार सम्भव मे सुमङ्गला के गर्भाधान का निर्देश (६.७४) करने के पश्चात् भी काव्य को पांच अतिरिक्त सर्गों में घसीटा गया है। यहां अनावश्यक विस्तार कवि की वर्णनात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप भले ही हो पर इससे काव्य की अन्विति नष्ट हो गई है, कथा विकासक्रम विशृंखलित हो गया है और काव्य का अन्त

अतीव आकस्मिक तथा निराशाजनक ढंग से हुआ है।

कथानक—

कुमार सम्भव के ग्यारह सर्गों में आदि जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के विवाह तथा विशेषतः उनके पुत्र जन्म का वर्णन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य का प्रारम्भ अयोध्या वर्णन से होता है जिसका निर्माण धनपति कुबेर ने अपनी प्रिय नगरी अलका की सहचरी के रूप में किया था। प्रथम सोलह पद्यों में अयोध्या की समृद्धि, कलाप्रियता तथा सच्चरित्रता का रोचक वर्णन है। इस नगरी के निवेश से पूर्व, जब यह देश इक्ष्वाकुभूमि के नाम से ख्यात था, आदिदेव ऋषभ युग्मिपति नाभि के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए थे। सर्ग के शेषांश में उनके शैशव, यौवन तथा रूप सम्पदा आदि का चारु चित्रण है। बाल्यकाल में ही वे योगी की विभूति से सम्पन्न थे। चपल शैशव का परित्याग कर शीघ्र ही प्रभु ने यौवन को शरीर में वास दिया और कृतज्ञ यौवन ने उसे तेजपूर्ण बनाकर तुरन्त उपकार का प्रतिदान किया। राज्याभिषेक का उद्घोष होते ही सारे संसार में उनका प्रताप व्याप्त हो गया। तुम्बरु तथा नारद से यह जानकर कि भगवान् अभी कुमार हैं, सुरपति इन्द्र उन्हें वैवाहिक जीवन में प्रवृत्त करने के लिए तुरन्त प्रस्थान करते हैं। देवों का आग्रह तथा पथ की बाधाएँ भी उन्हें विचलित न कर सकीं। जिनेश की जन्मभूमि के निकटवर्ती अष्टापद पर्वत पर पहुँच कर वे पर्वतों के पक्षच्छेद के कलुष से मुक्त हो गये। तृतीय सर्ग में इन्द्र नाना युक्तियाँ देकर ऋषभदेव को, उनकी सगी बहिनों – सुमङ्गला तथा सुनन्दा से विवाह करने को प्रेरित करते हैं। उनका सबसे व्यावहारिक तर्क है कि लोक में अवतीर्ण होकर आपको लोकस्थिति का पालन अवश्य करना चाहिए। भगवान् के मौन को स्वीकृति का द्योतक समझकर इन्द्र ने तत्काल देवताओं को विवाह की तैयारी करने का आदेश दिया। स्वयं इन्द्र प्रभु की सेवा में रत हुए और इन्द्राणी को कुमारियों के प्रसाधन में प्रयुक्त किया। इसी सर्ग में सुमङ्गला तथा सुनन्दा के विवाह पूर्व अलंकरण का विस्तृत वर्णन हुआ है। ऋषभदेव के पाणिग्रहणोत्सव में भाग लेने के लिए समूचा देव मण्डल भूमि पर उतर आया, मानो स्वर्ग ही धरा का प्रतिबिम्ब बन गया हो। स्नान-मज्जा के उपरान्त आदिदेव ने जंगम प्रासादतुल्य ऐरावत पर बैठकर वधूगृह को प्रस्थान किया। चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में तत्कालीन विवाह-परम्पराओं का सजीव चित्रण है। पाणिग्रहण, तारामेलन पर्व आदि समूचे लोकाचारों का विधिपूर्वक पालन किया गया। वैवाहिक विधियों के सम्पन्न होने पर ऋषभदेव दिग्विजयी सम्राट् की भाँति घर लौट पड़े। यहीं दस पद्यों में (३८–४७) उन्हें देखने को लालायित पुर सुन्दरियों के सम्भ्रम का रोचक वर्णन किया गया है। सर्ग के शेष भाग में पति-पत्नी के सम्बन्धों एवं कर्त्तव्यों का निरूपण है। षष्ठ सर्ग रात्रि, चन्द्रोदय, षड्ऋतु आदि वर्णनात्मक प्रसंगों से भरपूर है। ऋषभदेव नवोढा वधुओं के साथ शयन गृह में प्रविष्ट हुए जैसे तत्त्वान्वेषी मति-स्मृति के साथ शास्त्र में प्रवेश करता है। इस सर्ग के अन्त में सुमङ्गला के गर्भाधान का संकेत मिलता है (६.७४)। सप्तम सर्ग में सुमंगला को चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं। वह उनका फल जानने के लिये प्रभु के वासगृह में जाती है। अष्टम सर्ग में ऋषभदेव तथा सुमंगला का संवाद है। सुमंगला के अपने आगमन का कारण बतलाने पर ऋषभदेव का मन-प्रतिहारी समस्त स्वप्नों को बुद्धिबाहु से पकड़ कर विचार सभा में ले गया और विचार-पयोधि का मन्थन कर उन्हें फल रूपी मोती समर्पित किये। नवम सर्ग में ऋषभ स्वप्नों का फल बतलाते हैं। यह जानकर कि इन स्वप्नों के दर्शन से मुझे चौदह विद्याओं तथा रत्नों से सम्पन्न चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी, सुमंगला का शरीर आनन्दामृत से आप्लावित हो गया। दसवें सर्ग में सुमंगला अपने

वासभवन में आती है तथा सखियों को समूचे वृत्तान्त से अवगत करती है। ग्यारहवें सर्ग में इन्द्र आकर सुमंगला के भाग्य की सराहना करता है और उसे बताता है कि अवधि पूर्ण होने पर तुम्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी। तुम्हारे पति का वचन मिथ्या नही हो सकता। तुम्हारे पुत्र के नाम (भरत) से यह भूमि 'भारत' तथा वाणी 'भारती' कहलाएगी। मध्याह्न वर्णन के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

जयशेखरसूरि को प्राप्त कालिदास का दाय

कालिदास के महाकाव्यों तथा जैन कुमार संभव के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन कवि की कविता कालिदास के काव्यों, विशेषतः कुमार सम्भव से बहुत प्रभावित है। कालिदास कृत कुमार सम्भव तथा जैन कुमार सम्भव की परिकल्पना, कथानक के विकास एव घटनाओं के सयोजन मे पर्याप्त साम्य है। यह बात दूसरी है कि कालिदास का मनोविज्ञान वेत्ता ध्वनिवादी कवि वस्तु व्यापारों की योजना करके भी कथानक को समन्वित बनाए रखने मे सफल रहा है जबकि जयशेखर महाकवि के आकर्षण के आवेग के प्रवाह मे अपनी कथावस्तु न संभाल सका। कालिदास के कुमार सम्भव का प्रारम्भ हिमालय के हृदयग्राही वर्णन से होता है, जैन कुमार सम्भव के आरम्भ मे अयोध्या का वर्णन है। कालिदास के हिमालय वर्णन के बिम्ववैविध्य, यथार्थता तथा सरस शैली का अभाव होते हुए भी अयोध्यावर्णन कवि के कवित्व को प्रतिष्ठित करने में समर्थ है। महाकवि के काव्य तथा जैन कुमार सम्भव के प्रथम सर्ग में क्रमशः पार्वती और ऋषभ देव के जन्म, शैशव तथा यौवन का वर्णन है। कुमार सम्भव के द्वितीय सर्ग में तारक के आतंक से पीड़ित देवताओं का एक प्रतिनिधि मण्डल ब्रह्मा की सेवा में उपस्थित होकर अपने कष्ट निवारण के लिये प्रार्थना करता है। जयशेखर के काव्य में स्वयं इन्द्र ऋषभदेव को गार्हस्थ्य जीवन में प्रवृत्त करने जाता है। दोनो काव्यों के इस सर्ग में एक स्तोत्र का समावेश है। जैन कुमार सम्भव के पंचम सर्ग में पुरसुन्दरियों की चेष्टाओं का वर्णन कुमार सम्भव तथा रघुवंश के सप्तम सर्ग में शिव तथा अज को देखने को उत्सुक स्त्रियों के वर्णन से प्रभावित है। दोनों कुमार सम्भवो में वर्ण्य विषयो के अन्तर्गत ऋतु वर्णन हुआ है, यद्यपि जैन कवि के षड्ऋतु वर्णन मे कालिदास के वसन्त वर्णन की सी मार्मिकता नही है। दोनो कवियों के काव्यो मे नायिकाओं के गर्भाधान का उल्लेख है, पर पुत्र जन्म का अभाव है। दोनो मे नायक-नायिका के संवाद की योजना की गयी है। यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि कालिदास के उमा-वटु संवाद की गणना अपनी नाटकीयता तथा सजीवता के कारण, सस्कृत काव्य के सर्वोत्तम अंशो मे होती है जबकि जैन कुमार सम्भव में अष्टम सर्ग का सुमंगला तथा ऋषभ का वार्तालाप साधारण कोटि का है। जैसा कि पहले कहा गया है दोनो ही काव्यों के शीर्षक उनके कथानक पर पूर्णतः घटित नही होते। घोर कृत्रिमता के युग मे भी जयशेखर की शैली में जो प्रसाद तथा आकर्षण है, वह भी कालिदास की शैली की सहजता एवं प्राञ्जलता के प्रभाव के कारण है।

जयशेखर की काव्य प्रतिभा

अन्य अधिकांश ह्रासकालीन कवियों की भाँति जयशेखरसूरि को कथावस्तु के निर्वाह मे सफल नही कहा जा सकता। मूलकथा तथा वर्ण्यविषयो के बीच जो विषमता सर्व प्रथम भारवि के काव्य मे दृष्टिगम्य होती है, वह उत्तरोत्तर बढती ही गयी। जैन कुमार सम्भव का कथानक अतीव स्वल्प है। यदि निरी कथात्मकता को लेकर चला जाए, तो यह तीन-चार सर्गों से अधिक की सामग्री सिद्ध नहीं हो सकती; किन्तु जयशेखर ने उसे नाना वर्णनों, संवादों, स्तोत्रों तथा प्रशस्तिगानों से पुष्ट-पुष्पित कर ग्यारह सर्गों के आलवाल में आरोपित किया है। वर्णन विदग्धता की यह प्रवृत्ति काव्य मे आद्यन्त अविच्छिन्न रू

मे विद्यमान है। प्रथम दो सर्गों मे अयोध्या के वैभव ऋषभ के शैशव तथा यौवन, इन्द्र के आगमन तथा अष्टापद का वर्णन है। तृतीय सर्ग मे इन्द्र–ऋषभ के सवाद की योजना तथा वधुओं के अलकरण का चित्रण है। चतुर्थ तथा पचम सर्गों का अधिकाश तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओं तथा पति–पत्नि के सम्बन्धो पर व्यय कर दिया गया है। छठे मे रात्रि, चन्द्रोदय, षड्ऋतुओं तथा सुमगला का वर्णन हुआ है। यहा यह ज्ञ तव्य है कि काव्य के मत्किञ्चित् कथानक का मुख्य भाग यही समाप्त हो जाता है। शेष पाँच सर्गों मे से स्वप्न दर्शन तथा उनके फल कथन का ही मुख्य कथा से सम्बन्ध है। दसवा तथा ग्यारहवा सर्ग तो सर्वथा अनावश्यक है। यदि काव्य को नौ सर्गों मे ही समाप्त कर दिया जाता, तो यह शायद अधिक अन्वितिपूर्ण बन सकता। ऋषभदेव के स्वप्न फल बतलाने के पश्चात् इन्द्र के द्वारा उसकी पुष्टि कराना केवल निरर्थक ही नही है, इससे देवतुल्य नायक की गरिमा भी आहत होती है। इस प्रकार काव्यकथा का सूक्ष्म तन्तु वर्णन स्फीति के भार से पूर्णत दब गया है। वस्तुत जैन कुमार सम्भव मे इन प्रासगिक–अप्रासगिक वर्णनो की ही प्रधानता है। मूल कथा पर कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है। किन्तु हम आगे देखेंगे कि इन वर्णनो का काव्य में, कई दृष्टियो से, महत्वपूर्ण स्थान है।

रस योजना की दृष्टि से भी जयशेखर को अधिक सफलता नही मिली है। उनके काव्य का प्रमुख रस शृङ्गार माना जा सकता है, यद्यपि अङ्गी रस के रूप में इसका परिपाक नही हुआ है। शृङ्गार के कई सरस चित्र जैन कुमार सम्भव में देखने को मिलते है। पवित्रतावादी जैन यति का काव्य में शृङ्गार की सरसता का परित्याग न करना, उसकी बौद्धिक ईमानदारी है।

ऋषभदेव के विवाह में आते समय प्रिय का स्पर्श का पाकर किसी देवागना की मैथुनेच्छा जागृत हो गयी और कचुकी टूट गयी। वह बेकाबू हो गयी और प्रिय को मनाने के लिये उसकी चापलूसी करने लगी।

उपात्तपाणिस्त्रिदशेन वल्लभा,
श्रमाकुला काचिदुदचि कञ्चुका।
वृषस्या चाटुशतानि तन्वती,
जगाम तन्मयैव गतस्य विघ्नताम् ॥४।१०

ऋषभदेव को देखने को उत्सुक पुर युवति की अधबधी नीवी दौडने के कारण खुल गयी। उसका अधोवस्त्र नीचे गिर पडा, किन्तु इसका भी उसे भान न हुआ। वह प्रेम पगी प्रभु की एक झलक पाने के लिये दौडती गयी और जनसमुदाय में मिल गयी।

कापि नाथमभित दलथनीवी
प्रसरन्निवसनापि ललज्जे।
नायकाननिवेशितनेत्रे
जयनिकरेऽपि समेता ॥५,३६

वात्सल्य, शान्त तथा हास्य रस शृङ्गार के पोषक बन कर आए हैं। ऋषभ के शैशव के चित्रण में वात्सल्य की मनोरम छटा दर्शनीय है। शिशु ऋषभ दौड कर पिता को चिपट जाता है। उसके अगस्पर्श से पिता आनन्द विभोर हो जाते हैं। हर्षातिरेक से आँखें बन्द हो जाती हैं और वे तात–तात की गुहार लगाते रहते हैं।

दूरात समाहूय हृदोपपीड
माद्यमुदा मीलितनेत्रपन ॥
अयागज स्नेहविमोहितात्मा,
य तात तातेति जगाद नाभि ॥ १।२८

विभिन्न रसों के चित्रण मे सिद्धहस्त होते हुए भी कवि ने किसी रस का प्रधान रस के रूप मे पल्लवन नही किया, यह बहुत आश्चर्य की बात है।

जयशेखर का प्रकृति चित्रण भारवि आदि ह्रासकालीन कवियो की कोटि का है, जिसमे प्रकृति के उद्दीपन पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। परन्तु जैन कुमार सम्भव के प्रकृति चित्रण की

विशेषता यह है कि वह यमक आदि की दुरूहता से आक्रान्त नही है, और न ही उसमें कुरुचिपूर्ण श्रृंगारिकता का समावेश किया गया है। इसलिये जयशेखर के सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात, सूर्योदय के वर्णनों का अपना आकर्षण है। रात्रि कहीं महादेव की विभूति से मण्डित है तो कहीं वर्ण व्यवस्था के कृत्रिम भेद को मिटाने वाली क्रान्तिकारी योगिनी है।

अभुक्त भूतेशतनोर्विभूति,
भौती तमोभिः स्फुटतारकौघा।
विभिन्न कालच्छविदन्तिदैत्य
चर्मा वृतेभूरिनरास्थिभाजः ॥६।३
किं योगिनीयं धृतनीलकन्या
तमस्विनी तारक शंख भूषा।
वर्ण व्यवस्थामवधूय, सर्वा
मभेदवादं जगतस्तताम ॥६।८

सूर्योदय वर्णन के इस रूपक की स्वाभाविकता कम हृदयहारी नहीं--

भित्त्वा तमः शैवल जालमंशु
मालिद्विपे स्फारकरे प्रविष्टे।
आलीन पूर्वोऽपससार सद्यो,
वियत्तडागा दुडुनीऽजौघः ॥११।६

जैन कुमार सम्भव का वास्तविक सौन्दर्य तथा महत्व इसके वर्णनो में निहित हैं। इनमे एक ओर कवि का सच्चा कवित्व मुखरित है और दूसरी ओर जीवन के विभिन्न पक्षो तथा व्यापारो से सम्बन्धित होने के कारण इनमे समसामयिक समाज की चेतना का स्पन्दन है। इन वर्णनो के माध्यम से ही काव्य मे समाज का व्यापक चित्र समाहित हो गया है जो महाकाव्य के एक बहु-अपेक्षित तत्व की पूर्ति करता है। इसीलिये जैन कुमार सम्भव मे हमें तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओ, राजनीति तथा योजनाविधि से लेकर प्रसाधन सामग्री, आभूषणो, वाद्ययन्त्रों, समुद्री व्यापार, अभिनय, सामाजिक मान्यताओ, मदिरापान आदि कुरीतियो के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध का इस पद्य में कितना मार्मिक निरूपण हुआ है—

अन्तरेण पुरुषं नहि नारी,
तां विना न पुरुषोऽपि विभाति।
पादपेन रुचिमञ्चति शाखा,
शाखयैव सकलः किल सोऽपि ॥५।६१

जैन कुमार सम्भव की सबसे बड़ी विशेषता इसकी उदात्त एवं प्रौढ़ भाषा शैली है। संस्कृत-महाकाव्य के ह्रासकाल की रचना होने पर भी इसकी भाषा, माघ तथा मेघविजयगणि आदि की भांति, निकट समासान्त तथा कष्टसाध्य नही है। काव्य मे सर्वत्र प्रसादपूर्ण तथा भावानुकूल पदावली का प्रयोग हुआ है। जयशेखर की शैली वैदर्भी है। अलंकारो की सुरुचिपूर्ण योजना काव्य की शैली को समृद्ध बनाती है तथा उसके सौन्दर्य में वृद्धि करती है। हेमचन्द्र, वाग्भट आदि जैनाचार्यो के विधान का उल्लंघन करके काव्य में चित्रबन्ध की योजना न करना कवि की सुरुचि का एक अन्य प्रमाण है। काव्य में अलंकारो को बलात् लादने का प्रयास नही किया गया है। वे इस स्वाभाविकता से आते हैं कि काव्य सौन्दर्य स्वतः प्रस्फुटित होता जाता है। यमक तथा श्लेष के प्रयोग मे भी दुरूहता नही आने पाई। हाँ, दसवें सर्ग मे सुमंगला की सखियो तथा विभिन्न दार्शनिक मतो के श्लिष्ट वर्णन मे श्लेष ने काव्यत्व को दबोच लिया है। जयशेखर की अलंकार योजना के दिग्दर्शन के लिये कतिपय उद्धरण आवश्यक है।

अनुप्रास— सम्पन्न कामा नयनाभिरामाः,
सदैव जीवत्प्रनवा श्यामाः।
यत्रोज्झितान्य प्रमदावलोका,
अदृष्टशोका न्यविशन्त लोकाः ॥१।२

कर जनमानस में जैन धर्म के अहिंसा तत्व का प्रचार व प्रसार किया है। दूसरी ओर अनेक जैन वीरों ने राज्य की सुरक्षा के हित आत्म बलिदान किया है और उसकी समृद्धि बढाने में अपने कर्तव्य का पालन किया है। आज इस छोटे से लेख द्वारा राजस्थान के एक जनसेवी सन्त का सक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ जिसने अपने जीवन का समग्र बहुभाग जैन संस्कृति के साथ लोक में शिक्षा का आदर्श उपस्थित किया है और अपने विशुद्ध एव निर्मल आचार द्वारा जनता में नैतिक बल का सचार किया है।

सन्त पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर विद्वान थे।[१] विशुद्ध सिद्धान्तरत्नाकर और प्रतिभा द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए थे। उनके शुद्ध हृदय में अभेद भावसे आलिङ्गन करती हुई ज्ञान रूपी हंसी आनन्द पूर्वक क्रीडा करती थी व स्याद्वाद सिन्धु रूप अमृत के वर्धक थे। उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर जिनवाणी और पृथ्वी का पवित्र किया था। महाव्रती पुरन्दर तथा शान्ति से रागांकुर दग्ध करने वाले वे परमहंस निर्ग्रन्थ पुरुषार्थ शाली, अशेष शास्त्रज्ञ सर्वहित परायण मुनिश्रेष्ठ पद्मनन्दी जयवन्त रहे।[२] इन विशेषणों से पद्मनन्दी की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। इनकी जाति ब्राह्मण थी। एक बार प्रतिष्ठा महोत्सव के समय व्यवस्थापक गृहस्थ की अविद्यमानता में प्रभाचन्द्र ने उस उत्सव को पट्टाभिषेक का रूप देकर पद्मनन्दी का अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था। इन के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में स० १३८५ पौष शुक्ला सप्तमी बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर सवत् १४७३ तक तो आसीन रहे ही हैं। इसके अतिरिक्त और कितने समय तक रहे, यह कुछ ज्ञात नही हुआ और न यह ही ज्ञात हो सका कि उनका स्वर्गवास कहा और कब हुआ है?

कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पद्मनन्दी भट्टारक पद पर स० १४६५ तक रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं दिया, किन्तु उनका केवल वैसा अनुमान मात्र है। अत इस मान्यता में कोई प्रामाणिकता नहीं जान पडती। क्योंकि सवत् १४७३ की पद्मकीर्ति रचित पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति से स्पष्ट जाना जाता है कि पद्मनन्दी उस समय तक पट्ट पर विराजमान थे, जैसा कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है—

"कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री रत्नकीर्ति देवास्तेषा पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तेषा पट्टे प्रवर्तमाने—"

(मुद्रित पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी दीर्घजीवी थे। पट्टावली में उन की आयु निन्यानवे वर्ष अट्ठाईस दिन की बतलाई गई है और पट्टकाल पैंसठ वर्ष आठ दिन बतलाया है।

यहा इतना और प्रकट कर देना उचित जान पडता है कि वि० स० १४७९ मे असवाल कवि द्वारा रचित 'पासणाहचरिउ' में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले भ० शुभचन्द्र का उल्लेख निम्न वाक्यों म किया है—' तहो पट्ट वर ससिणामे, सुहससि मुणि पयपकयवदहो।' चूंकि भ० १४७४ मे पद्मनन्दी द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख उपलब्ध है, अत उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी ने स० १४७४ के बाद और स० १४७९ से पूर्व किसी समय शुभचन्द्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया था।

कवि असवाल ने कुशात देश के करहल नगर मे स० १४७१ मे होने वाले प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख किया है। और पद्मनन्दी के शिष्य कवि हल्ल या जयमित्र हल्ल द्वारा रचित 'मल्लिणाह' काव्य की प्रशसा का भी उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ भ० पद्मनन्दी के पद पर प्रतिष्ठित रहते हुए उनके शिष्य द्वारा रचा गया था। कवि हरिचन्द ने

अपना वर्धमान काव्य भी लगभग उसी समय रचा था। इसी से उसमें कवि ने उनका खुला यशोगान किया है:—

'पद्मणंदि मुणिणाह गणिदहु,
चरण सरणु गुरु कइ हरिइंदहु'
(वर्धमान काव्य)

आपके अनेक शिष्य थे, जिन्हे पद्मनन्दी ने स्वयं शिक्षा देकर विद्वान् बनाया था। भ० शुभचन्द, तो उनके पट्टधर शिष्य थे ही, किन्तु आपके अन्य तीन शिष्यो से भट्टारक पदो की तीन परम्पराएं प्रारम्भ हुई थी जिनका आगे शाखा-प्रशाखा रूप मे विस्तार हुआ है। भट्टारक शुभचन्द दिल्ली परम्परा के विद्वान थे। इनके द्वारा 'सिद्धचक्र' की कथा रची गई है।[४] जिसे उन्होंने सम्यग्दृष्टि जालाक के लिये बनाई थी। भ० सकल कीर्ति से ईडर की गद्दी और देवेन्द्र कीर्ति से सूरत की गद्दी की स्थापना हुई थी। चूंकि पद्मनन्दी मूल सघ के विद्वान् थे अत. इनकी परम्परा में मूल सघ की परम्परा का विस्तार हुआ। पद्मनन्दी अपने समय के अच्छे विद्वान्, विचारक और प्रभावशाली भट्टारक थे। भ० सकल कीर्ति ने इनके पास आठ वर्ष रहकर धर्म, दर्शन, छन्द, काव्य, व्याकरण, कोप, साहित्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया था और कविता मे निपुणता प्राप्त की थी। भट्टारक सकल कीर्ति ने अपनी रचनाओं में उनका स-सम्मान उल्लेख किया है। पद्मनन्दी केवल गद्दी धारी भट्टारक ही नही थे, किन्तु जैन संस्कृति के प्रचार एव प्रसार मे सदा सावधान रहते थे।

पद्मनन्दी प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा विभिन्न स्थानों पर अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई थी। जहां वे मन्त्र-तन्त्र वादी थे, वहां वे अत्यन्त विवेकशील और चतुर थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां विभिन्न स्थानों के मन्दिरो मे पाई जाती हैं। पाठकों की जानकारी के लिये दो मूर्ति लेख नीचे दिये जाते हैं:—

१ आदिनाथ— ओं संवत १४५० वैशाख सुदी १२ गुरौ श्री चाहुवाण वंश कुशेशय मार्तण्ड सारवै विक्रमन्य श्रीमत स्वरूप भूपान्वय भुंडदेवात्मजस्य भूपज शक्रस्य श्री सुवा.नृपतेः राज्ये प्रवर्तमान श्री मूलसंघे भ० श्री प्रभाचन्द देव, तत्पट्टे श्री पद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोलाराडान्वये ....,
—(भट्टारक सम्प्रदाय ८९२)

२. अरहंत—हरितवर्ण कृष्णमूर्ति—सं० १४९३ वर्षे माघ सुदी १३ शुक्रे श्री मूल संघे पट्टाचार्य श्री पद्मनन्दि देवा गोलाराडान्वये साधु नागदेव सुत..............। (इठावा के जैन मूर्ति लेख—प्राचीन जैन लेख संग्रह पृ० ३८)

ऐतिहासिक घटना

भ० पद्मनन्दी के सांनिध्य में दिल्ली का एक सघ गिरनार जी की यात्रा को गया था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी एक संघ उक्त तीर्थ की यात्रार्थ वहा आया हुआ था। उस समय दोनों संघों में यह विवाद छिड गया कि पहले कौन वन्दना करे, जब विवाद ने तूल पकड लिया और कुछ भी निर्णय न हो सका, तब उसके शमनार्थ यह युक्ति सोची गई कि जो संघ सरस्वती से अपने को 'आद्य' कहला देगा, वही संघ पहले यात्रा को जा सकेगा। अतः भट्टारक पद्मनन्दी ने पाषाण की सरस्वती देवी के मुख से 'आद्य दिगम्बर' शब्द कहला दिया, परिणामस्वरूप दिगम्बरो ने पहले यात्रा की, और भगवान नेमिनाथ की भक्ति पूर्वक पूजा की। उसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने की। उसी समय से बलात्कारगण की प्रसिद्धि मानी जाती है। वे पद्य इस प्रकार हैं:—

पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती॥
ऊर्जयन्त गिरौतेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम. श्री पद्मनन्दिने॥

यह ऐतिहासिक घटना प्रस्तुत पद्मनन्दी के जीवन के साथ घटित हुई थी। पद्मनन्दी नाम साम्य के कारण कुछ विद्वानो ने इस घटना का सम्बन्ध आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द के साथ जोड दिया। वह ठीक नही है, क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य मूल सघ के प्रवर्तक प्राचीन मुनि पुगव है और घटना क्रम अर्वाचीन है। ऐसी स्थिति मे यह घटना आ० कुन्दकुन्द के समय की नही है। इसका सम्बन्ध तो भ० पद्मनन्दी से है।

रचनाएँ

पद्मनन्दी की अनेक रचनाए हैं। जिनमे देवशास्त्र गुरु पूजन सस्कृत, सिद्धपूजा सस्कृत, पद्मनन्दि श्रावकाचारसारोद्धार, वर्धमान काव्य, जीरापल्लि पार्श्वनाथ स्तोत्र और भावना चतुर्विंशति। इनके अतिरिक्त वीतराग स्तोत्र, शान्तिनाथ स्तोत्र भी पद्मनन्दी कृत हैं, पर दोना स्तोत्रों' देव-शास्त्र-गुरु पूजा तथा सिद्धपूजा मे पद्मनन्दि का नामोल्लेख तो मिलता है, परन्तु उसमे भ० प्रभाचन्द का कोई उल्लेख नही मिलता। जब कि अन्य रचनाओ मे प्रभाचन्द का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिये उन रचनाओं को बिना किसी ठोस आधार के प्रस्तुत पद्मनन्दी की ही रचनाए नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि वे भी इन्ही की कृति रही हो।

श्रावकाचारसारोद्धार सस्कृत भाषा का पद्य बद्ध ग्रन्थ है, उसमे तीन परिच्छेद हैं जिनमे श्रावक धर्म का अच्छा विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण मे लम्बकचुक कुलान्वयी (लमेचूवशज) साहू वासाधर प्रेरक है। प्रशस्ति मे उनके पितामह का भी नामोल्लेख किया है जिन्होने 'सूपकारसार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध है। विद्वानो को उसका अन्वेषण करना चाहिये। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति मे कर्ता ने साहू वासाधर के परिवार का अच्छा परिचय कराया है। और बतलाया है कि गोकर्ण के पुत्र सोमदेव हुए, जो चन्द्रवाड के राजा अभयचन्द्र और जयचन्द के समय प्रधान मन्त्री थे। सोमदेव की पत्नी का नाम प्रेमसिरि था, उसमे सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। वासाधर, हरिराज प्रहलाद, महराज, भवराज, रतनाख्य और सतनाख्य। इनमे से ज्येष्ठ पुत्र वासाधर सबमे अधिक बुद्धिमान, धर्मात्मा और कर्तव्यपरायण था। इनकी प्रेरणा और आग्रह से ही मुनि पद्मनन्दी ने उक्त श्रावकाचार की रचना की थी। साहू वासाधर ने चन्द्रवाड मे एक जिन-मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न की थी। कवि धनपाल के शब्दो मे वासाधर सम्यग्दृष्टि, जिनचरणो का भक्त, जैनधर्म के पालन मे तत्पर, दयालु, बहुलोकमित्र, मिथ्यात्वरहित और विशुद्ध चित्तवाला था। भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल ने भी स० १४५४ मे चन्द्रवाड नगर मे उक्त वासाधर की प्रेरणा से अपभ्रश भाषा मे बाहुबलीचरित की रचना की थी।[५]

दूसरी कृति वर्धमान काव्य या जिनरात्रि कथा है, जिसके प्रथम सर्ग मे ३५६ और दूसरे सर्ग मे २०५ श्लोक हैं। जिनमे अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर का चरित्र अकित किया गया है, किन्तु ग्रन्थ मे रचनाकाल नही दिया जिससे उसका निश्चित समय बतलाना कठिन है। इस ग्रन्थ की एक प्रति जयपुर के पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भडार मे अवस्थित है जिसकी लिपिकाल स० १५१८ है और दूसरी प्रति स० १५२२ की लिखी हुई गोपीपुरा सूरत के शास्त्र भडार मे सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त 'अनतव्रत कथा' भी भ० प्रभाचद्र के शिष्य पद्मनन्दी की बनाई उपलब्ध है। जिसमे ८५ श्लोक हैं।

पद्मनन्दी ने अनेक देशो, ग्रामो, नगरो आदि मे विहार कर जन कल्याण का कार्य किया है, लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण तथा उपदेशो द्वारा सन्मार्ग दिखलाया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यो से जैन धर्म और सस्कृति की महती सेवा हुई है।

वर्षो तक साहित्य का निर्माण, शास्त्र भंडारों का संकलन और प्रतिष्ठादिकार्यों द्वारा जैन संस्कृति के प्रचार मे बल मिला है। इसी तरह के अन्य अनेक संत हैं, जिनका परिचय भी जनसाधारण तक नहीं पहुंचा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर पद्मनन्दी का परिचय दिया गया है। चूंकि पद्मनन्दी मूल संघ के विद्वान थे, वे दिगम्वर वेप में रहते थे और अपने को मुनि कहते थे। और वे यथाविधि यथाशक्य आचार विधि का पालन कर जीवन यापन करते थे।

२— श्रीमत्प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र पट्टे, शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्ध सिद्धान्त रहस्यरत्नरत्नाकरा नन्दतु पद्मनन्दी॥
—शुभचन्द्र पट्टावली

२— हसोज्ञानमरालिका समसमा श्लेपप्रभूताद्भुता।
नन्दं क्रीडति मानसेति विशदे यस्यानिशं सर्व्वतः॥

३— स्याद्वादामृत सिन्धुवर्धन विधौ श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभाः।
पट्टे सूरि मतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः॥
महाव्रत पुरन्दरः प्रशमदग्ध रोगाङ्कुरः।
स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेपशास्त्रार्थवित्
यशोभर मनोहरीकृत समस्त विश्वम्भरः।
परोपकृति तत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः॥
—शुभचन्द्र पट्टावली

४—श्रीपद्मनन्दी मुनिराजपट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवः।
श्रीसिद्धचक्रस्य कथाऽवतारं चकार भव्यांबुजभानुमाली॥
(जैनग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० ८८)

५—श्रीलम्बकेञ्चुकुलपद्मविकासभानुः, सोमात्मजो दुरितदारु चयकृशानुः।
धर्मेकसाधन परो भुवि भव्यबन्धु र्वासाधरो विजयते गुणरत्न सिन्धुः॥
वाहुवलीचरित संधि ४

६—जिणणाह चरण भत्तो जिणधम्मपरो दयालोण।
सिरि सोमदेवतणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं।
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोय मित्तो।
मिच्छत्तचत्तो सुविसुद्ध चित्तो वासाधरो णंदउ पुण्ण चित्तो॥
वाहुवली चरित संधि ३

गीत

तर्ज—जब तुम्ही चले

महावीर जयन्ती आज मनायें साथ
वीर गुण गायें हिंसा को पुन भगायें।

तुम कुण्डलपुर मे जनम लिया, पितु मात हृदय अति मुदित।
तुम थे उनके नयनो का एक सहारा करदो भवदधि से पारा ॥१॥
महावीर

तुम सिद्धार्थ के सुत जानो, त्रिशला देवी मां पहचानो।
हो सौम्य रुप तुम भवि जन का आधारा
कर दो भवि दधि से पारा ॥२॥
महावीर

तुम घोर तपस्या करते थे निज आतम स्वरूप समझते थे।
जीवो और जीने दो का लगाया नारा,
कर दो भवदधि से पारा ॥३॥
महावीर

तुम शान्ति पाठ के दायक हो, हे वीर तुम्ही सब लायक हो।
तुम कठिन तपस्या कर स्वरूप को जाना
कर दो भवदधि से पारा ॥४॥
महावीर

रागादि शत्रु को दूर करें विनती यह शीला वैद करे।
अब तुम बिन कोन रहा है जग मे सहारा,
कर दो भव दधि से पारा ॥५॥
महावीर

सुशीला कुमारी वैद

एम० ए०, प्रवेश
धर्मालकार



> "......समुचित प्रचार व प्रसार नहीं होने से अध्यात्म एवं भक्तिभाव पूर्ण रचनाओं का स्थान श्रृंगारिक फिल्मी गीतों आदि ने ले लिया है। इससे हमारे जीवन में दिनों-दिन विषयासक्ति और वहिर्मुखता वढ़ रही है। अभी हजारों मार्मिक आध्यात्मिक रचनाएं हमारे ज्ञान भण्डारों में अप्रकाशित पड़ी हैं जिनका संग्रह और उद्धार अति आवश्यक है.... ."

पाँच सौ वर्षों का प्राचीन एक आध्यात्मिक गीत



अगरचन्द नाहटा
सिद्धांताचार्य. बीकानेर

जैन धर्म साधना प्रधान धर्म है। जैन सिद्धान्तानुसार प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अनुसार परमात्मा है पर मोह के आवरण और निरावरण से जीव के दो भेद हो गये हैं (१) संसारी और (२) सिद्ध। कर्म वन्ध का मुख्य कारण है राग–द्वेष। आत्मा अपने मूल स्वरूप को भुलाकर जव पुद्गल मे आसक्ति करने लगती है तभी राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिए जैन तीर्थंकरो ने आत्मा को जागृत करने के लिए महान सन्देश दिया। कर्मों का कर्ता, भोक्ता और निवारण करने वाला आत्मा स्वयं है। कर्म वन्ध आत्मा ने ही किया है और वही अपने स्वरूप निश्चित होने पर कर्मावरण हटाकर सिद्ध, वुद्ध और मुक्त वन सकता है।

अन्य दर्शन आत्मा का उद्धारक ईश्वर मानते हैं। जगत की सृष्टि ईश्वर करता है। उसे अपना अकेलापन अखरता है उसके मन मे एक भाव जागृत होता है—एकोऽहं वहुस्याम:—अर्थात् मैं अकेला हूँ वहुत हो जायं। मन के इस उद्वेग द्वारा वह नाना जीवजन्तुओ और पदार्थों की सृष्टि कर वैठता है। कई दर्शन यह मानते हैं कि कर्म करने मे आत्मा स्वतंत्र है पर उनका फल ईश्वर देता है। ईश्वर चाहे तो जीव पर कृपा करके उसका भवसागर मे उद्धार कर देता है। इसलिए ईश्वरवादी दर्शनों में भक्ति को मुक्ति का प्रधान

साधन बतलाया है। वेदान्त दर्शन मे ज्ञान को मुख्यता दी क्योंकि उसकी मान्यता है कि सारी खराबी अज्ञान से ही हुई है। मूल रूप मे जीव ब्रह्म ही है इसलिए ब्रह्म ही शक्ति है। माया भ्रम या अज्ञान के कारण जीव ससार के चक्कर मे आ गया है इसलिए ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान होने पर जीव सहज ही मुक्त हो जाता है। योग दर्शन ने आत्मोन्नति की साधनप्रणाली वैज्ञानिक रूप से बतलाई। मनुष्य यम, नियम आदि अष्टागिक योग मार्ग को क्रमश अपनाता हुआ समाधि प्राप्त कर सकता है तब उसके सारे दु ख समाप्त हो जाते हैं।

गीता ने कर्मयोग को प्रधानता दी क्योंकि मनुष्य जहा तक देह सम्बधित है वहा तक कुछ न कुछ कर्म या क्रिया वह करता ही रहेगा। इसलिए कर्म करने में कुशलता प्राप्त करना ही योग है। 'योग कर्म कौशलम्' और यह कुशलता दो कार्यों से प्राप्त होती है। एक तो कर्म करना और फल मे आसक्ति नही रखना–अनासक्ति योग और दूसरा जो कुछ कर्म करना उन्हे ईश्वर प्रेरित मानकर ईश्वर को ही समर्पित कर देना। यद्यपि ये दोनो मार्ग उत्तम हैं पर हैं कठिन। क्योंकि मनुष्य का अह ईश्वरार्पित होने मे बाधक है और प्रत्येक कर्म करने के पीछे उससे कुछ लाभ प्राप्त करने की आसक्ति रहती है अत अनासक्त कर्म करना कठिन है।

जैन दर्शन अनेकान्त वाद या समन्वयवादी दर्शन है। उसने केवल ज्ञान, योग या कर्म और भक्ति को मोक्ष का कारण नही बतला कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो की समन्विति का मोक्ष का कारण बतलाया है। तत्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग। अन्यत्र कहा गया है ज्ञान क्रियाभ्यास मोक्ष अर्थात् ज्ञान के द्वारा पदार्थों का वास्तविक रूप जानकर विवेक से हेय ज्ञेय और उपादेय के रूप मे पृथक्करण करना होगा। फिर जो हेय अर्थात् छोड़ने लायक हैं उनका त्याग करना होगा। ज्ञेय जो जानने लायक हैं उनको जान लेना और जो उपादेय अर्थात् ग्रहण और स्वीकार योग्य है उनको अपनाना होगा। केवल जान लेने से ही काम नही चलेगा वरन् उनका आचरण करना भी आवश्यक है।

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है। परमात्मा वास्तव मे आत्मा की ही एक उच्च स्थिति है अत उसे आदर्श मानकर आत्मा को तदनुरूप बनाने का प्रयत्न करना जरूरी है। परमात्मा या ईश्वर के भरोसे बैठे रहना ठीक नही। स्वय मुक्त होने का पुरुषार्थ करना है। परमात्मा हमारा मार्ग-दर्शक और प्रेरक अवश्य है पर उसके कहे हुए मार्ग पर चलना तो हमे स्वय ही है। इसलिए उपादान यानी मूल कारण मोक्ष के लिए आत्मा स्वय है। तीर्थंकर आदि महापुरुष निमित्त कारण या पृष्ठावलबन रूप मे मान्य और पूज्य हैं। उनके वचनो पर विश्वास रखकर बतलाये हुए ये अनुष्ठान, साधन आराधना करने से हम मोक्ष की ओर अग्रसर होगे। उनकी मूर्ति को देखकर हम अपने विस्मृत स्वरूप की स्मृति मे लाएगे कि यह भी हमारे ही जैसे थे इन्होने साधना या पुरुषार्थ करके आने वाले कर्म-प्रवाह को रोका, पूर्व कृत कर्मों को भोग कर या तप या भावना द्वारा निर्जरित किया और सवर रूप स्वरूपस्थ बने तभी ये परमात्मा हो सके। स्वरूपत हमारी आत्मा ही परमात्मा है उसे जिस प्रकार इन्होने जागृत व प्रकट की उसी तरह हमे भी करना है। उस मार्ग पर चलने वाले साधक, आचार्य, उपाध्याय, मुनि का सत्सग एव सदुपदेश हमारे लिए आत्मोत्थान के कारण हैं।

आत्मा के समीप रहना या आत्मा मे ही निवास करना, आत्मा का ही ज्ञान, चिन्तन, मनन और ध्यान करते रहना आध्यात्म है। जैनधर्म ने आत्मा के उत्थान का बडा ही वैज्ञानिक और

सुलझा हुआ मार्ग वतलाया है। सुख दुःख और नाना आकृतियो और भावो तथा अवस्थाओ का मूल कारण कर्म हैं। वे जीवो ने स्वयं मिथ्यात्व, अविरति, कपाय, योग द्वारा वांधे है। संवर और निर्जरा द्वारा उनको हटाया जा सकता है। आत्म ज्ञान, प्रतीति, आत्मरमणता, ज्ञान, स्वाध्याय और संयम तप में रमण करने से आत्मा स्वय परमात्मा वन सकती है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप सिद्ध के समान है इत्यादि वातो की चर्चा जैन ग्रन्थों मे विस्तार के साथ की गई है। दिगम्वर सम्पदाय में आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना लम्बे समय तक होती रही है। प्राकृत, अपभ्रंश में ही नही, हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी, गुजराती, कन्नड़ आदि भाषाओं मे भी आध्यात्मिक साहित्य प्रचुर परिमाण में प्राप्त है जिनका स्वाध्याय एवं मनन अधिकाधिक किया जाना वाछनीय और आत्मोत्थान का प्रशस्त मार्ग है।

वड़े वड़े ग्रन्थों की वात जाने दें पर छोटे छोटे गीत पद आदि अनेकों ऐसी रचनाएं जैन कवियों की प्राप्त है जो वहुत ही सात्विक प्रेरणा प्रदाता और हृदय स्पर्शी हैं। इन सक्षिप्त और सारगर्भित रचनाओ को पढ़ने, गाने, सुनने और मनन करने पर आत्मा मे नया प्रकाश फैलता है। आध्यात्मिक मस्ती प्रकट होती है प्रफुल्लता और आत्मविभोरता प्राप्त होती है। इसलिए इन लघु रचनाओ का अधिकाधिक प्रचार वहुत ही आवश्यक है।

कई वर्ष पहले जैन आध्यात्मिक एवं भक्ति पदों एवं अन्य उपयोगी और प्रेरणादायी रचनाओ के सग्रह-संग्रह ग्रन्थ प्रकाशन का प्रयत्न दोनो सम्प्रदायों में अच्छे रूप मे हुआ था पर वे वहुत से ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं। कुछ प्राप्त हैं उनका भी समुचित प्रचार एव प्रसार नहीं होने से अध्यात्म एवं भक्ति भाव पूर्ण रचनाओं का स्थान धार्मिक फिल्मी गीतों आदि ने ले लिया है। इससे हमारे जीवन में दिनो दिन विपयासक्ति और वहिर्मुखता वढ रही है। अभी हजारो मार्मिक आध्यात्मिक रचनाएं हमारे ज्ञान भंडारों में अप्रकाशित पड़ी हैं जिनका सग्रह और उद्धार अति आवश्यक है। हमारे संग्रह के सोलहवीं शताव्दी के लिखे गुटके में से सहणपालु के रचित एक आध्यात्मिक गीत को यहा प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है। इससे प्रेरणा लेकर ऐसी अन्य जो भी रचनाएं अप्रकाशित हैं उन्हें प्रकाश मे लाने का शीघ्र ही प्रयत्न किया जायगा।

"भारतीय साहित्य" के जनवरी–अप्रैल ६७ के अंक में सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुराम जी चतुर्वेदी का एक लेख हिन्दी का वैष्णव तथा जैन सत साहित्य प्रकाशित हुआ है। उसमे उन्होंने जैन संत साहित्य का सक्षेप में वडा अच्छा परिचय दिया है। उन्होने जिन ८–१० कवियो की रचनाओं के उदाहरण इस लेख मे दिये हैं उनमे १७ वी शताव्दी के रूपचन्द कवि, वनारसी दास आदि के नाम है। अन्तिम कवि चिदानन्द सं. १९०५ के लगभग हुए है। उन्होने लिखा है कि हिन्दी सन्त साहित्य के निर्माण मे सहयोग प्रदान करने वाले जैन कवियो की संख्या कम नहीं है। उनमें से अधिकांश का काव्य काल १७ वी शताव्दी से प्रारंभ होता है पर उसके पहले वहुत से ऐसे लोग पाये जाते है जिनका ध्यान विशेपकर सगुणोपासना की ओर केन्द्रित रहता था तथा जो अपने पूर्ववर्ती जैन कवि योगेन्दु मुनि, मुनि रामसिंह आदि तक से भी यथेष्ट प्रभावित प्रतीत नहीं होते। वास्तव मे योगेन्दु व रामसिंह की परम्परा में जैन कवियो ने आध्यात्म गीत वरावर रचे हैं जिनमें से १५ वी के उत्तरार्द्ध या १६ वीं के पूर्वार्द्ध के कवि सहणपालु का आध्यात्म गीत यहा इसलिए भी प्रकाशित किया जा रहा है कि १३ वीं से १७ वीं शताव्दी के वीच का जो साहित्य ऐसे ही पड़ा है उसे प्रकाशित कराया जाय।

अध्यात्म गीत

आदि न अंतु जासु कउ जाणइ
णाणिनि पाणिणा कोइ।
रहिउ पूरितिहुवणु परमेसुरु,
पर पोखियइ न सोइ ॥१॥
सामी हो सेवहि हो मेरे जीव तुहु,
आदि पुरिखु अरहतु।
अखु अमलु अविचलु अपरपरु,
अलखु अगमु महतु ॥१॥
घट महि वसहि इन देखें
हो कोई देखत रहि उल्लुकाए।
रूप गध रस विहूणो,
गुरु लघु यहण न जाइ ॥२॥ सामी॥
समति सयभुवमु पुरिसोतमु,
निरालबु नरसीहु॥
निराकारु निखेखु निरजणु
एवु अनेकु निहु ॥३॥ सामी॥
यहइ सुह सुह सुह सोह,
हसु यह इह सोइ।
जम भम जर मरण णिरालबु
सदा जीउ यह जोइ ॥४॥ सामी॥
माया मानु लोहु कोहालणु,
पाणी णाणि बुझाए।
आठ करम अरि अरूई दीठ,
गइ नु पहि आपु मिलाए ॥५॥ सामी॥
आसउ वधु दूरि करि दिनि दिनि,
सवरु निरजर साधि।
चितवइ मोखु अवरु सवु परिहरि
यह ससारु उपाधि ॥६॥ सामी॥
सव सकलप विकलप निराकरि,
भवति पात दुह हेउ।
विगतु विचारि नियदु किन निरवहि,
यह सरीर महि देउ ॥७॥सामी॥
दय करि वीर वचन जैं जपैं,
तो साचें मनि मानै।
सहणपालु सिधदासु पय पइ,
मोख लहहिगो इसु ज्ञानी ॥८॥
सामी सेवहि हो मेरी जीय तुहु,
आदि पुरिखु अरहतु।
अलखु अमलु अविचलु अपरपरु,
अलखु अगमु महतु ॥

बालकराम कृत सीता चरित्र

प्राकृत भापा में सीया चरियं नाम से कुछ रचनाओं की सृष्टि हुई और समय के साथ साथ वह ही परम्परा भाषा में भी चल कर आई और उसमें कुछ सीता चरित्रों की रचना हुई। श्री वालक राम का सीता चरित्र भी एक ऐसी ही रचना है जिसकी कुछ प्रतियों का संक्षिप्त परिचय विद्वान लेखक ने यहां दिया है। इनमें से कुछ प्रतियों में लिपिकारों की शिष्य परम्परा एवं श्रावक वंश परम्परा का वर्णन होने से ऐतिहासिक महत्व की भी हैं। खोज करने से और भी ऐसी प्रतियां भण्डारों में प्राप्त हो सकती हैं।

—सम्पादक



डॉ० छोटेलाल शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

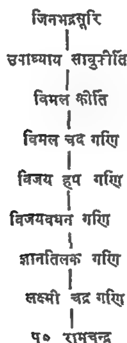
लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व अपने शोध प्रबंध के सिलसिले में अहमदावाद पाटन लीमडी, कोडाय, भडोच आदि स्थानो की यात्रा की थी। अहमदावाद मे लालाभाई दलपति भाई संस्कृति विद्यामंदिर, के संचालक श्री दलसुख मालवणिया के सौजन्य से प्राकृत भापा मे लिखित 'सीयाचरित्र' की प्रतियां कुछ देखने को मिली थीं। इसमे अपभ्रंश के भी उद्धरण हैं और यत्र-तत्र वर्णनात्मक गद्य भी है। ग्रंथ चम्पू की कोटि का है लेकिन सुसंबद्ध और कथानक क्षिप्र है। लेखक का अनुमान था कि यह परंपरा भापा मे भी अवश्य जीवित है। कवि समयसार की 'सीताराम चौपाई' को देखकर उक्त धारणा को और भी अधिक बल मिला। लेखक ने कलकत्ते के सभी पुस्तकालय एवं जैन भण्डार देखे, लेकिन निराशा ही हाथ आई। सीताचरित्र संबंधी कोई भी भापा ग्रंथ नहीं मिला। लेखक को आगरा भी जाना पड़ा और वहां का 'जैन शोध संस्थान' देखने का सौभाग्य मिला। श्री महेन्द्र जी के सौजन्य से श्री वालकराम कृत 'सीता चरित्र' की सात प्रतियां भी सुलभ हो गयीं। इनकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १७१३ की है जो मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को समाप्त होती है।[1] इसके कथ्य में नवीनता है, मौलिक मोड़ हैं और संबंध निर्वाह में विधायक कल्पना के दर्शन होते हैं। इसमें 'सीताचरित्र' और

समयसार की 'सीताराम चौपाई' की अनुकृति नही कहा जा सकता है। कल्पना व्यापक है और अप्रस्तुत योजना नवीन एव तदग्र।

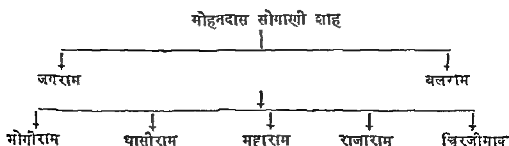
(७) प्रस्तुत कृति की सात प्रतिया क्रमश स० १७१३ वि०, स० १७६२ वि०, स० १७६४ वि०, (दो प्रतिया), स० १८०१ वि०, स० १८१४ वि०, स० १८४८ वि० और स० १८५१ वि० की हैं। स० १७६२ की प्रति कार्तिक शुक्ला एकादशी को समाप्त हुई है। इसकी पुष्पिका मे लिपिकार का नाम नही है।[२] स० १७६४ वि० की प्रति भाद्रपद कृष्णा दशमी मगलवार को पूरी हुई है।[३]

प्रस्तुत प्रति मे लिपिकार की शिष्य परपरा और श्रावक की वशपरपरा भी अकित है।[४]

(अ) लिपिकार की शिष्यपरपरा—



(आ) श्रावक वश परपरा—



दूसरी प्रति सं० १७६४ वि० की वैशाख शुक्ला पचमी शनिवार को साहिजहानावाद मे संघनायक राजारामजी के वाचनार्थ रामचंद्र गणि द्वारा लिखी गयी है[५] स० १८०१ की प्रति जयपुर मे श्रावण कृष्णा मंगलवार को किन्ही रामगोपाल द्वारा लिपिवद्ध की गई है।[६] सं० १८१४ वि० की प्रति मे भी लिपिकार का नाम नही है।[७] यह प्रति भी कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी मंगलवार को समाप्त हुयी है। इसके वीच मे चंद का नाम आता है। स्यात् वही इसका लिपिकार हो सकता है।[८] सं० १७४८ वि० की प्रति किन्ही मिश्र नोलराम गौड़ की लिखी हुई है जो फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी बुधवार को हाथरस मे समाप्त हुई है।[९] सं० १८५१ की प्रति पं० रत्नलाल द्वारा कार्तिक कृष्णा अष्टमी शुक्रवार को पूरी की गयी है।[१०]

(३) प्रस्तुत कृति की उत्थानिका, रचनाविधान एवं उपसंहार—सभी प्राकृत तथा भापा की अन्य रचनाओ से पर्याप्त भिन्न है। प्राकृतग्रंथ 'सीया-चरिय' की उत्थानिका धार्मिक है। कथा अलीक अभ्याख्यान के फल की स्थापना से प्रारंभ होती है। समस्त कथानक उत्तरभव और जीवन-अंतरायो से सवधित है। प्रस्तुत ग्रंथ सीता की प्रव्रज्या के साथ समाप्त हो जाता है। उसमे राम की उत्तर-वर्ती उपलब्धि और सीता द्वारा प्रस्तुत उपसर्ग नही है। इससे नायिका के चरित्र का वैशिष्ट्य भी कायम रह सका है और ग्रंथ के शीर्षक की महत्ता भी अप्रतिहत रह सकी है। समूची कथा सीतापुत्र और नारद के बीच चलती है जिसमें 'पचतंत्र' और 'राम चरित मानस' के सदृश श्रेणिक और गण-धर भी वक्ता और श्रोता के रूप मे आजाते है। इसका मुद्रिका प्रसंग 'राम चरित मानस' से मिलता जुलता है जिसे हनुमान सीता की खोज के समय ले जाते हैं। वैसा ही संदर्भ है और वैसा ही दृश्य।[११] रामवनवास के समय कैकेयी द्वारा राम की मनु-हार साकेत के सदृश है। कैकेयी का पश्चाताप अत्यंत आवेश युक्त एवं ऊष्म है और राम की दृढ़ता अप्रतिम।[१२] उसका 'पूज अयोध्या में चलो' तुलसी दास की 'गीतावली' की टक्कर का है। लोकलय ने मनुहार को अत्यंत कारुणिक वना दिया है। इसमे इचपुर के राजा का नया प्रकरण भी है। यत्र-तत्र ग्रंथ पर आल्ह खड अर्थात् परिमालरासो का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अरदास, हुकुम, खलक प्रभृति एकानेक उर्दू के शब्द पद एवं वाक्य खंडो का प्रयोग है। शैली वही कडवक शैली है जिसमे दोहा-चौपाई का वंध है। इसके अतिरिक्त सोरठा, अरिल्ल, सवैया, मनहरण आदि छदो का प्रयोग है। ग्रंथ हिन्दी के प्रवंध काव्यों की शैली मे लिखा गया है। भापा सरल एवं चुटीली है। अभिप्राय लोक जीवन के और प्राचीन है। अभिप्रायो के द्वारा भी काव्य लोकजीवन से जुड़ जाता है जिसमें गुण-पर्याय पर्याप्त दूर तक समान वने रह जाते हैं और भावो मे घनता एव सामजस्य आजाता है। ग्रथ उत्तम और सार गर्भित है।

१—संवत सतरह तेरी तरै, मगसिर ग्रंथ समापित करै।
सुकल पक्ष तिथि है पचमी, आपो जानि कुमति जिनवमी।

२—श्री महासती सीताजी को चरित्र सपूर्ण सं० १७६२ का सी कार्ती सु० ११।

३—इति श्री सीता चरित्रं समाप्तं। ग्रंथाग्रंथ श्लोक सं० ३५०० स० १७६४ वर्षे भाद्रपद कृष्णा पक्ष दशमी दिने भौमवासरान्विते यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा।

४—लिषित श्वेतावरी खरतर वृह गच्छे भट्टारक श्री जिनभद्र सूरि शाखाया उपाध्याय श्री साधु कीर्तिस्तत्सिप्य विमल कीर्तिस्तत्सिप्य विमलचद गणि स्तत्सिप्य वाचनाचाय श्री विजय हर्ष जी गणि स्तत्सिप्य वाचनाचार्य श्री विजय हप जी गणि स्तत्सिप्य मुख्यवाचनाचार्य श्री विजय वधन जी गणि स्तत्सिप्य सर्व विद्या विशारद पडित गुणालकृत श्री ज्ञानतिलकजी गणि मुख्य सिप्य वाचक लिपमीचद गणेसिप्य प० रामचद्रेण लिषित। सुश्रावक श्री सोगाणी गोत्रे साहजी श्री मोहनदासजी तत्पुत्र भातृ दोइ सुश्रावक पुन्य प्रभावक देवगुरू भक्ति कारक प च परमेष्टि महामत्र स्मारक वृहत्‌ भ्राता जगराम लघु भ्राता बलराम तन्मध्ये भ्रातात्मज भोगीराम तदनु घासीराम तदनु महराम तदनु चिरजीयायस्य पठनाय लिखितमिद पुस्तक।

५—स० १७६४ वैसाखसुदी पचमी शनिवार, श्री साहिजहाँनावाद मध्ये लिखित श्वेतावर रामचद्र गनि सुश्रावकपुन्य सघनायक साह श्री राजारामजी वाचानाथ श्रेयो भवतु। श्री भिखारीदास बनाम सहाव कमलापति सुत परनाथ बहन कौसन सुत तुलसीलाल पठनार्थ लिखित प्राननाथ दीली जिहानावाद के गगाराम उपदेस हैं। पृ० १५६

६—लिपिकाल मिति कृष्णपक्षे श्रावणमासे मगलवासरे स० १८०१ सवाई जैपुर रामगोपाल

७—स० १८१४ वर्षे कार्तिक मासे कृष्ण पक्षे तिथौ त्रियोदश्या भृगुवासे शुभम् सपूर्ण। पृ० १२८

८—कहे चदकर जोरि सीस नयवदिये।

९—स० १८४८ वर्षे फागुन सुदि १३ बुधिवासरे लिपित मिश्रनोनराम गौड हाथुरस नगरे—स्वामी श्री श्री विशाल कीर्ति पठनार्थमिद पुस्तक।

१०—इति श्री सीताचरित सपूर्ण स० १८५१ वर्षे कार्तिक वदि ८ शुक्रवार लिपित य प० रत्नलाल शुभम्

११—सीताचरित्र प० १०२-छद ११-१५ मुद्रिका प्रसग

१२—वही प० ३८ छद ५१-६२ कैकेयी की मनुहार।



जैन स्तोत्र : परम्परा और महत्त्व

"..........जैन स्तोत्र साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें सदैव गुणों की पूजा की गई है व्यक्ति की नही.... ...."



डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

संस्कृत-साहित्य विश्व की प्राचीनतम अमूल्य निधि है। गीति-काव्य इसका परम रमणीय अङ्ग है। यह मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार से उपलब्ध होता है। थोड़े शब्दों में महान् अर्थ का निरूपण मुक्तक की प्रमुख विशेषता है। स्तोत्र की रचना प्रायः मुक्तक के रूप मे होती है। अतः स्तोत्र, गीतिकाव्य के रूप में संस्कृत-साहित्य का एक प्रमुख अंग है।

स्तोत्र-साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध स्तोत्र प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। स्तोत्र का मुख्य विषय भक्ति है। समस्त धर्मों मे भक्ति का महत्त्व है। जैनधर्म तो भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है। भक्ति का अर्थ है पूज्य पुरुषो के गुणों का स्मरण। आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भू-स्तोत्र' में तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तुति करते हुए कहा है—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

हे नाथ ! आप तो वीतराग हैं अतः आपको न तो अपनी पूजा से कोई प्रयोजन है और निन्दा से, क्योंकि आपने वैर का भी पूरी तरह अन्त कर दिया है। फिर भी, आपके पुण्य गुणों की स्मृति हम संसारी जनो के चित्त को

पाप रूपी कलङ्क से मुक्त कर पवित्र बना देती है।"

जैन-स्तोत्र का उद्भव मूल आगमों से है। जैन आगमों के प्राकृत भाषा में पाया जाने वाला 'पञ्चनमस्कार मन्त्र' जैन-स्तोत्र का सबसे प्राचीन रूप है। इसमें परमात्म-पद की पांच अवस्थाओं को नमस्कार किया गया है—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

"चार कर्मों का नाश करने वाले अरिहन्तों को, आठों कर्मों का नाश करने वाले सिद्धों को, आचार्यों और उपाध्यायों को तथा लोक में समस्त साधुओं को नमस्कार हो।"

प्राय आगम, काव्य, नाटक, चम्पू कथा आदि समस्त जैन—साहित्य में यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार स्तोत्र के दर्शन होते हैं किन्तु अनेक आचार्यों ने स्तोत्र-ग्रन्थों की स्वतन्त्र रूप से रचना की है। अनेक जैन-स्तोत्रों के सङ्ग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। चतुर्विजय मुनि द्वारा सम्पादित तथा अहमदाबाद से प्रकाशित 'जैनस्तोत्र सदोह', १२६ सुन्दर स्तोत्रों का सङ्ग्रह है। इसमें ८६६ स्तोत्रों के सबंध में भी अकारादि क्रम में सूचना दी गई है। निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित "जैन स्तोत्रसमुच्चय' में १२२ विभिन्न प्रकार के स्तोत्रों का सङ्ग्रह है। इसी क्रम को सुप्रसिद्ध काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में जिन २३ जैन स्तोत्रों का सङ्ग्रह है वे भाषा और भाव तथा साहित्य एव संस्कृति, सभी दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। प्रकाशित सग्रहों के अतिरिक्त जैन स्तोत्रों का एक बहुत बड़ा भाग अनेक जैन मन्दिरों एव शोध सस्थानों में अप्रकाशित पड़ा है। सिन्धिया ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जैन की भूतपूर्व क्यूरेटर, जर्मन विदुषी डा० शार्लोट क्राउजे (Dr Sharlotte Krause) ने १९५३ में अपने इन्स्टीट्यूट के बारह हजार हस्तलिखित ग्रन्थों में से सस्कृत और प्राकृत भाषा के आठ सुन्दर जैन स्तोत्रों को निकाल कर उन्हें Ancient Jain Hymns' के नाम से प्रकाशित करते हुए उसकी प्रस्तावना में लिखा था "इस इन्स्टीट्यूट में अभी अनेक जैन स्तोत्र हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में पड़े हैं जिनका सशोधन और प्रकाशन होना नितान्त आवश्यक है।"

जैन स्तोत्रों को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

१—२४ तीर्थङ्करों और अन्य परमेष्ठियों की प्रशंसा में सामूहिक तथा पृथक् पृथक् रूप से लिखे गए स्तोत्र, जैसे—चतुर्विंशति जिनस्तवन, आदिनाथ स्तोत्र, पार्श्वस्तोत्र, महावीर स्तोत्र आदि।

२—कष्ट को दूर करने के निमित्त से रचे गए स्तोत्र, जैसे—विष का प्रभाव दूर करने के निमित्त से लिखा गया 'विषापहार स्तोत्र'। इसी प्रकार ग्रहशान्ति स्तोत्र आदि।

३—विभिन्न तीर्थों की प्रशंसा और भक्ति में लिखे गए शत्रुंजय स्तुति, गिरनार चैत्य परिपाटी स्तवन, पार्श्वनाथ सप्ततीर्थ स्तवन आदि।

४—दार्शनिक स्तोत्र, जिनमें जैन दर्शन के गूढ़ तत्वों का विवेचन पाया जाता है। जैसे—देवागम स्तोत्र, अयोग व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका आदि।

कुछ स्तोत्रों के नामकरण, स्तोत्र के प्रथम शब्द के आधार पर किए गए हैं। जैसे—भक्तामर स्तोत्र, एकी भाव स्तोत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, इष्टाष्टक स्तोत्र आदि। कुछ स्तोत्रों के नामकरण उनकी पद्य सख्या पर आधारित हैं, जैसे बत्तीस पद्यों के कारण महावीर द्वात्रिंशिका, बीस पद्यों के कारण सिद्ध विंशिका, सौ पद्यों के कारण जिन शतक आदि।

तीर्थङ्करों की स्तुति रूप स्तोत्रों में 'आदिनाथ स्तोत्र' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसी का नाम 'भक्तामर स्तोत्र' है। इसके रचयिता हैं आचार्य मानतुङ्ग। ये धारा नरेश भोज के समकालीन कहे जाते हैं। इस स्तोत्र में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की स्तुति मे अडतालीस पद्यों की रचना की गई है। इस स्तोत्र के संबंध में किंवदन्ती है कि अडतालीस कोठरियो मे ताला लगाकर बंद किए गए आचार्य मानतुङ्ग ने जब इस स्तोत्र का एक-एक पद्य पढ़ना प्रारम्भ किया तो सभी कोठरियो के ताले क्रमशः टूटते गए। यह स्तोत्र विद्वानो को इतना रुचिकर हुआ कि इसके अनुकरण पर नेमि भक्तामर, सरस्वती भक्तामर, वीर भक्तामर, ऋषभ भक्तामर, शान्ति भक्तामर आदि अनेक स्तोत्रों की रचनाये हुई। इतना ही नहीं, इस स्तोत्र का 'वसन्ततिलका' छन्द भी स्तोत्र रचना के लिए आदर्श छन्द माना जाने लगा। इस स्तोत्र में भाषा तथा भावो का सुन्दर सामञ्जस्य दर्शनीय है। ग्यारह वार 'भ' अक्षर की आवृत्ति से इस स्तोत्र का यह पद्य कितना मनोरम प्रतीत होता है—

नात्यद्भुतं भुवन भूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभीष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥

"हे जगत भूषण, हे जगत के जीवो के नाथ, आपके यथार्थ गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए यदि भक्त आपके समान हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य। स्वामी का तो यह कर्तव्य ही है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान वनाले।"

जैन स्तोत्रों में इष्ट देवता की स्तुति के अतिरिक्त कभी-कभी जैनधर्म के गूढ़ सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया जाता है। इसी कारण अनेक स्तोत्र दार्शनिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। स्वामी समन्तभद्र का देवागम स्तोत्र विश्व के समस्त चिन्तकों के लिए चिन्तामणि के समान है। ११४ श्लोक प्रमाण इस स्तोत्र पर तार्किक तपस्वी अकलङ्कदेव ने अष्टशती नाम की ८०० श्लोक प्रमाण टीका का निर्माण किया और आचार्य विद्यानन्दी ने अष्टशती टीका पर ८००० श्लोक प्रमाण अष्ट सहस्री नाम की विश्वातिशायिनी टीका बनाई।

जैन स्तोत्रों की भाषा अत्यन्त सरल एवं मनोहर उदाहरणों से भरपूर होने के कारण चित्ताकर्षक है। 'विषापहार स्तोत्र' में कहा गया है कि हे भगवन्! आप तो निर्मल दर्पण के समान सदा स्वच्छ है। जो व्यक्ति आपको निष्पाप भाव से देखता है वह सुख पाता है और जो आपसे विमुख होकर बुरे भाव से आपको देखता है वह दुःख पाता है। ठीक ही है, दर्पण में जो अपना मुख सीधा करके देखता है उसे उसका मुख सीधा दिखता है और जो अपना मुंह टेढा करके देखता है उसे टेढा दिखता है:—

"उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि
त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्।
सदावदात द्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥

जैन स्तोत्र साहित्य मे भक्तामर स्तोत्र के पश्चात् ये स्तोत्र अत्यन्त महनीय माने गए हैं—वादिराज का एकीभाव स्तोत्र, स्वामी समन्त भद्र का देवागम और स्वयंम्भु स्तोत्र, धनंजय का विषापहार स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का कल्याण मन्दिर स्तोत्र, आचार्य अकलङ्क का अकलङ्क स्तोत्र और भागचन्द्र का महावीराष्टक स्तोत्र।

जैन स्तोत्रो की सबसे बडी विशेषता यह है कि उनमें सदैव गुणो की पूजा की गई है व्यक्ति की नही। अकलङ्क स्तोत्र मे कहा गया है कि—

"म उसकी वन्दना करता हू कि जिसने अपने समस्त दोषो का विध्वस कर दिया है और इसी कारण जो सम्पूर्ण गुणो का भण्डार बन गया है तथा साधुओ के द्वारा वन्दनीय ह, चाहे वह कोई भी हो बुद्ध हो, वर्द्ध मान हो, ब्रह्म हो, विष्णु हो अथ शिव हो।"

"त वन्दे साधुवद्य सकलगुणनिधि ध्वस्तदोपद्विषन्
बुद्ध वा वर्द्ध मान शतदल निलय केशव वा शिव वा



"प्रतिभाशाली की प्रतिभा को मेहनत और निखारती है और साधारण योग्यता वाले की कमियो को दूर करती है। सोच विचार कर की गई मेहनत के सामने कुछ भी अप्राप्य नही है और बिना इसके कुछ भी प्राप्य नही है।"

—सर जोशुआ रोनाल्ड्स

जयपुर के प्राचीनतम 'दि० जैन मंदिर पाटोदियान' की मूल वेदी

००



राजस्थान के राज्यपाल श्री सरदार हुकुमसिंह, पदमपुरा स्थित
दि० जैन मंदिर में भगवान पद्मप्रभ के समक्ष

जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्धकाव्यों में मार्मिक स्थल

[१८वीं तथा १९वीं शती]

'......इतिवृत्त विधान से पद्यबद्ध इतिहास का तो सृजन हो सकता है किन्तु काव्य का नहीं। इतिवृत्त अपने आपमें शुष्क और नीरस होता है। उसमें रसपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना से ही रसवत्ता आती है। इतिवृत प्रवन्ध का स्थूल ढांचा है, उसमें सूक्ष्म प्राण फूंकने का काम उसके वे रसात्मक प्रवंध करते है जो कथा के मध्य हृदय को रमाने के लिये वीच वीच में रखे जाते हैं। ये रसात्मक प्रसंग ही काव्य के रमणशील या मर्म स्पर्शी स्थल कहलाते है।..... ."



डॉ० लालचन्द जैन
हिन्दी विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

प्रवन्धकाव्य मे चाहे वह महाकाव्य हो, एकार्थकाव्य या खण्डकाव्य हो 'किसी वस्तु का शृंखलावद्ध वर्णन होता है। उसमें आरम्भ से अन्त तक किसी प्रख्यात अथवा काल्पनिक कथा का वर्णन होता है। उसकी एक घटना दूसरी से सर्वथा सम्बद्ध होती है और कथा के सूत्र मे कही भी व्यतिक्रम नही हो पाता। किसी शृंखला की कड़ियों के समान विभिन्न घटनाएं एक दूसरी से मिली रहती है और उनके सम्बद्ध होने से ही एक प्रवाहमयी कथा का निर्माण हो जाता है। प्रबन्धकाव्य में कवि का ध्यान कथा के सूत्र की ओर ही रहता है।' [1]

किन्तु केवल शृंखलाबद्ध कथानक से ही किसी सफल प्रबन्धकाव्य की रचना नहीं हो जाती। कोरी इतिवृत्तात्मकता से प्रबन्धकाव्य स्थापित नहीं किया जा सकता। उसमें रसात्मकता की प्रतिष्ठा के बिना वह निर्जीव सा प्रतीत होगा। अत: उसमें मार्मिक स्थलों की अवतारणा और सापेक्ष वस्तु-वर्णनों की योजना भी अनिवार्य है। इस प्रकार साहित्य-शास्त्रियों ने प्रबन्ध के तीन निकष स्वीकार किये है—(१) कथा का सम्बन्ध-निर्वाह (२) गंभीर मार्मिक स्थलों का विधान और (३) स्थान-काल के अनुकूल दृश्यों की योजना। यहां हमारा विवेचन प्रबन्ध के दूसरे निकष अर्थात् गंभीर-मार्मिक स्थलों का

विधान तक ही सीमित है।

यद्यपि प्रबन्धकाव्य इतिवृत्त प्रधान काव्य होता है किन्तु मात्र इतिवृत्त विधान में पद्यबद्ध इतिहास का तो सृजन हो सकता है, किन्तु काव्य का नहीं। इतिवृत्त अपने आप में शुष्क और नीरस होता है। उसमें रसपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना से ही रसवत्ता आती है। इतिवृत्त प्रबन्ध का स्थूल ढाँचा है उसमें सूक्ष्म प्राण फूँकने का काम उसके वे रसात्मक प्रसंग करते हैं जो कथा के मध्य हृदय को रमाने के लिए बीच बीच में रखे जाते हैं। ये रसात्मक प्रसंग ही काव्य के रमणशील या मर्मस्पर्शी स्थल कहलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े विचार के साथ लिखा है— जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है, वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा के बीच बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है।[२]

वस्तुतः कथा के मध्य स्थल-स्थल पर जो विराम दिये जाते हैं वे इन्हीं मार्मिक परिस्थितियों के चयन के लिये। इस प्रयोजन से कथा में जो विराम पाये जायें, वे काव्य के औदात्य एवं उत्कर्ष के लिये आवश्यक समझे जाने चाहिए।[३] कोई कवि अपने प्रबन्ध काव्य में कितने मार्मिक स्थलों की अवतारणा कर सका है, सच पूछा जाये तो यही उसके काव्य की सफलता की कसौटी है। इस कला में निपुणता का श्रेय सहृदय एवं भावुक कवि को ही मिलता है। भावुक कवि ही ऐसे तलस्पर्शी स्थलों के अन्तर में जाकर पैठता है, पात्रों को तदनुकूल परिस्थितियों में डालता और उनके साथ अपने हृदय का सम्बन्ध जोड़कर तथा मानव-जीवन की अनेक दशाओं के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ऐसे भाव-मुक्ताओं को चुनकर प्रत्यक्ष रखता है जिनकी कान्ति न कभी मिटती है और न कभी फीकी पड़ती है मानो उनका सौन्दर्य शाश्वत और देश-काल की सीमाओं से परे है।

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती में जैन कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचे गये अनेक प्रबन्धकाव्यों में से मार्मिक स्थलों के विधान की दृष्टि से यहाँ प्रमुखतः कवि भूधरदास कृत 'पार्श्वपुराण' नेमिचन्द्र कृत 'नेमीश्वररास' रामचन्द्र 'बालक' कृत 'सीता चरित' दौलतराम कृत 'जीवन्धर चरित' आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका' भारामल्ल कृत 'शील कथा' विनोदीलाल कृत 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल' आदि काव्य उल्लेखनीय हैं।

'पार्श्वपुराण' में यद्यपि वर्णनात्मक अंशों के आधिक्य के कारण मानव हृदय के प्रसार के लिये विराट भूमि नहीं मिल पायी है तथापि उसमें समुचित मार्मिक स्थलों का अभाव नहीं है। कवि ने कथा में आवश्यक विराम देकर ऐसे स्थलों को पहचाना है यथा–राजा अरविन्द द्वारा मरुभूति के के भाई कमठ को दण्ड दिया जाना,[४] भूताचल पर्वत पर दोनों भाइयों के मिलने के अवसर पर कमठ द्वारा मरुभूति की हत्या,[५] वज्रघोष हस्ती का हृदय-परिवर्तन[६] राजा वज्रनाभि का वैराग्य,[७] पार्श्वनाथ के तपस्वी जीवन के कष्ट आदि।

'नेमीश्वर रास' में समुचित रसात्मक स्थलों का विधान है। ऐसे स्थलों पर मानव-भावनाओं, संवेदनाओं सुख-दुःख के विविध रूपों की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरण के लिये महाभारत के युद्ध में जब दोनों पक्षों की सेनाएं समरभूमि में आ खड़ी होती हैं, तब कुन्ती और कर्ण में जो संवाद हुआ है वह हमारे अन्तस्तल को धरा को छूने में समर्थ है। कुन्ती कर्ण से कहती है— बेटा कर्ण! तू मेरा पुत्र है, मैं तेरी माँ हूँ। तू सोच-समझ। कर्ण माँ के वचनों को सुनकर एक साथ ही हर्ष और शोक से विह्वल हो उठता है। इस समय उसके अन्तर का द्वन्द्व चरमोत्कर्ष पर जा पहुँचता है। उसकी आत्मा काँप उठती है। वह गंभीरता से मनन करता है कि माता के स्नेह को

ठुकरा दूं या स्वामी भक्ति को। अन्त में वह निर्णय लेकर रुंधे हुए कठ से कहता है—मां सुनो! यदि मै आपका ऋण चुकाऊं तो स्वामी का ऋण मेरे सिर पर रह जायेगा। दुनियां मुझे नमक हरामी कहेगी। मा मुझे क्षमा करो।

ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग और लीजिये। वन में कृष्ण जरत्कुमार के बाण से धराशायी ही नहीं हो गये, सदैव के लिये मृत्यु-शैया पर सो गये है। बलभद्र कृष्ण समझते हैं। सही स्थिति से अवगत न होने के कारण वे कृष्ण को 'भाई–भाई' कहकर जगाने, जगकर मुख धोने और जल पीने के लिये कितनी ही बार पुकारते जाते है। उनकी समस्त चेष्टाएं निष्फल रहती हैं। उन्हे न संतोष होता है और न विश्वास। वे सोचते हैं-भाई रूठकर सोने का बहाना कर रहा है, अतः वे बोलो! बोलो!! उठो! उठो!! दूर से जल लाया हूं। वीर! निद्रा खोलो। एक बार तो बोलो! इसी प्रकार के अनेक शब्द बोलते ही चले जाते हैं। न बोलने पर वे कृष्ण को कंधे से लगाकर चल पड़ते हैं। तभी वे देखते हैं कि कृष्ण के शरीर से बाण लगा हुआ है, रक्त की धारा बह रही है। बस इस लोमहर्षक दृश्य को देखकर वे हाहाकार कर चीख पडते हैं। उनका हृदय दुःख से फटने लगता है। वे इतना रोदन करते हैं कि वन के पशु-पक्षी भी अपनी आंखो से अश्रुधारा बहाने लगते है।[8]

वस्तुतः यह अत्यन्त कारुणिक और मार्मिक प्रसंग है। बलभद्र द्वारा सम्पन्न किया व्यापार किस हृदय को शोकाकुल नहीं करते ? यह एक ऐसा स्थल है जिसकी तुलना कदाचित किसी अन्य स्थल से नहीं की जा सकती। कहना चाहिए कि ऐसे ही रसात्मक स्थल मानव हृदय की कोमल वृत्तियों को उभारने वाले होते हैं।

'नेमीश्वर रास' की भांति ही 'सीता चरित्र' में अनेक मार्मिक स्थलों का विनिवेश है। वास्तव में उसकी कथा धारा के मध्य इतने मोड, इतने विराम और इतने मार्मिक स्थल आये है कि उन पर प्रकाश डालना कठिन है। उसका आरम्भ ही हृदय को स्पर्श करने वाले प्रसंग से हुआ है। प्रजा के निवेदन पर राम गभीरता पूर्वक विचार करने के उपरान्त लोकापवाद के भय से सीता को सेनापति द्वारा घर से निकलवाकर वन मे छुड़वा देते हैं। सेनापति भी सीता को वन में अकेली छोडकर स्वय असहाय की भांति आसू बहाता है। सीता उसे निर्दोष ठहराकर वापिस लौटा देती है। जब वह अकेली रह जाती है तब उसकी विचित्र अवस्था को द्योतित करने वाली ये पंक्तिया करुण विप्रलंभ रस का रूप लेकर आ काव्य मे आ बैठी हैः—

सीता फिरै चहू दिसि वन मे,
नैक न करै असास।
कबहू महा मोह अति पूरन,
कबहू ग्यान विलास ॥
सीता करै विलाप,
हा हा कर्म कहा भयो।
जो जिन पोते पाप,
भोगे विना न छूटिये ॥
कबहुक दुप भरि रोय दे,
कबहुक हांसै कर्म।
कबहु आरति ध्यानमय,
कबहु सम्हारै धर्म ॥[10]

इस स्थल की मर्मस्पर्शिता अनेक बातो पर निर्भर करती है। सर्व प्रथम सीता निर्दोषिणी है, दूसरे वह राजरानी है, तीसरे वह सगर्भा है, चौथे उसे बिना सूचना के सेनापति द्वारा राजमहलो से निकालकर वन मे छुड़वा दिया गया है। ऐसी स्थिति में एक दुर्बल नारी हृदय का विचित्र मानसिक अवस्था को प्राप्त होना बहुत स्वाभाविक है। उसका विकल होकर छटपटाना, विवेक द्वारा मन को सन्तोष देना, भाग्य को कोसना, दुःख से रो

देना धम का स्मरण करना आदि आश्चर्य की वस्तु नही।

इसी प्रकार राम के वन-गमन के अवसर का एक चित्र देखिये। इससे अधिक ममस्पर्शी स्थल और क्या हो सकता है कि राजमहलों में पलने वाले राम अपने पिता की आज्ञा-पालन के निमित्त मोह और आकर्षण की समस्त जजीरो को तोडकर एक लम्बे काल तक वनवास के लिये तत्पर हो जायें। राम तो इसके लिये सहप तैयार हो गये, परन्तु माता क्या यह कह दे कि बेटा! तुम वन जाओ। लेकिन माता की आज्ञा बिना राम वन जा भी कैसे सकते हैं? माता यह सुनकर चित्रलिखी सी रह जाती है। वह 'हा' नही कह सकती, वह 'ना' भी नही करती। इस मा के हृदय की वेदना की कोई थाह नही ले सकता जिसकी वाणी अवरुद्ध है, जिसके नेत्रो से नीर बह रहा है। इस हृदय की पीडा का वही जान सकता है जिसके हृदय पर ऐसी बीती हो —

नैन झरै अति नीर,
वनन सेती भुप थकी।
इह हिरदा की पीर,
इहि व्यापै सो जान सी॥ [११]

वस्तुत 'सीता चरित' का कवि मार्मिक स्थलो को पहचानने मे भूल नही करता। जिस स्थल के वर्णन मे उसे जितना रमाना चाहिए वहा वह उतना ही रमा है। रसात्मक स्थल के लिये यह आवश्यक नही कि वह कलेवर मे बडा हो। यदि दो पक्तियो मे भी हृदय को आदोलित करने वाले क्रिया-व्यापार की योजना हो जाती है तो वह पर्याप्त है। ऐसा ही एक स्थल लीजिए। लका से लौटने पर हनुमान राम को सीता की कुशल-क्षेम का, उसकी करुणावस्था का समाचार देते हैं। यह समाचार बार-बार सुनने पर भी राम कोमल दुबल, अनुराग और मोह से भरे हुए हृदय को सतोष नही होता। वे फिर-फिर कर पूछते ही चले जाते हैं —

बार-बार पूछे पदम,
सीता की कुसलात।
फिरि फिरि पूछै माह धरि,
कहो कहीं इहि बात [१२]॥

'श्रेणिक चरित' की कथा के मध्य कवि की भाव-प्रवणता ने अनेक रसात्मक प्रसगो को रूप दिया है। इन स्थलो पर कवि ने भाव को उत्कर्ष तक पहुँचाने का प्रयास किया है। [१३] पुत्र-वियोग के अवसर पर माता के करुण विगलित अन्तस का यह चित्र कितना मार्मिक है —

चल्यो कुवर माता सुयो,
अति दुप करै निस्वासि॥
नैन झरै उर ऊमसै,
आकुलवत उदासि॥

तो विन सूनो मो मदिर,
कुल दीपक तू बाल॥
म्हारे कोई पूव क्रम उदै,
भयौ आज तत्काल॥
पुत्र विछोह मुझ थकी,
सह्यौ जाहि नहि मोहि॥
ऐसो करम कहा कीयो,
तार्थे कुवर विछोहा हो हि [१४]॥

'जीवधर चरित' मे इतिवृत्तात्मक अशो की बहुलता के कारण थोडे ही मार्मिक अश उभरे हैं। काव्य के प्रारम्भ मे चरितनायक राजकुमार जीवधर के जन्म से पूव ही मत्री द्वारा उसके पिता की मृत्यु, यक्षिणी की सहायता से शोक विह्वल सगर्भा रानी का श्मशान भूमि मे शरण लेना और वहा रात्रि मे ही पुत्र जीवधर का जन्म होना, राजपुत्र के जन्म लेने पर कोई उत्सव न होना और पति-विछोह के

शोक में डूबना आदि से एक अच्छे हृदय स्पर्शी स्थल की योजना हो सकी है।[१५]

कुछ स्थलो पर कवि ने भाव को उत्कर्ष तक पहुँचाया है। उसने मानव-हृदय के साथ पशु-पक्षियो के हृदय को भी निकट से देखा है और मानवेतर सृष्टि के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। हर्ष-शोक के प्रसंगो में कवि की भाषा भी मसृण हो गयी है, यथा—

करतो क्रीड़ा सर विषै,
रह ती माता पास ॥
चैन पावती तात पै,
धरती महा विलास ॥
तात मात तें चेटका,
वृथा विछोयो बाल ॥
कौतुक को लीयो कंवर,
चरण चूंच चखि लाल ॥
पोपन को उद्यम कियो,
राख्यो नीकी भाति ॥
पै या विनु क्षण एक नहि,
तात मात को साति ॥
शोक सहित माता पिता,
सबद करै नभ मांहि ॥
वारं-वार विलाप के,
यामै संसै नाहि[१६] ॥

हंस-शावक माता-पिता के साथ सरोवर में क्रीडा करता हुआ आनन्दमग्न है। कौतुक प्रिय कुमार जीवंधर उसके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसे उसके पास से अलग उठा ले जाता है और उसे पोसने का प्रयास करता है। परन्तु उसने भूल की। उसका सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। अपने माता-पिता से विलग रह कर क्या हंस-शावक सुख पा सकता था? कुमार ने उसके अलावा उसके माता-पिता को भी अपार कष्ट दिया। वे अपने पुत्र के बिना एक क्षण भी शान्त न रह सके। गगन मे उडकर वार-वार विलाप करने लगे। यहां थोडी सी पंक्तियों में ही कवि ने एक ऐसे प्रकृत भाव को अभिव्यक्त कर दिया है जो हमारे मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ता है।

मार्मिक स्थलो की योजना के विचार से 'शीतकथा', 'नेमिचन्द्रिका', 'राजुलपच्चीसी' 'नेमि-व्याह', 'नेमिनाथ मंगल' आदि खण्डकाव्य अच्छे बन पड़े है। इनकी घटनाओं को विराम देकर और पात्रो को अनेक परिस्थितियो मे डालकर ऐसे ढंग से सँजोया गया है कि वे स्वतः ही हमारे अन्तर्गत को छूने में समर्थ है। इन काव्यो में आधिकारिक कथावस्तु के साथ प्रवाहित भावक की विचारधारा ठहर कर भावात्मक तल्लीनता का अनुभव करती है।

'नेमिचन्द्रिका' में कवि की भावुकता ने इति-वृत्तात्मक या वर्णनात्मक अंशों की योजना को इतना महत्व नही दिया जितना कि रसमय स्थलो की योजना को। उदाहरणार्थ नेमिनाथ का राजुल के साथ पाणिग्रहण सस्कार सम्पन्न नही हो सका। इससे पूर्व ही वे पशुओ के विलाप से उद्विग्न होकर गिरिनार पर्वत पर तप के लिए चले गये। विह्वल राजुल मूर्छित होकर धराशायी हो गयी। चेतना आने पर वह भी उनके पीछे-पीछे एकाकी चल दी। भावों के लहराते हुए प्रखर ज्वार को हृदय मे समेटकर निर्जन वन-पथ में चलते हुए विलाप मिश्रित उसके स्वर का आरोह-अवरोह, उसके दीर्घ उच्छ्वास और वन पक्षियो आदि के रोदन से आप्लावित इस मार्मिक स्थल की गहरायी देखिये:—

अहो कथ किनि सुनहु पुकार,
मैं डूबति हो दुख की धार ॥
नेक न चितवत काहे धीर,
कहा करो को हरि है पीर ॥

सकट राजा घेरी आय,
तापर त तुम लेहु छुडाय ॥
राजुल दु ख कर हिय तने,
रोवें पछी वन मे घने ॥

+ + + +

दु ख कटत है पथ को
जो कोई दूजो होय ॥
कुमरि अकेली दु ख भरी,
सग न साथी कोय[१७] ॥

'शीलकथा' मे कवि ने रसात्मक प्रसगो की सृष्टि मे अपनी प्रबन्ध पटुता का परिचय दिया है। एक स्थल लीजिए—पति की अनुपस्थिति मे मनोरमा के चरित्र पर लाछन लगाकर, रथ मे बैठाकर सारथी को उसे विकट अरण्य के मध्य छोडने का आदेश दे दिया जाता है। मनोरमा के अनुनय-विनय करने पर सारथी उसके माता पिता के घर भी छोड आने के लिए प्रस्तुत हो जाता है किन्तु विना बुलाई बेटी यदि घर मे आ जाती है तो उस पर सदेह किया जाता है। यही हुआ भी। उसे वहा भी आश्रय नही मिला। निदान सारथी उसे वन बीच छोडने के लिए विवश हो जाता है। वह रोदन करते-करते उसे रथ से उतारता है, भारी मन से जब वह चलने के लिए होता है परन्तु करुणा और मोह उसकी पद-गति पर बधन का काम करते है।[१८]

और फिर भयकर वन के बीच मे असहाय रोती-बिलखती मनोरमा के विलाप का यह स्थल कितना हृदय स्पर्शी है —

अब ताही अरण्य के माही,
ऐसे जो विलाप कराही ॥
हा तात कहा तुम कीनो,
मेरो न्याय निवेर न कीनो ॥
हा मात उदर तैं धारी,
मोको नव मास मझारी ॥
छिन मे तुम छोड दई घू,
करुणा नहि नेक भई घू ॥
हा भ्रात कहा तोहि सूझी,
मेरी बात कछु नहीं बूझी ॥

+ + +

ऐसो रदन कियो बहु ताने,
पशु पछी सुन मुरझाने ॥
सिहादिक पशु जो होई,
अति दुष्ट स्वभावी सोई ॥
ते भी अति रदन कराव,
आसू बहु नन वहावें[१९]॥

इस स्थल पर कवि की भावुकता अनेक धाराओ मे फूट पडी है। यहा उसकी भावुकता गभीर रूप लेकर उभरी है। नारी की वियोगावस्था को पहचानने मे उसने असाधारण कौशल का परिचय दिया है।

'नेमिनाथ मगल' मे एक स्थल पर ऐसे प्रसग की उद्भावना हुई है जहा कृष्ण और नेमीश्वर का पावन हृदय भाई-भाई के प्रेम से भर उठा है। कृष्ण राज्य-सिंहासन पर बैठना नही चाहते और नेमिनाथ उन्हे उस पर बैठाने के लिए आतुर हो उठते हैं[२०]—

अरी तब हरि को सीस उठायो हो।
अरी भाई घू कठ लगायो हो ॥
अरी गहि बाह सभा मे ल्याए हो।
अरी तब सिहासन बैठाये हो ॥

निष्कष यह ह कि कथा के गभीर और मार्मिक

स्थलों की दृष्टि से उपर्युक्त प्रबन्ध काव्य बड़े महत्व के हैं। प्रबन्ध की अखण्डधारा के बीच इन स्थलों की योजना से ऐसी भाव सृष्टियां हो सकी है जिनका मनुष्य के अंतरंग से गहरा सम्बन्ध है।



१—डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र' : रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध काव्य पृ० २।
२—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६९
३—वही, पृष्ठ ७५
४—पार्श्व पुराण, पद्य ९० से ९६, पृ० १२ :
५—वही, पद्य १०८ से ११५, पृ० १४
६—वही, पद्य २२ से २६, पृ० १८
७—वही, पद्य ७६ से ८३, पृ० ३४-३५
८—वही, पद्य १८ से २३, पृ० १२३
९—नेमीश्वर रास, पद्य ८१७ से ८२१, पृ० ४८
१०—सीता चरित, पृ० ६
११—वही, पृ० २७
१२—सीता चरित, पृ० ७२
१३—कौतिग कारण पुरतिय निरखैं, रूप कुमर लखि विह्वल धाइ।
कोई रसोई घर सूनो तजि, कोई दौड़ी सिंगार छुडाइ॥
कोई छोड़ निज सुत रोवती, लोभे पर सुत लेइ उठाइ॥
ज्यों ज्यों रूप कुमर को देखैं, हरषैं तिय निरषै अधिकाइ॥
१४—वही, पृष्ठ १०

श्रेणिक चरित, पृ० ३०

१५—जीवंधर चरित, पद्य ४७-४८, पृ० ४
१६—वही, पद्य १५ से १७, पृ० ३९
१७—नेमिचन्द्रिका, पृ० २०
१८—शील कथा, पृ० ३६
१९—वही, पृ० ३७-३८
२०—नेमिनाथ मंगल

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद,
विलष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ।
य स्मर्य्यते सर्वमुनीन्द्र वृन्दै,
य स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रै,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।

वीरनन्दि द्वारा प्रस्तुत तत्वोपप्लववाद समीक्षा

"चार्वाक दर्शन के मूल रूपों में एक तत्वोपप्लववाद भी है। यह भूत चैतन्य वादी चार्वाक से भी आगे है। भूत चैतन्यवादी कम से कम भूत चतुष्टय का अस्तित्व स्वीकार करता है किन्तु तत्वोपप्लववादी तो किसी भी तत्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता।"



डा० नेमिचन्द शास्त्री
एम० ए० डी० लिट, ज्योतिषाचार्य

वीरनन्दि द्वारा रचित चन्द्रप्रभ काव्य ग्रन्थ है, पर प्रसंग वश इस काव्य में कई दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा भी की गयी है। यहां हम अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना न कर, केवल तत्वोपप्लववाद की समीक्षा पर ही विचार-विनिमय करेंगे।

चार्वाक दर्शन के विभिन्न रूपों में एक तत्त्वोपप्लववाद भी है। यह भूत चैतन्यवादी चार्वाक से भी नास्तिकता मे आगे है। भूत चैतन्यवादी कम से कम भूतचतुष्टय का अस्तित्व स्वीकार करता है तथा उसकी सिद्धि के लिए एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी मानता है, किन्तु तत्त्वोपप्लववादी तो किसी भी तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार नही करता। उसके मतमे समस्त प्रमेयतत्व और प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्व उपप्लुत–बाधित हैं। अतः जीवादि तत्त्व मानना एवं आत्मशुद्धि के लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। जो वस्तु प्रमाण सिद्ध है ही नहीं, उसकी साधना करना बालुका कणों मे से तैल निकालने के समान निष्फल है।

तत्त्वोपप्लववादी[1] पूर्वपक्ष की स्थापना करता हुआ कहता है कि प्रमाण से सिद्ध होने वाला जीव नामका कोई पदार्थ नही है। अतएव जीव के आश्रय से सिद्ध होने वाला अजीव पदार्थ भी कैसे मान्य हो सकता है। ये दोनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। स्थूल और सूक्ष्म धर्मों के

समान एक दूसरे के आश्रित हैं। अतएव आश्रय के अभाव मे आश्रयी और आश्रयी के न रहने से आश्रय की स्थिति सम्भव नही है। जब जीव नही है तो जीव के कर्म बन्ध और मोक्षादि किस प्रकार घटित हो सकते हैं। यत धर्म की स्थिति धर्मी मे ही होती है।

तार्किक दृष्टि से विचार करने पर जीवादि पदार्थों का न तो आकारिक (Formal) सत्य उपलब्ध हाता है और न वास्तविक ही (Material) दृश्यमान जगत के पदार्थ न तो परमतम सत्य हैं न व्यावहारिक सत्य और न लौकिक सत्य ही। विचार करते ही पदार्थों का स्वरूप उपप्लुत-बाधित होने लगता है और जब तत्त्व स्वरूप ही उपप्लुत है तो फिर अनुमानादि प्रमाणा का स्वरूप किस प्रकार स्थिर रह सकेगा ? वह तो विचार करते ही जीर्ण वस्त्र के समान खण्डित हो जाता है। जिस अनुमान या तर्क द्वारा प्रमेयो की सिद्धि की जाती है वह अनुमान सशयास्पद अथवा मिथ्या होता है अत एव मिथ्या मे सत्य की सिद्धि कभी भी सम्भव नही है। जब प्रत्यक्ष ज्ञान बाधित है तब अप्रत्यक्ष या अप्रमाक्षात् ज्ञान के सत्य होने का दावा किसी प्रकार नही किया जा सकता है।

तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक का उक्त कथन आधुनिक तर्क शास्त्र के पर्याप्त कारण नियम' (law of Surfficient reason) पर आधृत है। कोई भी सत्य या तथ्य पर्याप्त कारणो के बिना सिद्ध नही होता है। प्रमाण-प्रमेय के अस्तित्व की सिद्धि मे पर्याप्त कारणा का अभाव दिखलायी पडता है, अत सभी तत्व उपप्लुत हैं।

अनेक मतावलम्बी[२] जीवको स्वीकार करते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है। विपरीत धारणाओ के मध्य किसके विचार को यथार्थ समझा जाय। साख्य जीवको त्रिकाल भूत भविष्यत् और वर्तमान में व्याप्त एव अविनाशी मानते हैं। मीमासक जीव को कर्तव्य शक्तिहीन, नैयायिक अज्ञानमय और बौद्ध जीवको विज्ञानमय मानते हैं। विभिन्न मतावलम्बियो की परस्पर मे व्याघातक मान्यताए ही जीव का अभाव सिद्ध करने मे सहायक है।

आधुनिक तर्क के मध्यवर्ती निषेध नियम के (law of excluded middle) अनुसार दो व्याघातक पदो के बीच तीसरे पद के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। दो विरोधी तत्व एक साथ न तो सत्य हो सकते हैं और न असत्य हो। अतएव जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे किये गये विरोधी विचार जीव का अभाव बतलाते हैं।

यहा तत्वोपप्लववादी तत्त्ववादियो[३] से प्रश्न करता है कि जो तत्त्व-प्रमाण तत्त्व और प्रमेय तत्त्व आप मानते है, वे प्रमाण सिद्ध हैं अथवा बिना प्रमाण के। यदि प्रमाण सिद्ध हैं तो वह प्रमाण भी किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध होगा। इस प्रकार प्रश्नान्तर होने से अनवस्था दोष आयगा, जिससे प्रमाण तत्त्व की सिद्धि सम्भव नही। यदि यह कहा जाय कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक है और द्वितीय प्रथम का तो यह कथन भी युक्ति सगत नहीं है, क्योंकि उस मान्यता मे अन्योन्याश्रय दोष आता है। यदि प्रमाण की प्रमाणता स्वय ही व्यवस्थित मानी जाय तो समस्त प्रमाणवादियो के यहा कोई विवाद उठने पर उसकी व्यवस्था प्रमाण द्वारा स्वीकार करने मे पूर्ववत् अन्योन्याश्रय दोष आयगा। यदि प्रमाण के बिना ही प्रमाणतत्त्व की सिद्धि मानी जाय तो तत्वोपप्लव की सिद्धि भी बिना प्रमाण के मान लेने मे क्या हानि है ?

तत्त्ववादी का यह तर्क भी समीचीन नही कि विचार के बाद प्रमाणादितत्त्व की व्यवस्था होती है और विचार जिस किसी तरह किये जाने पर उपालम्भ के योग्य नही है। अन्यथा किसी वचन

का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की विचार प्रक्रिया का संयोजन तत्त्वोपप्लव' में भी सम्भव है।

प्रमाण का प्रामाण्य किस प्रकार स्थिर किया जाता है[४] —(१) निर्दोष कारण समुदाय के उत्पन्न होने से (२) बाधा रहित होने से (३) प्रवृत्ति सामर्थ्य से अथवा (४) अविसंवादी होने से। प्रथम पक्ष असमीचीन है, क्योंकि कारणों की निर्दोषता किस प्रमाण से जानी जायगी। प्रत्यक्ष और अनुमानादि से निर्दोषता नहीं मानी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियां गुण और दोष दोनों का आश्रय हैं, अतः इनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका की निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि दोष-निवृत्ति के हेतु अन्य प्रमाण को कारण माना जायगा तो अनवस्था और चक्रक दोष का प्रसंग आयेगा।

द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है। यतः बाधकों की उत्पत्ति के अभाव में प्रमाणता मानने पर मिथ्या ज्ञान भी कुछ समय तक प्रमाण हो सकता है। क्योंकि कभी-कभी बहुत काल तक मिथ्या प्रतीति में भी बाधकों की उत्पत्ति नहीं होती। अतः बाधक उत्पत्ति रहित होने से प्रमाण का प्रामाण्य स्थिर नहीं माना जा सकता है। यदि सर्वदा के लिए बाधक का अभाव प्रामाण्य का कारण माना जाय, तो बाधक के अभाव का निश्चय किस प्रकार होगा?

एक दूसरी बात यह भी है कि किसी एक को बाधा की उत्पत्ति का अभाव प्रमाणता का कारण है अथवा सभी को बाधा की उत्पत्ति का अभाव प्रमाणता का कारण है। प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर विपर्यय ज्ञान में भी किसी-किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं होती। अतः वह भी प्रमाण हो जाएगा। सभी को बाधा की उत्पत्ति का अभाव भी अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण नहीं है। क्योंकि किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं भी होती है। तथा सभी को बाधा की उत्पत्ति नहीं होगी, इसे अल्प ज्ञानी कैसे जान सकेगा?

प्रवृत्ति-सामर्थ्य द्वारा भी प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। हम पूछते हैं कि प्रवृत्ति-सामर्थ्य है क्या? यदि फल के साथ सम्बन्ध होने का नाम प्रवृत्ति-सामार्थ्य है तो बतलाइए वह सम्बन्ध ज्ञात होकर ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कराता है या अज्ञात रहकर। अज्ञात रहकर तो वह ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नहीं हो सकता है? अन्यथा कोई भी अज्ञान किसी का भी निश्चायक हो जायगा। यह सार्वजनीन सिद्धान्त है कि अज्ञात ज्ञापक नहीं होता। यदि ज्ञात होकर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है तो यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उसका ज्ञान उसी प्रमाण से होता है या अन्य प्रमाण से। प्रथम पक्ष असत् है, अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होने के कारण। द्वितीय विकल्प मानने पर चक्रक दोष आता है।

यदि सजातीय ज्ञान को उत्पन्न करने का नाम प्रवृत्ति-सामर्थ्य माना जाय तो वह कथन भी भ्रामक है। अतः सजातीय ज्ञान को प्रमाणता का निश्चय प्रथम ज्ञान से मानने पर अन्योन्याश्रय और अन्य प्रमाण से मानने पर अनवस्थादोष आता है। इस प्रकार प्रमाण का लक्षण उत्पन्न न होने से प्रमेय तत्त्व की सिद्धि का अभाव स्वतः हो जाता है। अत एव प्रमाण प्रमेय सभी उपप्लुत—बाधित हैं।

उत्तर पक्ष-समीक्षा

तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन सर्वथा निराधार है कि जीवसिद्धि किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं। नास्तिकवादी दार्शनिकों ने जीव के नास्तित्व धर्म की सिद्धि के लिए जो अनुपलब्ध हेतु दिया है, वह निःसार है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी में जीव के होने का प्रमाण स्वसंवेदन रूप ज्ञान के द्वारा

सिद्ध होता है। मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ आदि अनुभव स्वसवेदन गोचर है। अत प्रत्येक प्राणी मे आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।[६] अत एव सुख दु ख राग द्वेष आदि भावो से युक्त जीव पदार्थ प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्येक प्राणी स्वानुभूति से अपने अस्तित्व को जानता है।

दूसरी बात यह है कि धर्मी वह होता है जो प्रमाण से सिद्ध है। तत्त्वोपप्लववादी ने जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए जो यह अनुमान दिया है—'जीव कोई पदार्थ नही है, क्योकि उसकी उपलब्धि नही होती' यह अनुमान मिथ्या है क्योकि जीवरूपी धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है।

जब जीव पदार्थ प्रमाण से सिद्ध है, तब उसका नास्तित्व सिद्ध करने के लिए व्यर्थ हेतु का प्रयोगकर अपनी हसी कराना है। यह कहना ठीक नही है कि ज्ञान कलशादि के समान ज्ञेय होने से अपने स्वरूप को नही जानता, किन्तु अन्य पदार्थो को जानता है। अर्थात् जैसे कलश को अपना ज्ञान नही होता, पर औरो को उसका ज्ञान होता है, इसी तरह ज्ञान को स्वय अपने स्वरूप का निश्चय नही होता, पर उसके रूप का निश्चय दूसरा उत्तर कालीन ज्ञान करता है यह विचार-सरणि मिथ्या है। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है, यह इसका निजी धर्म दीपक के समान है। जिस प्रकार दीपक अपने को प्रकाशित करके ही अन्य विषयो को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने को जान कर ही अन्य विषयो या भावो को अवगत करता है। जो ज्ञान अपने को नही जानता, उसकी प्रवृत्ति अन्य विषयो मे हो ही नहीं सकती क्योकि, पूर्व पूर्व के ज्ञेय रूप ज्ञान का निश्चय करने के लिए उत्तरोत्तर जो भी ज्ञान होंगे, वे भी ज्ञेय ही होंगे। अत जब वे ज्ञान स्वरूप के निश्चय करने मे ही चरितार्थ हो जायेंगे तब उनकी प्रवृत्ति दूसरे विषय मे नहीं हो सकती।

दूसरा तर्क यह है कि यहा पर जो ज्ञान अज्ञान है, वह ज्ञान प्रथम ज्ञान का बोध कराने वाला नही हो सकता और यदि ऐसा नही मानते तो अनन्त अनवस्था दोष रूपी लता फैल कर समस्त आकाश को व्याप्त कर लेगी। इस कारण पदार्थ का ज्ञान अप्रत्यक्ष ठहरा और उसके अप्रत्यक्ष होने पर पदार्थ की भी वही स्थिति होगी। यदि अप्रत्यक्ष ज्ञान से भी विषय का निश्चय स्वीकार करते हैं तो दूसरे का जाना हुआ विषय भी अपने को विदित हो जायगा। इस प्रकार जीव अपने शरीर मे अपने ज्ञान मे प्रत्यक्ष सिद्ध है और अन्य के शरीर मे अनुमान से सिद्ध है। अत एव तत्त्वोपप्लववादी द्वारा निरसन किया गया जीव स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है[७]।

इस प्रकार तत्त्वोपप्लववादी ने जीव, तत्त्व के उपप्लव के लिए जो युक्तिया दी हैं तथा जिन व्याघातक कारणो का निरूपण किया है, उन सब का निरसन जीव तत्त्व की सिद्धि से हो जाता है। वस्तुत तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् प्रमेय तत्त्व मे जीव को और प्रमाण तत्त्व मे अनुमान को प्रमुखता देता है। वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभ चरित मे पूर्व पक्ष के पश्चात् उत्तर पक्ष मे जिन तर्कों को उपस्थित किया है, उन तर्कों मे जीव तत्त्व सिद्धि सम्बन्धी तर्क ही प्रमुख हैं। इस स्थल के अध्ययन से सामान्यत भूत-वादी चार्वाक की युक्तिया ही प्रतीत होती है, पर सदर्भ के अन्त मे वीरनन्दी ने प्रमेय और प्रमाण तत्त्व की सिद्धि के लिए जिन युक्तियों का निरूपण किया है, उनका सम्बन्ध तत्त्वोपप्लववादी के साथ घटित होता है और पूर्व पक्ष मे उठाये गये समस्त विकल्पो का समाधान भी प्राप्त होता है।

हम यहा वीरनन्दी द्वारा प्रस्तुत जीव सिद्धि-सम्बन्धी युक्तिया को उपस्थित करने के अनन्तर तत्त्वोपप्लववादी के अन्य तर्कों का चन्द्रप्रभ की शैली मे ही आलोचन प्रस्तुत करेंगे। बताया गया

है कि गर्भ में आने से लेकर मरण पर्यन्त स्वानुभव द्वारा जीव का अस्तित्व माना भी जा सकता है[९]। पर गर्भ में आने के पूर्व और मरण के पश्चात् किस प्रमाण से जीव का अस्तित्व सिद्ध होगा[१०]। जीव के अभाव में अजीवादि तत्त्व भी उपप्लुत हो जायेंगे। यह तर्क भी असमीचीन है। भौतिक जगत मे प्रत्यक्षतः दृष्टि गोचर होने वाले वायु, अग्नि और जल–आदि जिस प्रकार अनादि अनन्त है, उसी प्रकार जीव भी अनादि अनन्त है। यह स्वयं सिद्ध है कि नित्य वस्तु का कोई कारण नहीं होता। नित्य की कारण हीनता किसी हेतु या प्रमाण के द्वारा असिद्ध नही की जा सकती है। क्योकि इस कारण हीनता को असिद्ध सिद्ध करने वाला कोई हेतु या प्रमाण नहीं है।

हम तत्त्वोपप्लववादी से यह जानना चाहेंगे कि जीवादि तत्त्वों का उपप्लव कैसे करते हो? प्रमाण के द्वारा या विना प्रमाण के द्वारा। प्रमाण से तो उपप्लव हो नहीं सकता, क्योकि प्रमाण तो तत्वों का सद्भाव ही सिद्ध करता है। प्रमाण के अभाव में किसी वस्तु का सदभाव या असद्भाव माना नही जा सकता। अत एव वायु आदि तत्त्वों को जीवका कारण मानने वाला देहवादी चर्वाक् भी तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् के समान असमीचीन है। यहाँ यह विकल्प होता है कि वायु आदि तत्त्व मिलकर जीव का कारण होते है या पृथक्-पृथक्? प्रथम पक्ष असमीचीन है, यतः तत्त्वाभाव मे जड तत्त्वो का अस्तित्व ही सभव नही। जब तत्त्वो का उपप्लव माना जाता है तो जड तत्त्वो का भी उपप्लव मानना ही पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जड़ तत्त्वो से चेतन जीव की उत्पति सभव नहीं। प्रसिद्ध है कि सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति होती है, विजातीय की नहीं[११]। अन्यथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति और पृथ्वी से वायु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि वायु आदि तत्त्वो को पृथक्-पृथक् जीवों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं तो भूतों के समान जीवों की सख्या भी हो जायगी।

यदि यह माना जाय कि भूत तत्त्व भी उपप्लुत है, अतः चेतनजीव के उपादान कारण नहीं सहकारी कारण है।[१२] यह तर्क भी निराधार है। क्यो कि उपादान के अभाव में केवल सहकारी कारण से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती है। अतएव तत्त्वोपप्लववादी का **"जीवो नास्ति, अनुपलब्धेः।"** यह कथन असमीचीन है। यतः उपलब्धि हेतु द्वारा स्वसंवेदन ज्ञानरूप जीव की सिद्धि होती है। जो यह कहा गया था कि **"जीवाभावे अजीवः कथ वस्तु युज्यते, जीवाजीवयोः सापेक्षत्वात्"**। यह कथन भी तत्त्वोपप्लववादी के लिए उचित नही। जो तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार करता है, उसके यहां हेतु या अनुमान की चर्चा करना असंगत है।

आत्मा और पृथ्वी आदि तत्त्वो की एकता भी सिद्ध नही की जा सकती। आत्मा चेतन है और भूतादि तत्त्व अचेतन हैं। दोनो पृथक-पृथक प्रतिभासित होते है और दोनो के लक्षण भी भिन्न-भिन्न है।[१३]

अतएव तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् ने जो जीव तत्त्व का अभाव सिद्ध किया था और व्याघातक तर्क सिद्धान्त के आधार पर अजीवादि तत्त्वो का अभाव प्रतिपादित किया था, वह सर्वथा असमीचीन है, क्योकि स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा जीवतत्त्व की सिद्धि की जा चुकी है। अब प्रश्न यह है कि जीव एक है या अनेक? इन विकल्पो के उत्तर मे तत्त्ववादी जैन अनेक जीवों का अस्तित्व स्वीकार करता है। सुख दुःखादि परिणाम जीव से सर्वथा भिन्न नही है, क्यो कि यदि ये पर्याय जीव से भिन्न होते, तो ये जीव के है–इस प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नही हो सकती थी। यदि यह माना जाय कि भेद रहने पर भी समवाय सम्बन्ध के निमित्त से उक्त कल्पना सम्भव हो सकती है तो यह भी ठीक नही। यतः नित्य उपकारी

नहीं होना और सब प्रकार के सम्बन्धों की स्थिति उपकार के आधार पर ही पायी जाती है। आचार्य वीरनन्दी ने उक्त विचार को निम्न प्रकार उपस्थित किया है—

नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते,
उपकाराश्रया सर्वा सम्बन्धानमर्वास्थिति ।
उपकारोऽपि भिन्नत्वात्तस्येति कथमुच्यते,
उपकारान्तरापेक्षा विदध्यानवस्थितिम् ।[१४]

अतएव समवाय सम्बन्ध की कल्पना भी अयुक्त है।

यदि नित्य को उपकारी माना जाय तो वह उपकार भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न विकल्प स्वीकार करने पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यदि किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा करके सम्बन्ध स्थापित किया जाय तो अनन्त सम्बन्धों का जाल बिछ जाने से अनवस्था दोष आयेगा और कहीं भी व्यवस्था नहीं हो पायेगी। अतएव जीव को सुख-दुःखादि पर्यायों से सर्वथा न भिन्न माना जा सकता है न अभिन्न ही। पर्याय पर्यायी का व्यपदेश होने से कथंचित् भिन्नता है और पर्यायी में ही सुख-दुःखादि पर्यायों के रहने से कथञ्चित् अभिन्नता है।

वीरनन्दी ने तत्त्वोपप्लववाद का निरसन करते हुए जीवसिद्धि के प्रकरण में आत्मा को स्वदेह प्रमाण, कर्त्ता भोक्ता, चैतन्य एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने कर्त्तृत्व भोक्तृत्व आदि भावों की सिद्धि की है। जो आत्मा को चित्-सन्तति मात्र मानते हैं, उनका भी समालोचन करते हुए चैतन्य ज्ञानदर्शन रूप जीव की सिद्धि की है। बताया गया है—

तस्मादनादि निधन स्थितो देह प्रमाणक,
कर्त्ता भोक्ता चिदाकार सिद्धो जीव प्रमाणत ।[१५]

जीव के सिद्ध होने पर जीवतत्त्व की अपेक्षा रखने वाले अजीवादि तत्त्व भी प्रमाण सिद्ध हैं क्योंकि इनके बिना बंध मोक्षादि की व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। वीरनन्दी ने पूर्णतः जीव तत्त्व की सिद्धि के पश्चात् अजीव आदि तत्त्वों को सिद्ध करते हुए तत्त्वोपप्लव को मिथ्या या भ्रम बतलाया है। यथा—

येऽप्यजीवादयो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिता,
तेऽपि संप्रति संसिद्धास्तन्न तत्त्वमुपप्लुतम् ।[१६]

प्रमाण तत्त्व के निरसनार्थ जो युक्तियां दी गयी हैं, वे भी निःसार हैं, क्योंकि स्याद्वाददर्शन में ज्ञान की प्रमाणता न निर्दोष-कारण-समूह के उत्पन्न होने से न बाधाओं के उत्पन्न होने के कारण है, न प्रवृत्ति-सामर्थ्य के द्वारा ही है और न अविसंवादित्व के कारण ही है, अतः इन चारों पक्षों में पूर्वोक्त दोष, जिनका निर्देश तत्त्वोपप्लववादी ने किया है, आते हैं, पर स्याद्वाद दर्शन में प्रामाण्य की व्यवस्था बाधकों की संभावना का सुनिश्चित अभाव होने से ही घटित होती है। समस्त देशों और समस्त कालों के पुरुषों की अपेक्षा अभ्यस्त दशा में उत्पन्न प्रमाण में बाधकों की संभावना का अभाव स्वयं ही प्रतीत होता है जिस प्रकार प्रमाण का स्वरूप अपने में निश्चित प्रतीत होता है उसी प्रकार अभ्यस्त विषय में प्रामाण्य में बाधकों की संभावना का अभाव भी निश्चित रूप से प्रतीत होने लगता है।

अनभ्यस्त दशा में उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रमाणता पर के द्वारा बाधकों की सम्भावना का निराकरण करने पर सुनिश्चित होती है। स्याद्वाद-दर्शन में वस्तु-व्यवस्था और प्रमाण-व्यवस्था अनेक दृष्टि-कोणों द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से निरूपित है। अत एव अन्योन्याश्रय अनवस्था अति प्रसंग एवं चक्रक आदि दोष नहीं आते।

तत्त्वोपप्लववादी समस्त वस्तुओं के ज्ञापक प्रमाण विशेषों का अभाव प्रत्यक्ष से करता है या

अनुमान से ? प्रथम पक्ष असमीचीन है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार न करने से अति प्रसंग दोष आयेगा। जिसने प्रमाण तत्त्व स्वीकार ही नहीं किया, उसके यहां प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करना गगनारविन्द की गन्ध-चर्चा के समान निरर्थक है।

अनुमान से भी वह ज्ञापक प्रमाण-विशेषो का अभाव सिद्ध नही कर सकता, क्योंकि तत्त्वोपप्लववादी के यहा अनुमान-प्रमाण का अस्तित्व है ही नही।

यदि स्वयं असिद्ध प्रमाण द्वारा वस्तु की व्यवस्था मानो जाय तो समस्त प्रमाण सभी वादियो के अपने-अपने इष्ट तत्त्व के भी साधक हो जायेंगे। अत तत्त्वोपप्लव की सिद्धि किसी भी प्रकार संभव नही है। यह सर्वमान्य और अनुभूत सिद्धान्त है कि किसी भी प्रकार के ज्ञान को प्रमाणभूत मानकर ही प्रवृत्ति-निवृत्ति संभव होती है। जो समस्त प्रमाणों का उपप्लव स्वीकार करता है, उसके यहा उसका स्वयं का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकता है। अतः प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था मानना लोक-व्यवहार के निर्वाह की दृष्टि से भी आवश्यक है।

आचार्य वीरनन्दी ने अनुभव और युक्तियों से जीव तत्त्व की सिद्धि कर उससे सम्बद्ध अन्य अजीवादि तत्त्व एवं तत्त्वों के प्रतिपादक और साधक प्रमाणों की सिद्धि की है। तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक ने जो पूर्व पक्ष उपस्थित किया था, उसकी सम्यक् आलोचना कर प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था प्रतिपादित की है।

१—केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागमाश्रिताः ।
न जीवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचरः ॥
अजीवश्च कथं जीवापेक्षयस्तस्यात्यये भवेत् ।
अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविव स्थितौ ॥
कथञ्च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः ।
सति धर्मिणि धर्मो हि भवन्ति न तदत्यये ॥
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।
प्रमार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥—चन्द्रप्रभचरितम् २/४४–४७

२—जीवमन्ये प्रपद्यापि तद्धर्मं प्रतिवादिनः ।
विवदन्ते प्रबन्धेन विविधागमवासिताः ॥—चन्द्रप्रभ चरितम् २/४८

३—परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत् तत् परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणान्तरेणवा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मना वादि प्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् ।.......अष्ट सहस्री, पृ० ३७

४—किमदुष्ट कारक सन्दोहोत्पाद्यत्वेन, आहोस्विद्बाधा रहितत्वेन, प्रवृत्ति सामर्थ्येन, अन्यथावा ?
—जयराशि—तत्त्वोपप्लवसिंह, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन १९४०, पृ० २

५—जीवो नास्तीति पक्षोऽयं प्रत्यक्षादि-निराकृतः,
तस्य हेतु मुपन्यस्यन् कुर्यात् कः स्वचित्स्थनाम् ।—चन्द्रप्रभचरितम् २/५४

६—प्रतिजन्तु यतो जीव स्वसवेदन गोचर,
सुख दु खादिपर्याय राक्रान्त प्रतिभास्ते ।—चन्द्रप्रभाचरितम् २/५५

७—नचास्वविदित नान वेद्यत्वात् कलशादिवत्,
स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टे दीपादे स्वप्रकाशनात् ।
विपया तर सचारो न च स्यादस्ववेदिन,
अपरापर बोधस्य वेदनीयस्य सभवात् ।
अनवस्था लता च स्यान्नभस्तत्र विर्मापणी, यदेवाविदित तेपु तन्न पूर्वस्य वेदकम्,
तस्माद् विपय विज्ञान मप्रत्यक्षमवस्थितम्, तदप्रत्यक्षताया च विपयस्यापि सा गति ।
परोक्षादपि चेज्ज्ञानादर्थाधिगतिरिष्यते, परेण विदितोऽप्ययस्तया स्वविदितोभवेत् ।
वही २/५५–५७

८—तस्मात्स्वरवेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तिन, प्रत्यक्षवाधान भवेत् कथ नास्तित्ववादिनाम् ।
वही २/६१

९—चन्द्रप्रभचरितम् २/६२–६३

१०—वही २/६४

११—वही २/६६

१२—वही २/६८

१३—वही २/७३

१४—चन्द्रप्रभचरितम्, २/७७–७८

१५—वही, २/८८

१६—वही, २/८९

जग जीवन के पद

"……जगजीवन मनुष्य जीवन की सार्थकता आत्म स्वरूप में लय होजाने में ही मानते है। यदि मनुष्य जीवन में भी मन विषय और कषायों में लीन रहा, पत्नी, पुत्र और धन के मोह में फंसा रहा तथा मन, वचन और कर्म से अनीति और अभिमान में रत रहा तो जीवन निष्फल ही खोया।……"



डा० गंगा राम गर्ग
एम० ए० पी० एच० डी०, आर० ई० एस०
प्राध्यापक हिन्दी, रा० म० विद्यालय, टोंक

पद रचना मध्ययुगीन हिन्दी काव्य की प्रमुख शैली है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दादू आदि सभी निर्गुण और सगुण भक्तों ने पर्याप्त पद लिखे है। जैन कवियो में द्यानत राय, बुधजन, पार्श्वदास, भूधरदास, दौलतराम और भागचन्द का पद साहित्य विपुल मात्रा मे है। जगजीवन हिन्दी के उन जैन कवियों मे से है जिनके पद तथा अन्य रचनाएं यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। अतः उनकी रचनाओ के सम्बन्ध में अभी निर्णयात्मक ढंग से कुछ भी नही कहा जा सकता।

डा० प्रेमसागर जैन ने आगरा निवासी जगजीवन का जीवन-परिचय देते हुए अजमेर, बडौत और जयपुर के शास्त्र भंडारो मे उपलब्ध उनके अनेक पदो और एक छोटी सी रचना 'एकीभाव स्तोत्र' की चर्चा की है।[1] प० परमानन्द जैन शास्त्री ने उनकी एक और रचना चतुर्विंशतिका का भी परिचय दिया है।[2] चौधरियान मदिर टोंक मे उपलब्ध एक गुटके में हमें जगजीवन की एक अन्य रचना 'आत्म सबोधशतक' मिली है। पं० परमानन्दजी शास्त्री के अनुसार कवि की दो रचनाएं 'एकीभाव स्तोत्र' और 'चतुर्विंशतिका' और कवि के साथ मिलकर लिखी गई है[3]। किन्तु टोंक मे प्राप्त 'आत्म सबोधशतक' अकेले जगजीवन ही का है। इस मे १६ छंद है। इस आध्यात्मिक रचना मे कवि ने संसार की

स्वार्थपरता, कष्ट आदि की चर्चा करते हुए आत्म-स्वरूप जानने को प्रेरित किया है। इस ग्रंथ में सर्वत्र उद्बोधन के स्वर हैं।

तन धन लाज कुटंब के कारने,
इत उत नित भटकाना वे।
पूरब संचित करम सुभासुभ
सुख दुख रूप निदानां वे।
कबहू सेवक ह्वै करि धाया,
कबहू राजा रानां वे।
भिक्षुक धनीय गृही वनवासी,
नाना विधि बहकाना वे।

चौधरियान मन्दिर, टोंक के गुटके में पृ ११७-१२८ पर उपलब्ध जगजीवन के पदों में दो-चार पद ऐसे भी हैं जो उनकी अन्य रचनाओं की भांति हीर कवि के साथ लिखे गए प्रतीत होते हैं। विषय की दृष्टि से जगजीवन के पदों को तीन भागों में बांटा जा सकता है–१ आध्यात्मिक। २ भक्ति परक। ३ नैतिक। अपने आध्यात्मिक पदों में जगजीवन ने नानारूप दिखाने वाली पर परणति को छोड़कर स्वपरणति को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

जियरे तू ध्रौघू ध्रौघू भाव,
जातैं उपजै आतम चाव।
वस्तु स्वरूप अनादि निधन है,
निज गुण मंडित भाई।
सो ध्रुव पद सदगुरनि बताया,
अध्रुव परिणति गाई।
चेतन पुदगल दोइ दरब में,
प्रगटै भाव विभावा।
सहजरूप परणति में सेती,
नानाकार लपावा।

कवि की दृष्टि में आत्मानुभव का आनंद अमृत से अलग नहीं है।

जगतजन निज अनुभौ हित कीजे।
भव्य विपाक निकट जो आयो,
तो अमृत रस पीजे।

जगजीवन मनुष्य जीवन की सार्थकता आत्म-स्वरूप में लय हो जाने में ही मानते हैं। यदि मनुष्य जीवन में भी मन विषय और कषायों में लवलीन रहा, पत्नी, पुत्र और धन के मोह में फंसा रहा तथा मन, वच, कम से अनीति और अभिमान में रत रहा, तो जीवन निष्फल ही खोया। बुद्धिमानी तभी है जब आत्मा की कलुषता को दूर कर उसका सहज स्वरूप प्रदान किया जाय।

मनुषभाव धरि धरि निरफल खोयोरे।
विषय कषाय मगनता मानी,
निज पर रूप न जोयो।
मैं घर मैं घरणी, सुत मैं धन,
मैं मैं ममता मोयो।
इष्ट वियोग अनिष्ट समागम,
उदय भये दुख रोयो।
मन वच काय अनीति चलाई,
मद मदिरा रस मोयो।
जगजीवन तब ही फलवन्तो,
जब अंतरमल धोयो।

जगजीवन के भक्तिपरक पदों में आराध्य का गुण-गान और आत्म-निन्दा की भावना का प्राधान्य है। उनके प्राप्त पदों में से किसी भी पद में तीर्थंकर विशेष का नाम न होने से स्पष्ट है कि उनका भक्ति भाव किसी एक तीर्थंकर के प्रति न होकर सभी के प्रति समान रूप से था। उनका आराध्य 'जिनेन्द्र' अखंड, परमात्मा, सर्वज्ञ, अनंत गुणों से युक्त, अनुपम, जगतपति और अभेद है। देवता उसका यश-गान करते हैं।

जिनवर जस कछु सुरपति गावैं।

उपज्यी हरपि निरपि जिन जगपति,
याही तै आतम हित प्रगटावै।
द्रव्य विचार अभेद अमूरत,
मूरत मो पै कहि कछु नावै।
पर्याय विधि सिधि रूप अनुपम,
त्रिभुवन जनम न नयन सुहावै।
'जगजीवन' चिरजीव जिनेसुर,
परमातम पद सब जग भावै।

जगजीवन को पुनर्पुनः जन्म लेते और मरते रहने के कारण स्वयं पर बडा क्षोभ है। मोह अभिमान और ममता में लिप्त अपने मन की भी उन्होंने बडी निन्दा की है।

जीवना बहुत करि भाना।
मोह मगन सब जग भरमाना।
देखै जनम मरन बहु जनको।
तो बन होइ विरागी तनको।
अहनिशि मेरी मेरी करतौ,
डोले मूढ करम मरमिटतौ।
अब हम याकै मरम पिछानौ,
आपहि भूल आप लटकानौ।
जो इहु जगजीवन निज जानै,
तो अविचल सिव सुख मानै।

जगजीवन के नीतिपरक पद्यों का प्रतिपाद्य संसार की स्वार्थपरता, असारता एवं सप्तव्यसनो की निन्दा अधिक है। संसार की असारता के सम्बन्ध मे उन्होंने परम्परागत विचार ही प्रकट किए हैं।

सब जग दीसत जैसा सपना।
दरसन मोह गये जब जागा।
सोऊ रूप न अपना।
पुत्र कलित्र मित्र तन संपति,
इह सब झूठी थपना।

कवि ने जुआ, मांस, मदिरा, शिकार, चोरी, परतियगमन की निन्दा इसके सेवन से नष्ट होने वाले पाण्डव, चारुदत्त, ब्रह्मदत्त, रावण आदि का उदाहरण देकर की है।

जगजीवन के पद भैरव, विलावल, गान्धार, आसावरी, धनाश्री, मल्हार, नट, गौरी, काफी, कान्हड़ों, अडाणो, केदारों, विहाग और परज रागों में मिलते हैं। पावस और होली के सांगरूपक सुन्दर बन पड़े हैं। सांग रूपक के अतिरिक्त अन्य अलकार भी उनकी रचनाओं मे दृष्टिगोचर होते हैं।

रूपक

पर को दुख करि हरख बढ़ायो,
अपनो दुख द्रुम बोयो।

उपमा

सब दीसत जैसा सपना।

अनुप्रास

जगतजीवन जीव सहाय त्रिभुवन ईस।
कर्मकुठारि केवल कलधारी।

श्लेष

या तैं जगजीवनि महि होउ।
नित नित आतम अनुभवति मोहु।

उदाहरण

जो उपजै सो विनसै, पर जै जगत रीति है सारे।
ज्यों तड़िता परकास छिनक है, त्यो षट् दरब विचारै

जगजीवन जहां जैन दर्शन के तत्त्ववेत्ता थे, वहां वे कुशल कवि भी थे। चिन्तन और काव्य कला पर उनका समान अधिकार था।

---

१ हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २१२ पृ० १७

२. अनेकान्त, वर्ष २० कि. ४ पृ. ११७

३. वही वही वही

भजन

राग-पैरवा

श्री महावीर भगवान की, मव मिलकर जय जय बोलो,
ध्यान लगाओ वीर प्रभू का, करो गान गुण महा ऋषी का ।
वह है ईश्वर मुखी दुखी का, उस महान गुण खान की,
महिमा गा के अघ धोलो ॥ १ ॥
जब दुनिया मे पाप ममाया, वीर प्रभु झट पट यहा आया,
विश्व प्रेम का पाठ पढाया, रीति बता कल्याण की।
बोले—अब नैना खोलो ॥ २ ॥
ऊँच नीच का भेद मिटाया, देव मनुज पशु सभी बुलाया,
वीर प्रभु ने यह सिखलाया, जीवात्मा महान् की।
है अनन्त शक्ति तुम तोलो ॥ ३ ॥
पच पाप हिरदे से छोडो, विषय कषायो से मुख मोडो,
सबकी सेवा मे मन जोडो, यह शिक्षा भगवान् की।
निज आतम मे तुम घोलो ॥ ४ ॥
आज बनी दुर्दशा हमारी, पाप करम करते हम भारी,
गई एकता मन से सारी, करें मरम्मत मान की।
घुण्डी दिल की अब खोलो ॥ ५ ॥
गई गई अब कहना मानो, वीर की शिक्षा हिरदे ठानो,
समय गये पर वहु पछतानो, "नानू" उस शक्ति महान की।
फिर सब मिल जय जय बोलो ॥ ६ ॥

जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय और उसके प्रमुख आचार्य

डा० नाथूलाल पाठक
(राजकीय महाविद्यालय, कोटा)

> वर्तमान में जैन धर्म को मानने वाले दो ही सम्प्रदायों में विभक्त पाये जाते है-१. दिगम्बर और २. श्वेताम्बर। इतिहास से यह प्रमाणित हो चुका है कि इनके अतिरिक्त यापनीय नाम से एक और सम्प्रदाय का अस्तित्व विक्रम की १६वी शताब्दी तक था जो वर्तमान के दोनों ही सम्प्रदायों की बहुत सी बातों को स्वीकारता था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी क्यों नाम शेष हो गये यह आज तक भी खोज का विषय है। आवश्यक नही कि लेख की प्रत्येक बात से सम्पादक सहमत हो।
>
> —सम्पादक



अन्य धर्मों की भांति जैन धर्म भी अनेक शाखाओं एवं उपशाखाओं में विभक्त है। इसके कई सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय इस समय जीवित नही हैं। उनका उल्लेख या तो अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मिलता है अथवा उन्हीं के साहित्य द्वारा उनका परिचय प्राप्त होता है। जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों से ही प्रायः लोगो का परिचय है। यापनीय, जैन धर्म का एक तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे बन चुके थे। दोनों सम्प्रदायों की भाँति यापनीय सम्प्रदाय का अस्तित्व भी अति प्राचीन है। इस सम्प्रदाय को 'आपुलीय' या 'गोप्य'' संघ के नाम से भी पुकारते थे। इस धर्म संघ के जैन साधुओं की प्राचीन समय में बड़ी प्रतिष्ठा थी। प्राचीन लेख माला[1] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कदम्ब, राष्ट्रकूट तथा अन्यान्य राजवंशों ने पुष्कल दान देकर इनके साधुओं को सम्मानित किया था। इस सम्प्रदाय की परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक प्राप्त होती है। इसके पश्चात् किसी ग्रन्थ मे इसके प्रचार-प्रसार का उल्लेख नहीं मिलता।

यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदाय के अधिक निकट है। इसका कारण यह है कि दोनों संघो की कुछ मौलिक बातें एक जैसी हैं। उदाहरण

के लिए इस सघ की प्रतिमायें भी दिगम्बर सघ की भाति निवस्त्र होती थी। इसके साथ ही साथ उनका साहित्य भी दिगम्बरियो के साहित्य जैसा था। यापनीय सघ के मुनिजन भी शरीर पर कोई वस्त्र धारण नही करते थे। दिगम्बर मुनियो की भाति मोरपखी और पिच्छि अवश्य धारण करते थे। यापनीय सघ के मुनि लोग भी करतल भोजी होते थे वे निवस्त्र प्रतिमाओ का पूजन करते थे तथा उनकी आचार सम्बन्धी बातें भी दिगम्बर सम्प्रदाय से साम्य रखती हैं। इनका विस्तृत उल्लेख जैन हितैषी[२] मे मिलता है।

'जैन साहित्य और इतिहास' मे यापनीय सम्प्रदाय का विस्तृत विवरण मिलता है। इसके साहित्य को जन धम के दोनो ही प्रमुख सम्प्रदायो के विद्वानो ने आदर की दृष्टि से देखा है। इस सम्प्रदाय के विलुप्त हो जाने पर इसका सारा साहित्य श्वेताम्बरीय ग्रन्थ भडारो मे चला गया है।

इस सम्प्रदाय मे अनेक आचाय हुए हैं। उनमे प्रमुख आचाय उमास्वाति, शिवाचाय, शाकटायन, स्वयभु त्रिभुवन स्वयभु और वादिराज हैं।

उमास्वाति—आचार्य उमास्वाति इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचाय हुए हैं। उनका स्थितिकाल विक्रम की चौथी शताब्दी माना जाता है। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थ की पुष्पिका मे ज्ञात होता है कि वे मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाचकाचाय के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम वात्सी था। न्यग्रोधिका मे उनका जन्म हुआ था और उन्होने कुसुमपुर म भी कुछ दिन निवास किया था।

आचाय उमास्वाति विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। बौद्ध साहित्य मे जो स्थान आचाय वसुबन्धु का है वही स्थान जैन साहित्य के इतिहास मे आचाय उमास्वाति का है। वसुबन्धु ने बौद्ध त्रिपिटको और अन्य पालि ग्रन्थो मे बिखरे बौद्ध तत्व ज्ञान को समेटकर जिस प्रकार अपने 'अभिधम कोश' मे वैज्ञानिक ढग से व्यवस्थित कर स्वय ही उस पर भाष्य लिखा है, ठीक उसी प्रकार आचाय उमास्वाति ने अधमागधी प्राकृत के आगम ग्रन्थो मे अस्त-व्यस्त जैन तत्व ज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ मे सजोकर एक स्वरूप प्रदान किया और उस पर स्वय ही भाष्य की योजना भी की। आचाय उमास्वाति पहिले विद्वान हुए हैं, जिन्होने जैन तत्व ज्ञान को योग, न्याय, वैशेषिक आदि दशन पद्धतियो के अनुरूप वैज्ञानिक ढग से व्यवस्थित किया है।

यह आचाय भी बौद्धाचाय वसुबन्धु के समान क्रातदर्शी थे। वसुबन्धु ने सवप्रथम सस्कृत भाषा को अपने ग्रन्थो का माध्यम बनाकर बौद्धाचार्यों की सस्कृत विरोधी भावनाओ का दूर किया। इसी प्रकार की स्थिति आचाय उमास्वाति से पूव जैन साहित्य के क्षेत्र मे विद्यमान थी। उनसे पूव सपूर्ण जन साहित्य अधमागधी प्राकृत मे था। उमास्वाति को ही सवप्रथम यह आभास हुआ कि सस्कृत अतरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप प्राप्त कर चुकी ह और किसी भी भारतीय धम का साहित्य तभी विकास और प्रकाश को प्राप्त हो सकता है, जबकि उसकी रचना की माध्यम सस्कृत हो। उमास्वाति का यह सस्कृतानुराग सभवत ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो, किन्तु शोध के द्वारा पता चलता है कि जैन-दर्शन मे सस्कृत भाषा का प्रथम विधान उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ।

उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' उन्ही के द्वारा रचित भाष्य द्वारा सवलित है। जैन साहित्य के क्षेत्र म यह ग्रन्थ इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनो सम्प्रदायो के विद्वानो ने इस पर एक साथ टीकाए प्रस्तुत की है।

शिवाचार्य—यापनीय संघ के द्वितीय प्रसिद्ध आचार्य शिवाचार्य हुए हैं, जिनकी काव्य कृति 'आराधना' उल्लेखनीय है। यह कृति शौरसेनी प्राकृत में है और उसमे २०१७ गाथायें हैं। इस गाथाकृति का एक विशेषण 'भगवती' भी है। शिवाचार्य ने इस ग्रन्थ की पुष्पिका मे संकेत किया है कि पूर्वाचार्यों की रचना के आधार पर उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

इनका स्थितिकाल विक्रम की पाचवी या छठी शताब्दी माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध कथा कृति 'आराधना' पर सातवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक प्राकृत और संस्कृत मे अनेक टीकाए लिखी गई है। इस समय भी इस पर नौ टीकाए उपलब्ध बतलाई गई हैं। इस प्रकार वे अवश्य ही आचार्य शाकटायन (९०० वि०) से पूर्व हुए हैं।

शाकटायन— जैन शिलालेखो [3] में जैन शाकटायन का वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति मिलता है। नंदी सूत्र की टीका मे वे यापनीय यतियों मे अग्रगण्य माने गये हैं। इनसे पूर्व इस सम्प्रदाय के श्रीकीर्ति, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, इन्दु आदि अनेक आचार्य हो चुके थे। अभयचंद कृत 'शाकटायन प्रक्रिया संग्रह' के सम्पादक श्री गुस्तव आपर्ट ने उसकी भूमिका मे पाणिनी के पूर्ववर्ती, यास्काचार्य द्वारा निरुक्त मे संकेतित वैयाकरण शाकटायन और जैन शाकटायन पाल्यकीर्ति को एक ही व्यक्ति बता दिया था, किन्तु इस सम्बन्ध मे डा. श्री पादकृष्ण बेलवलकर[4] तथा अन्य विद्वानों[5] ने स्पष्टीकरण कर दिया है कि दोनों सर्वथा भिन्न थे। इनका स्थितिकाल विद्वानो ने ७७१-८२४ वि० के बीच माना है। इनकी तीन कृतियां-शब्दानुशासन अमोघ वृत्ति और स्त्रीमुक्ति-केवलि भुक्ति प्रकरण उपलब्ध हैं। इनके शब्दानुशासन पर इस समय तक सात टीकाए लिखी जा चुकी हैं।

स्वयंभु—अपभ्रंश मे लिखित जैन साहित्य के पहिले कवि एवं आचार्य स्वयंभु है। कुछ दिन पूर्व चतुर्मुख और स्वयंभु को एक ही व्यक्ति माना गया था, किन्तु इस भ्रम का निवारण हो चुका है। चतुर्मुख स्वयंभु के पूर्ववर्ती विद्वान थे, जिनका उल्लेख स्वयं स्वयंभु द्वारा हुआ है। चतुर्मुख की कोई रचना उपलब्ध नही है।

महापुराण मे उल्लेख आया है कि स्वयंभु यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे छन्द चूड़ामणि विजय शेषित और कविराज की उपाधियों से विभूषित थे। इन उपाधियों से ज्ञात होता है कि वे एक काव्यकार होने के साथ ही साथ छन्द शास्त्री और वैयाकरण भी थे। उनके पिता मारुत देव थे। उनके दो ग्रन्थ 'पउम चरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' प्रसिद्ध हैं। प्रथम को उन्होने धनजय और द्वितीय को उन्होने धवलइया के आश्रय मे रह कर लिखा है, ऐसी प्रसिद्धि है।

त्रिभुवन स्वयंभु—ये आचार्य स्वयंभु के पुत्र थे। नाम करण की शैली से प्रतीत होता है कि दोनो ही पिता और पुत्र दाक्षिणात्य थे। त्रिभुवन स्वयंभु वैयाकरण थे और जैनागमो के अच्छे ज्ञाता थे। पउम चरिउ मे इनकी स्तुति में कहा गया है कि ये अपने पिता के काव्य और कुल का उद्धार करने वाले सुयोग्य पुत्र थे। इनका स्थितिकाल विक्रम की आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध (७३४) से नवी शती के पूर्वार्द्ध (८४०) के बीच का माना जाता है।

'पउम चरिउ' (पद्म चरित) और 'रिट्ठनेमि-चरिउ' (अरिष्ट नेमिचरित) ये दोनो ग्रन्थ इन पिता पुत्रों की संयुक्त कृतियां हैं। एक तीसरी कृति 'पंचमि चरिउ' (पञ्चमी चरित) भी इनके द्वारा रचित बताई जाती है, जो उपलब्ध नहीं है। 'स्वयंभु छन्द' की भी एक प्रति प्राप्त हुई है जो अपूर्ण है। इन्होंने एक व्याकरण ग्रन्थ भी रचा था, वह भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

वेदना, संज्ञान संस्कार और विज्ञान रूप पाच अनुभवो या स्कन्धो से भिन्न आत्मा कोई नित्य पदार्थ नही है।

३–साख्य आत्मा को पुरुष कहता है। पुरुष चेतन, अज विवेकशील और ज्ञान का विषयी, अतीन्द्रिय त्रिगुणातीत प्रकृति का उपयोक्ता, उपभोक्ता ज्ञाता और अधिष्ठाता, मुक्ति के लिए अभिलाषी और उसकी प्राप्ति मे तत्पर है। वद्ध पुरुष अज्ञान से युक्त और उपाधिग्रस्त हो जाता है। अपने मूलरूप तथा मुक्तरूप मे आत्मा शुद्ध, चैतन्यमान, निष्क्रिय, नित्य सर्वज्ञ और सदा मुक्त है। पुरुष सख्या मे अनेक हैं। ये पुरुष या जीव प्रलयावस्था मे निश्चेष्ट रहते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष शरीर प्राप्त करता है और कर्म कर जन्म मरण को प्राप्त करता है। इन कर्मो के कारण ही सृष्टि का विकास होता है। प्रकृतिजन्य सूक्ष्म शरीर ही पाप पुण्य का धारक है और आत्मा को व्यक्तित्व आदि गुण देता है। ये पाप और पुण्य कर्म आत्मा को जन्मचक्र–मृत्यु से जन्म, जन्म से मृत्यु मे बान्धे हुए हैं। मृत्यु होने पर यह विभिन्न योनियों मे जन्म लेता है। मुक्ति मे आत्मा अचेतनावस्था मे रहता है। यह आत्मा न किसी का कार्य है न किसी का कारण।

४–योगदर्शन साख्य के आत्मा या पुरुष के स्वरूप को यथावत मानते हुए एक पुरुष विशेष या ईश्वर की भी उद्भावना करता है। यह पुरुष विशेष सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा, अविद्या (=मिथ्याज्ञान), अस्मिता (=अहकार) राग द्वेष, अभिनिवेश (=मृत्यु का भय) नामक पाच क्लेशो, कर्म और उनके फल (=विपाक) और वासना सस्कार (=आशय से रहित सर्वज्ञ काल के भागो से मुक्त और प्राचीनो का भी गुरु है। यह न सृष्टि का निर्माता है और न नियन्ता। इसका वाचक प्रणव या 'ओ३म्' है।

५–न्याय और वैशेषिक मे आत्मा इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख और दुःख के लिंगो वाला एक पदार्थ मात्र है। इस मे ज्ञान, भाव और कर्म का आश्रय है। पीछे के न्याय मे यह केवल ज्ञान का ही आधार है। आत्मा इन्द्रिय आदि से भिन्न होते हुए भी उनका ज्ञाता, अधिष्ठाता और कर्म प्रेरक है। चैतन्य इसका आगन्तुक गुण है, जो मोक्षावस्था मे समाप्त हो जाता है। आत्मा के ज्ञान और भोग का आधार शरीर है। साख्य के समान यहा भी जीवात्माए असख्य हैं।

६–योग दर्शन का ईश्वर जीवात्मा का ही परिष्कृत, विकसित और ऊर्ध्वीकृत रूप था। न्याय और वैशेषिक इस ईश्वर को और अधिक विकसित शक्तिमान् और महत्वशाली बनाते हैं। यहा ईश्वर नित्य, सत्य, परमआत्मा, सर्वोपरिसत्ता सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा और नियन्ता, सर्वज्ञ सब कुछ का द्रष्टा है। यह जगत् का निमित्त कारण पालक और विनाशक है। यह ही अपने अनन्त ज्ञान और शक्ति से जीवो के कर्मफल आदि के अनुसार जन्म-जन्मान्तरो की व्यवस्था करता है। यह परम गुरु समस्त ज्ञान और कलाओ का आदिम आचार्य है। इसका ज्ञान अनन्त है।

७–यद्यपि आपदेव आदि ने यज्ञपति, मोक्षदायक श्रुतिसिद्ध ईश्वर की अवतारणा की है तथापि पूर्व-मीमासा ने ईश्वर को कोई महत्त्व नही दिया है। वह जीव या आत्मा के ही स्वरूप और अस्तित्व पर बल देती है। यहा जीव का स्वरूप बहुत कुछ न्याय वैशेषिक के समान है। जीव और जगत् दो ही चरम सत्ताए है। जीवमूलत चैतन्य-रहित है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। जो मुक्तावस्था मे विलीन हो जाता है। आत्मा नित्य, अमर, कर्त्ता और भोक्ता है। अपने कर्मफल के अनुसार जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता है। जीवो की सख्या अनन्त है। एक शरीर मे एक ही आत्मा रहती है, परन्तु शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नित्य और अनिवार्य नही है। सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष आदि गुणो का आत्मा से समवाय सम्बन्ध है,

तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। कुमारिल के मत मे आत्मा ज्ञान का कर्त्ता भी है और कर्म भी।

–शांकर अद्वैत वेदान्त मे जीव की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है। ऊपर के दर्शनो में तो जीव मूलभूत आत्मा है। ईश्वर या ब्रह्म उसी का परम शक्ति आदि से सम्पन्न विकसित रूप है, परन्तु वेदान्त मे निर्गुण और निर्विशेष एक ब्रह्म ही परम सत्य है। वह ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप है। जीव इसी ब्रह्म का स्वरूप है और इसी का अंश है। मूलत. तो यह जीव भी अपने स्रोत के समान चैतन्य और निर्विशेष है। व्यवहार काल में वह ज्ञान का विषयी और ज्ञाता हो जाता है। पारमार्थिक अवस्था में जीव या आत्मा या ब्रह्म अनन्त और असीम चैतन्य और आनन्द वाला है। वह शाश्वत सत्ता और अनन्तज्ञान है। ये अनन्तज्ञान और आनन्द जीव के सारमात्र हैं, गुण या धर्म नहीं हैं। अविद्या के कारण व्यवहार-काल मे ही जीव का पृथक अस्तित्व और परिच्छेद सत्य मालूम पडता है। इस अवस्था में वह अन्त:-करण नामक उपाधि के वशीभूत हो जाता है तथा कर्त्ता, कर्मफल भोक्ता और बन्धनग्रस्त हो जाता है।

९–रामानुजी विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मत में जीव और ब्रह्म दो अलग-अलग चरम सत्य सत्ताएं हैं। दोनो के गुण आदि में भेद है। जीव ज्ञान को प्राप्त करने वाला ज्ञाता है। चैतन्य जीव का अविभाज्य गुण है, जो सीमित या परिच्छिन्न है। जीव अणु, वास्तविक सत्ता वाला, ईश्वर का एक अंश, परन्तु ईश्वर से नित्य भिन्न, ईश्वर के अधीन अपृथक् और अस्वतन्त्र सत्ता है। ईश्वर की प्रेरणा से ही वह कर्मों को करता है। ईश्वर या ब्रह्म का चैतन्य असीम है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य किसी भी अवस्था और काल मे सम्भव नहीं। ईश्वर के अनुग्रह से ही जीव, अहंकार, भोक्तृत्व और कर्तृत्व आदि बन्धनो से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

१०–हिन्दु तन्त्रों ने ईश्वर या ब्रह्म की विभिन्न नामो से अवतारणा की है। जीव को इस ईश्वर का अंश माना है। यहां ईश्वर से जीव का सम्बन्ध अनेकविध बताया गया है। इस वर्णन मे वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं से कोई मौलिक और महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है'। आनन्दमार्ग पर भी वेदान्त और तन्त्रो का प्रभाव है। यहा जीव या आत्मा का नाम अणुचैतन्य है। ये असंख्य है। इनका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर नही है –निरपेक्ष है। आत्मा मे चैतन्य और चैतन्य का गुण –ये दो सत्ताए रहती हैं। प्रकृति के प्रभाव से ही आत्मा भिन्न-भिन्न कार्य करने वाला रूप धारण करती है। प्रकृति और आत्मा का साहचर्य या सम्पर्क अविभाज्य है। प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणो के बन्धन से अणुचैतन्य मे अस्तित्व, बुद्धितत्त्व, अहतत्त्वका बोध होता है। अणुचैतन्य ही अपने को अहतत्त्व के कर्म के फल के रूप–चित्त मे विकसित करता है। अणुचैतन्यो का ही सामूहिक नाम परमात्मा या पुरुष या भूमा चैतन्य या भगवान् है। यह पुरुष अव्यक्त और अवस्तु सत्ता है। पुरुष और प्रकृति का सामवायिक नाम ही ब्रह्म है। यह सर्वनिरपेक्ष शाश्वत अनादि और अनन्त सत्ता है। अणुचैतन्य मे गुण या धर्म सीमित है, परम पुरुष मे असीम। प्रकृति के गुण बन्धन मे ब्रह्म का कुछ अंश सगुण हो जाता है, शेष निर्गुण रहता है। इस निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्म ने अपने को अनन्त अणुचैतन्यों के रूप में प्रतिफलित किया है। जब तक ये सब आत्माएं मुक्त नही हो जाती, सृष्टि चलती रहेगी'।

११–ब्रह्माकुमारी सम्प्रदाय मे जीव का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है। ये जीव को परमात्मा –शिव का अंश मानने का भ्रम करते हैं। सत्य-युग मे आत्माएं निष्पाप और निष्काम थीं, परन्तु अब कलियुग मे ये तामस, दुःखी, अज्ञानी, पतित आसुरी, धर्म और कर्म से भ्रष्ट, योगभ्रष्ट

श्रौर हिमक हो गई हैं। मन बुद्धि श्रौर चित्त भी अभौतिक हैं श्रौर आत्मा से अलग नहीं हैं। मनुष्यों श्रौर पशुश्रों की आत्माएं पृथक-पृथक हैं। परमात्मा की शरण में जाने-सब कुछ उन्हें समर्पण कर देने श्रौर तीनों कालों के इतिहास श्रौर भूगोल के संक्षिप्त ज्ञान से ही आत्मा कल्प के अन्त में मुक्त हो जाती है। परमात्मा पौराणिक ईश्वर के समान रक्षक श्रौर तारक है[२]।

१२ पारसी, ईसाई श्रौर मुस्लिम दर्शनों में ईश्वर श्रौर जीव को पृथक् माना गया है। जीव ईश्वर की मानसिक सृष्टि है। जो मनुष्य श्रौर स्त्री आदि के रूप में उत्पन्न होती है। मृत्यु के बाद यहां न मोक्ष की कल्पना है, न पुनर्जन्म की। निर्णय दिवस के बाद जीव अनन्तकाल तक स्वर्ग श्रौर नरक में रहता है। पशु-पक्षी आदि की मृत्यु के बाद गति के विषय में ये दर्शन मौन हैं।

१३ दयानन्द सरस्वती ने अपने दर्शन में सांख्य आदि छः दर्शनों का समन्वय प्रस्तुत किया है। अतः इनकी जीव की कल्पना में सांख्य, न्याय श्रौर मीमांसाओं के विचारों का सम्मिश्रण पाया जाता है। इन दर्शनों के आपातिक विरोधों का यहां परिहार किया गया है। ईश्वर, जीव श्रौर प्रकृति-तीन अनादि श्रौर सत्य सत्ताएं हैं। जीव असंख्य हैं। जीव श्रौर ईश्वर का तादात्म्य कभी नहीं होता। जीव कर्म फल प्राप्ति के लिए ईश्वर के अधीन है श्रौर अपने समस्त पाप श्रौर पुण्य कर्मों के फलों का भोक्ता है। जब कर्म करने में स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता किञ्चित् वर्तमान श्रौर भविष्यत् में कर्म करने में है। ईश्वर श्रौर जीव दोनों चेतनस्वरूप स्वभाव में पवित्र, अविनाशी श्रौर धार्मिक हैं। जीव इच्छा श्रौर द्वेष आदि न्याय में बताए लिङ्गों से युक्त है। यह शरीर में परिच्छिन्न अल्पज्ञ, अल्प या सूक्ष्म है। सृष्टि की रचना, धारण श्रौर प्रलय आदि परमेश्वर ही करता है जीव का इन में सामर्थ्य नहीं है। जीव सन्तान की उत्पत्ति श्रौर पालन तथा शिल्प विद्या आदि के ज्ञान की प्राप्ति परमेश्वर द्वारा बनाए गए शरीर श्रौर इन्द्रियों के माध्यम से करता है। ईश्वर की आज्ञा के पालन, धर्म, सत्य बोलने, परोपकार आदि उत्तम आचार, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना श्रौर उपासना, विद्या के धारण तथा अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार श्रौर बुरे व्यसनों के त्याग से मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था में वह ईश्वर से पृथक रहता है, उस में अव्याहत गति विज्ञान आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरण करता है। यहां इसमें सत्य संकल्प आदि स्वाभाविक गुण श्रौर सामर्थ्य रहते हैं। शरीर केवल संकल्प मात्र रहता है। इस अवस्था में जीव अपनी चौबीस प्रकार की शक्तियों से ही सब आनन्द भोग लेता है।

१४ जैन दर्शन आत्मा को सब तत्त्वों श्रौर द्रव्यों में परम उत्तम तत्त्व श्रौर द्रव्य मानता है। जिस में अनेक गुण श्रौर पर्याय हैं। जीव अमूर्त, चेतनस्वभाव, विनाता, सुख-दुःख को अनुभव करने वाला श्रौर इन्द्रियों के विषय का ज्ञाता है। यह संकल्पमय है। शरीर से एक मालूम पड़ने पर भी यह शरीर से नितान्त भिन्न है। यही एक मात्र अन्तस्तत्त्व श्रौर ज्ञानवान् है। ज्ञान इसका स्वभाव ही है। यह आगन्तुक ज्ञान का आधार नहीं है। यह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श श्रौर शब्द से हीन, लिङ्गों से हीन, श्रौर अनिर्दिष्ट आकार या संस्थान वाला है। यह निरुपाधि, इन्द्रियातीत असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है। मुक्तात्माएं स्वभाव-पर्याय हैं श्रौर शेष आत्माएं मनुष्य, नारकी तिर्यंच श्रौर देव कर्माधीन पर्याय हैं।

१५ जीव का परिमाण अपनी देह ही है। वह शुभ श्रौर अशुभ कर्मों का कर्त्ता श्रौर भोक्ता है। जीव जब क्रोध, मान श्रौर लोभ आदि अति तीव्र कषायों से युक्त होता है तब वह 'पाप कहलाता

है। जब उसके ये कषाय शान्त हो जाते है तब वह "पुण्य" हो जाता है।

१६. शरीर और इन्द्रियों की दृष्टि से जीवो के पांच भेद किए गए है। इन्हें दो वर्गो एकेन्द्रिय और अनेकेन्द्रिय मे रखा जा सकता है। एकेन्द्रिय जीव केवल स्पर्श का अनुभव करते है और बुद्धि के व्यापार से हीन होते है। शंख, सीपी आदि कीड़े रस और स्पर्श रूप दो इन्द्रियो वाले, खटमल, बिच्छू आदि रस, स्पर्श और घ्राण रूप तीन इन्द्रियों वाले मच्छर, मक्खी आदि रस, स्पर्श, घ्राण और दर्शन रूप चार इन्द्रियो वाले तथा मनुष्य आदि पांच इन्द्रियो वाले जीव है।

१७. शरीरसहित आत्माओं के ज्ञान की दृष्टि से तीन भेद किये गये है। अपने शरीर और आत्मा को एक मानने वाले, अहभाव और ममत्व से ओत प्रोत, क्रोध आदि तीव्र कषायो से युक्त जीव बहिरात्मा होते है। शरीर, और आत्मा के भेद को जानने वाले, आठ प्रकार के दुष्ट भयो के विजेता, जिन वचनों के ज्ञाता, गुण ग्रहण में तत्पर, जिन-भक्त, अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, गृहत्यागी, आत्म-गुणरत, आत्मचिन्तक पचमहाव्रती,, अन्त-रात्मा है। केवल ज्ञानी, सर्वज्ञ, ज्ञानरूप शरीर वाले, सर्वोत्तम अतीन्द्रिय सुख की सम्पदा से युक्त आत्माएं सिद्ध परमात्मा कहलाती हैं। मुक्त आत्मा ही सिद्ध कहलाती है। ये जीवित अवस्था मे शरीर सहित होती है। शरीर छोड़ने पर ये शरीर कषाय और वासनाओं से रहित, कर्मोपाधि से विमुक्त तथा अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाती है तथा निःसंग, विशुद्ध स्वरूप, परमेष्ठी, परम जिन, शिवंकर और शाश्वत बन जाती है। इस स्थिति की प्राप्ति सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करने, अपनी आत्मा को 'अहम' के रूप मे क्रोध आदि कषायों से हीन, राग आदि विकारों से मुक्त, अजर, अमर, निरंजन, इन्द्रिय विषय आदि से हीन और शुद्ध चेतन स्वरूप सोचने और मानने से हो सकती है। इस प्रकार सब विकल्पो के शान्त हो जाने, शाश्वत भाव उत्पन्न होने पर आत्मा स्वभावस्थ हो मोक्ष को प्राप्त हो जाती है—

सयल वियप्पे थक्के उप्पज्जइ
को वि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स,
य कारणं सो हु ॥[3]

१८. उपर्युक्त विवरण से यह सुव्यक्त है कि जैन दर्शन ने सशरीर आत्मा के विश्लेषण पर विशेष बल दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित भी है। इस सशरीर आत्मा का लक्ष्य शरीर हीन शुद्ध आत्म रूप को प्राप्त करना है।

१९. जैन दर्शन के आत्मा के इस स्वरूप पर सांख्य की गहरी छाप है। दोनो के आत्मस्वरूप मे गहरी समानता है। जैन दर्शन ने परमात्मा को श्रेष्ठ आत्मा मात्र माना है। सांख्य ने इस रूप में कोई कल्पना नहीं की है। मुक्त होकर आत्मा अपने मूल रूप को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था मे यद्यपि वह बद्ध आत्माओ से ऊची हो जाती है, परन्तु मूलतः तो दोनो मे कोई भेद नही है। जैनों ने मुक्त आत्मा को परमात्मा कह कर अद्वैत वेदान्त के अप्रत्यक्ष प्रभाव को व्यक्त किया है जिसमे जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है और मुक्त होने पर जीव परमात्मा मे लीन हो ब्रह्म ही बन जाता है। इस प्रकार वेदान्त भी मुक्त आत्मा और बद्ध आत्मा—दो ही मानता है। वेदान्त की मुक्त आत्मा जैनों के परमात्मा से बहुत भिन्न और शक्तिशाली है। जैनों की मुक्तात्मा का ईश्वरत्व भी बद्ध जीवात्मा की अपेक्षा से ही है क्योंकि वह ईश्वर सृष्टिरचना आदि के सामर्थ्य से हीन है। बद्ध रूप से मुक्त होने के कारण उसकी मुक्ति और सर्वज्ञत्व आदि नित्य नहीं रह सकते। उसे पुनः

किं कारणि लुचमि सिर-केसइ,
किं कारणि उुह-तण्ह किलेसइ ॥
किं कारणि णग्गउ जणि वियरमि,
किं विणु जलिण महाणइ पइरमि ।
जेण कालि भवियव्वु हवेसइ,
तेण समइ तं सइ णिरु होसइ ॥
जिह रवि उयउ ण को वि णिवारइ,
अणहु तउ ण उ केण वि कीरइ ।
जिह फल कालवसेणपक्कहिं,
णिय कालहु परिपुण्णइ थक्कहिं ॥
तेम जीउ पुणु सइ सिज्झेसइ,
मूढु णिरत्थउ देहु किलेसइ ।
इय भासिवि समवसरणहु बाहिरि,
णिग्गउ जडु खणि छडप्पिणु हिरि ॥
जणि अणाय पक्खिविहि दमिय,
कुमय-पसर बहुभेए भासिय ।
घत्ता—ण वि कम्मह कत्त, ण वि पुणु भुत्त,
ण उ कम्मेहि जि छिप्पइ ।
णिच्चु जि परमप्पउ अत्थि अदप्पउ,
एम सखु मउ थप्पइ ॥१६॥
(पत्र १७)

—जिनेन्द्र भाषित बात कभी अन्यथा नहीं हो सकती है मौ मं निश्चय मे आगे तीर्थंकर होऊंगा। यदि कदाचित् कनकाचल (सुमेरू) चलायमान हो जाय, ज्योतिषगण नभस्तल छोड दें, अग्नि शिला शीतल हो जाय, सर्प विष रहित हो जाय, ये सभी अनहोनी बातें भले ही सभव हो जायें, पर जिन भगवान् का कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। फिर मैं क्यो उपवास करके शरीर और इन्द्रियो को सुखाऊ, क्यों कायोत्सर्ग करू, क्यों वन में रहूँ, क्यों केशो का लोच करू, क्यो भूख-प्यास की वेदना सहूँ, क्यो नग्न होकर विचरू और क्यो बिना शरीर-सन्ताप के महा नदियो मे रमू ? जिस समय जो होने वाला है वह होकर ही रहेगा। उदय होते सूर्य को कौन रोक सकता है ? जैसे फल समय आने पर स्वय पक जाता है, वैसे ही समय आने पर जीव भी स्वय सिद्ध हो जायगा। ऐसा कहकर मरीचि समवशरण से बाहर निकलकर कुमतों का प्रचार करने लगा। और कहने लगा कि न कोई कर्त्ता है न कोई कर्म ही है और न कोई भोक्ता ही है। जीव कभी भी कर्मों से स्पृष्ट नहीं होता है वह तो सदा ही निर्लेप परमात्मा बना हुआ रहता है। इस प्रकार मरीचि ने साख्य मत की स्थापना की।

(२) रयधू ने त्रिपृष्ठ के भव का वर्णन करते समय युद्ध का और उसके नरक में पहुँचने पर वहा के दुखो का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

(३) मृग घात करते सिंह को देखकर चारण मुनि-युगल उसे सबोधन करते हुए कहते हैं—

जग्गु जग्गु रे केत्तउ सोवहि,
तउ पुण्णे मुणि आयउ जोवहि।
एक्क जि कोडाकोडी सायर,
गयउ भमते काखु जि भायर ॥
(पत्र २५)

अर्थात्—हे भाई, जाग-जाग। कितने समय तक और सोवेगा। पूरा एक कोडा कोडी सागर प्रमाण काल तुझे परिभ्रमण करते हुए हो गया है। आज तेरे पुण्य से यह मुनि-युगल आये हैं, सो देखो और आत्म-हित मे लगो।

इस स्थल पर रयधू ने चारण-मुनिके द्वारा सम्यक्त्व की महिमा का विस्तृत वर्णन कराया है और कहा है कि अब हे मृगराज, इस हिंसक प्रवृत्ति को छोडकर सम्यक्त्व और व्रत को ग्रहण कर।

(४) भ० महावीर का जीव स्वर्ग से अवतरित होते हुए ससार के स्वरूप का विचार कर परम

वैराग्य भावों की वृद्धि के साथ विरक्त हो गये हैं भगवान्. इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण रइधू ने किया है।

(५) जन्माभिषेक के समय सौधर्मेन्द्र दिक्पालों को बोलकर दिशा के सर्व ओर रक्षार्थ रूप से अपनी-अपनी दिशाओं में बैठाकर कहता है—

दिस दिस दिस रक्खहु सावहाण

मा को वि विसउ सुर मज्झ ठाण।

अर्थात्—हे दिक्पालो, तुम लोग सावधान होकर अपनी-अपनी दिशा का संरक्षण करो और इस मध्यवर्ती क्षेत्र में किसी को भी प्रवेश मत करने दो।

इस उक्त उद्देश्य को भूल कर लोग आज पंचामृताभिषेक के समय दिक्पालों का आह्वानन करके उनकी पूजा करने लगे हैं।

(६) रइधू ने भी जन्माभिषेक के समय सुमेरु के कम्पित होने का उल्लेख किया है। साथ ही अभिषेक से पूर्व कलशों में भरे जल को इन्द्र के द्वारा मंत्र बोल कर पवित्र किये जाने का भी वर्णन किया है।

इस प्रकरण में गन्धोदक के माहात्म्य का भी सुन्दर एवं प्रभावक वर्णन किया है।

(पत्र २७ A)

(७) जन्माभिषेक से लौटने पर इन्द्राणी तो भगवान को ले जाकर माता को सौंपती है और इन्द्रराज सभा में जाकर सिद्धार्थ को जन्माभिषेक के समाचार सुनाता है।

(पत्र २८ B)

भगवान् के भी वर्धमान, सन्मति, महावीर आदि नामों के रखे जाने का वर्णन पूर्व-परम्परा के अनुसार ही किया है।

(८) महावीर जब कुमार काल को [illegible] कुमारावस्था से सम्पन्न हो गये हैं, तब [illegible] चिन्तन करते हैं—

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १४०

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

(पत्र ३९ A)

महावीर [illegible] [illegible]

हुए बैठे थे, और उनसे कहते हैं—हे पुत्र, म तुम्हारे सामने अपने मन की बात कहू तुम तो सब कुछ जानते हो । देखो—क्या पाषाणो मे सुवर्ण नही उत्पन्न होता और क्या कीचड मे कमल नही उपजता ? पिता और पुत्र मे क्या अन्तर किया जा सकता हैं ? (कभी नही।) फिर भी मै मोह-वश कुछ कहता हूँ। तो तुम ऐसा काम करो कि जिससे कुल-सन्तान घटे और पुत्र का वश प्रवतमान रहे। हे इन्द्रघात-वद्य पुत्र, तुम ऐसा भाव करो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो ।

पिता के ऐसे अनुराग भरे वचनो को सुनकर अथवि त्रिलोचन भगवान् उत्तर देते हैं।

त णिसुणेप्पिणु अवहि विलोयणु
पडि उत्तरु भासइ मल मोयणु ।
ताय ताय ज तुम्हइ पउत्त,
मण्णमि त णिरु होइ ण जुत्त ॥
चउगइ पह व विहिय ससार,
मोख महापह तु पियदार ।
दुत्तरु दुग्गइ पारावार,
कवणु ताय बुहु वच्छइ दार ॥
सव्वत्य वि अयणेण विद्धण्ण,
सधि वध विसमहि विच्छिण्ण ।
सव्वरिय जि निमिउल सपुण्ण,
सव्वत्य जि णव दारहि जुण्ण ।
सव्वकाल पयडिय णिरु मुत्त,
सव्वकाल वस-मस विलित्त ।
सव्वकाल लाला रस गिल्ल,
सव्व य जि रहिरोह जलुल्ल ॥
सव्वकाल बहु मल वयक्खुप,
सव्वकाल धारिय जि पुरीस ।
सव्वकाल कुमिहि कुलणाथ,
सव्वकाल अतावनि वद ॥
सव्वकाल मह भुक्खारीण,
।
एरिस अग सेयताण
होइ ण मोक्खु दुक्खु धुव ताण ॥

घत्ता—परसमउ पवहिय सभउ,
खण-खण वाहासय-सहिउ ।
आरभे महुरउ इदिय-सुहु धुउ,
कोणह सेवइ गुण अहिउ ॥
ससारि भमतइ जाइ जाइ,
गिण्हियइ पमेल्लिय ताइ ताइ ।
केत्तियइ गणेसमि आसि वस,
णिच्च च्चजि जगि लद्ध सस ॥
केत्तियइ भणमि कुल-सतईउ,
जणणी-जणणाई पिय सामिणीउ ।
पूरेमि मणोरह कासु कासु,
ण णिसुणिवि णिउ मेल्लिवि उसासु ॥
होएवि विलक्खउ मोणि थक्कु
जाए ण उ पडि उत्तरु असक्कु ।

अर्थात्—हे तात, हे पिता, तुमने जो कहा, सो वह युक्त नहीं है। यह दार-परिग्रह (स्त्री-विवाह) चतुर्गति रूप ससार-मार्ग को बढाने वाला है और मोक्ष के महान् पन्थ का रोकने वाला है। यह ससार रूप सागर दुस्तर दुर्गति रूप है, इसका कोई आदि अन्त नहीं है, कौन बुद्धिमान इसमे डूबना चाहेगा ? यह सर्वत्र अज्ञान से विस्तीर्ण है और विषय सधि बन्धो मे व्याप्त है। यह मानव-देह कृमि-कुल से भरा हुआ है, नौ द्वारो से निरन्तर मल-स्राव होता रहता है, सदा ही, मल-मूत्र प्रकट होता है, सदा ही यह वसा (चर्बी) और मास से लिप्त रहता है मुख मे सदा ही लार बहती रहती है और सर्वांग मे रक्त-पुज से प्रवाहित रहता है। सदा ही यह नाना प्रकार के मलों से कलुषित रहता है, सदा ही विष्टा को धारण किये रहता है। इससे सदा ही

दुर्गन्ध आती रहती है और सदा ही यह आंतों की आवली से बंधा हुआ है। सदा ही यह भूख-प्यास से पीडित रहता है। ऐसे अनेक आपदा मय शरीर का सेवन करने वालों को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हां, उनके दुःखो की प्राप्ति तो निश्चय से होती ही है। पर से उत्पन्न होने वाले, मल-मूत्रादि को प्रवाहित करने वाले, क्षण-क्षण में सैकडों बाधाओं से व्याप्त और प्रारम्भ मे मधुर दिखने वाले इस इन्द्रिय-सुख को कौन गुणी पुरुष सेवन करना चाहेगा ? ससार मे परिभ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म,जाति और वंशों को ग्रहण कर करके छोडा है। जगत् मे कौनसा वंश सदा नित्य रहा है और कौन से कुल की सन्तान, माता, पिता और प्रियजन नित्य बने रहे है। मनुष्य किस-किस के मनोरथों को पूरा कर सकता है। इसलिए इस दार-परिग्रह को स्वीकार नही करना ही अच्छा है। पिता महावीर का यह उत्तर सुनकर और दीर्घ श्वास छोडकर चुप हो प्रत्युत्तर देने मे अशक्य हो गये।

(९) महावीर के वैराग्य उत्पन्न होने के अवसर पर रयधू ने बारह भावनाओ का बहुत सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन किया है।

(१०) रयधू ने दीक्षार्थ जाते हुए भगवान् के सात पग पैदल चलने का वर्णन इस प्रकार किया है—

ता उट्ठिवि सिहासणहु जिणु,
चल्लिउ पय धरंतु धरहि।
पय सत्त महीयलि चल्लियउ जाम,
इंदे पण वेप्पिणु देउ ताम।
ससि पह सिविमहि मंडिवि जिणिंदु,
आरोविवि उच्चायउ अणिंदु॥
(पत्र ४६ ए)

अर्थात्—भगवान सिहासन से उठकर जैसे ही भूतल पर सात पग चले, त्यों ही इन्द्र ने शशिप्रभा पालकी मे भगवान को उठाकर बैठा दिया।

(११) इन्द्र जब गौतम को साथ लेकर भगवान् के समवशरण मे आने लगे, तो उनके दोनो भाई भी अपने शिष्यो के साथ पीछे हो लिए। तब उनका पिता शांडिल्य ब्राह्मण चिल्ला करके कहता है—अरे तुम लोग कहां जा रहे हो ? क्या ज्योतिषि के ये वचन सत्य होगे कि ये तीनो पुत्र जिन शासन की महती प्रभावना करेंगे। हाय, हाय यह मायावी महावीर यहां कहा से आ गया।

ता संडिल्ले विप्पे सिट्ठउ,
हा हा हा कहु काजु विणट्ठउ।
ए यहिं जम्मण दिणि मइ लक्खिउ,
णेमित्तिएण मज्झु णिउ अक्खहु।
ए तिण्णि वि जिण समय पहावण,
पयड करेसहि सुहगइ दावण।
तं अहिहाणु एहु पुणु जायउ,
कुवि मायावी इहु णिरु आयउ॥
(पत्र ५० ए)

१२. गौतम के दीक्षित होते ही भगवान की दिव्यध्वनि प्रकट हुई। इस प्रसंग पर रयधू ने षट् द्रव्य और सप्त तत्त्वो का श्रावक और मुनि धर्म का विस्तृत वर्णन किया है।

अन्त मे रयधू ने भगवान् के निर्वाण कल्याण का वर्णन करके गौतम के पूर्व भव एवं भद्रबाहु स्वामी का चरित्र भी लिखा है।

भजन

सिख सीखो मेल मिलाप की, जल ओर दूध से भाई ।।टेक।।
पय ने पानी को अपनाया,
पानी ने पयमान वढाया,
हिल मिल एक भाव दर्शाया,
तुलता गोरस सग आपही,
समता के साथ विकाया ।।जल।।
यो स्नेह की वेल वढाई,
हित पर हित की हुई चढाई,
प्रेम कसोटी वनी कढाई,
जाच आच के ताप को
दूढता परखन को भाई ।।जल।।
नीर ने प्रिय क्षीर वचाया,
दीन दुग्ध व्याकुल अकुलाया,
पावक मे गिरने को धाया,
मसि कृतघ्नता पाप की
गुण कीर्ति कुल न लगाई ।।जल।।
मरती वार मिला पुनि पानी,
मग्न भया ओर अग्नि शमानी ।
एसे सकट शक्ति मयानी,
सभा रहेगी आपकी ।
मत डालो कपट खटाई ।।जल।।

धर्मशर्माभ्युदय और रामायणीय कथाएँ

जैन काव्य साहित्य में धर्मशर्माभ्युदय अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसके कर्ता हरिचन्द कायस्थ होते हुए भी जैन धर्मावलम्बी थे किन्तु सिवाय इसके कि ये विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से पूर्व हुए, इनके निश्चित समय का आज तक भी परिज्ञान नहीं हो सका ई ये जैन होते हुए भी साम्प्रदायिक कट्टरता से मुक्त थे अतः इन्होंने जैनेतर कथा प्रसंगों का भी अपने काव्य में खुलकर प्रयोग किया है। प्रस्तुत लेख इस काव्य की पुष्टि करता है।



डा० कु० स्वप्न बनर्जी
प्राध्यापिका संस्कृत विभाग, मारवाड़ी कालेज, रांची

जैन कवि हरिचन्द ने अपने महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय का महत्त्व पौराणिक संकेतों के बाहुल्य के कारण बढा दिया है। कुछ कथाए रामायण से है, कुछ महाभारत से एवं कुछ विभिन्न पुराणो से। अत्यन्त प्रसिद्ध रामायणीय या पौराणिक व्याख्यानो के अतिरिक्त उन्हो ने अत्यन्त अपरिचित कथाओ का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक ही कथानक कई रूपो में कई स्थान पर उल्लिखित है। ये आख्यान प्रायः विभिन्न अलंकारो के साथ आये है। साधारण समाज मे पौराणिक कथाएं अत्यन्त प्रिय और अतिप्रचलित होने के कारण उनके द्वारा कवि को भाव-बोध कराने में अत्यन्त सुविधा होती है। प्रस्तुत निबन्ध मे हम धर्मशर्माभ्युदय में आये रामायणीय कथाओ को देखेंगे।

आदिकवि-वाल्मीकि[1] –देवर्षि नारद के रामायण की मूलकथा सुनाकर चले जाने पर महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे शिष्य भारद्वाज के साथ स्नान करने चल दिये। वहा तट के वन मे उनके देखते २ एक व्याध ने क्रौञ्च के जोड़े में से एक को मार डाला[2]। क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन से मुनि का हृदय द्रवित हो गया। शोकाभिभूत उनके कण्ठ से अकस्मात यह श्लोक निकल पड़ा-

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्। वा. रा., बाल. २/१५

यह विश्व को मानव-रचित प्रथम कविता थी। स्वय मुनि को यह अद्भुत वस्तु प्रतीत हुई। उन्होने भरद्वाज से कहा भी।[3] इसके बाद आश्रम मे उनके पास ब्रह्मा आये और उस नूतन रचना के लिए उनकी प्रशसा करते हुए राम का सम्पूर्ण चरित्र रचने का उन्हे आदेश दिया।

हरिचन्द ने आदिकवि के प्रथम श्लोक की प्रशसा करते हुए लिखा है–बडे पुण्य से किसी की ही वाणी, शब्द और अर्थ दोनों की विशिष्ट रचना से युक्त होती है'[४]।

गङ्गावतरण[५] –सगर पुत्रो के उद्धार के लिए भगीरथ ने गङ्गावतरण कराने का निश्चय किया। उन्होने ब्रह्माजी के दर्शनार्थ तप करना प्रारम्भ किया। ऊर्ध्वबाहु करके पाँच प्रकार से तप करते हुए बहुत वर्ष बीत गये। उनकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी उनके सामने प्रकट हुए। भगीरथ की प्रार्थना सुनकर पितामह ब्रह्मा ने कहा कि उनका मनोरथ सफल होगा पर हिमवान् की पुत्री का भार सहने म पृथ्वी समर्थ नही केवल शिव ही उसे धारण कर सकते हैं।[६] ब्रह्मा जी के इस प्रकार कह कर चले जाने पर भगीरथ ने पुन शिव की तपस्या करनी प्रारम्भ की। एक सवत्सर तक कठिन तप करने के बाद शिवजी प्रसन्न हुए और उन्होने गङ्गा को अपनी जटा मे धारण करने का वचन दिया। शिव की जटा मे गङ्गा अनेक सवत्सरों तक रुकी रही। भगीरथ ने पुन तप किया तब शिव ने गङ्गा को पृथ्वी मे प्रवाहित होने के लिए छोडने का वचन दिया। उनके द्वारा मुक्त की हुई गङ्गा ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, सीता, सिन्धु महानदी और अलकनदा इन सात धाराओ मे दिशाओ मे प्रवाहित हुई।[७]

ब्रह्मपुराण के अन्तर्गत 'गौतमीमहात्म्यवर्णन' मे भी गङ्गावतरण की कथा आती है। ब्रह्मा के कमण्डलु के जल से पूरित भगवान् के चरण से निकलकर गगाजल ने महादेव की जटाजूट मे प्रवेश किया।[८]

धर्मशर्माभ्युदय मे हरिचन्द ने गगा की शुभ्रता का वर्णन करते हुए उसके जनकों को ही इसका कारण ठहराया है। वे कहते हैं–"जो गङ्गानदी दूध समान कान्तिवाली है जिसमे ऐसी जान पडती है मानो विष्णु के चरणनखों की किरणों से ही व्याप्त है अथवा महादेव जी के मस्तक पर चन्द्रमा की किरणों से ही ललित है अथवा हिमालय की ऊँची ऊँची बर्फ की चट्टानों से ही मिश्रित है।[९]

रामचन्द्र द्वारा सेतु-बन्धन-[१०]रावण से युद्ध करने के लिए रामचन्द्र की सम्पूर्ण वानर-सेना समुद्र के किनारे आकर ठहर गई। लङ्का जाने के लिए समुद्र पार जाना आवश्यक था। अत रामचन्द्र ने समुद्र मे तीक्ष्ण बाण का प्रहार करना प्रारम्भ किया। जिन से समुद्र का जल सूख जाय और बीच से उसे पार करने का मार्ग मिल जाय। कई बाणो को छोडने के बाद उन्होने ब्रह्मास्त्र छोडने का विचार किया। उनके द्वारा धनुष की प्रत्यन्चा खीचे जाते ही चारो ओर हाहाकार मच गया। तब सागर स्वय मूर्तिमान होकर प्रगट हुआ।[११]विनीत होकर उसने कहा कि वह ऐसा परामर्श देगा जिससे वानर-सेना पार चली जाय और समुद्रवासी जीवो को भी कष्ट न हो। [१२] सागर ने तब रामचन्द्रजी को जल म पुल बाँधने की सलाह दी। सागर के परामर्श और रामचन्द्रजी की आज्ञा से सारी वानरसेना पर्वत, पेड आदि उखाडने मे और पुल निर्माण करने मे लग गई। अन्त मे वह सेतु पूरा हो गया और पुल निर्माण करते हुए ही सारी वानर सेना उस पार पहुच गई।[१३]

रामायण की इस कथा का सकेत हरिचन्द्र ने एक बार धर्म शर्माभ्युदय मे किया है—"जिसकी तृष्णा समाप्त नही हुई ऐसे समुद्र के विषय मे

याचकजन 'यह बाधा गया' आदि क्या-क्या अपवाद नही करते।"[14]

वानर-सेना के साथ राम का दक्षिण-प्रस्थान-हनुमानजी के मुख से सीता की दयनीय स्थिति तथा लंका दहन का आंखो देखा हाल सुनकर रामचन्द्रजी ने कहा—"मै तुम से सच कहता हूं—तुमने उस भयानक राक्षस की जिस लकापुरी का वर्णन किया है उसे मै शीघ्र ही नष्ट कर डालूँगा।"[15]तदनन्तर राम ने प्रत्येक को यथायोग्य आज्ञा दी और यात्रा की तैयारी प्रारम्भ हो गई। वानरराज्य सुग्रीव और लक्ष्मण के सादर अनुरोध करने पर सेना सहित धर्मात्मा श्री रामचन्द्रजी ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया।[16]

धर्मशर्माभ्युदय मे कवि ने धर्मनाथ के प्रस्थान को रामचन्द्रजी की तरह बताते हुए श्लेप युक्त वर्णन किया है—"जिस प्रकार रामचन्द्रजी हरि-सेना-वानरो की सेना से युक्त होकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी हरिसना—घोड़ो की सेना-से युक्त होकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे थे।"[17]

सीता का निर्दोष होना[18]लवकुश से रामायण की कथा सुनकर रामचन्द्रजी को सीता की याद आई। उन्होने सीता की पतिव्रतता को पुनः प्रमाणित करने के लिए उनको शपथ लेने का सन्देश कहलवा भिजवाया। दूसरे दिन सभी महर्षिगण उपस्थित हुए। वहा शपथ ग्रहण करने के पूर्व ही वाल्मीकि जी ने सीता की शुद्धता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित वचन कहा—"मैने दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सीता का भाव परम पवित्र है। आपको भी यह प्राणो से अधिक प्यारी है। आप यह भी जानते है कि सीता सर्वथा शुद्ध है तथापि लोकापवाद से कलुषित चित्त होकर आपने इसका त्याग किया है।[19]

हरिचन्द्र ने वनस्थली का वर्णन करते हुए कहा है—"जिस प्रकार सीता स्वयं अकलमषा थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी पङ्क आदि दोषों से रहित है। चूंकि आप राजाओ में रामचन्द्र हैं अतः सीता की समानता रखने वाली इस वनस्थली को स्वीकृत कीजिए।"[20]

सीता-पुत्र-लव-कुश—रामायण के उत्तर-काण्ड में सीता पुत्र लव-कुश का वर्णन भी आया है।[21] जिस रात को शत्रुघ्न ने पर्णशाला मे प्रवेश किया था उसी रात को सीताजी ने दो पुत्रो को जन्म दिया।[22]उन पुत्रों का नाम मुनि ने लव एवं कुश रखा।[23]

धर्मशर्माभ्युदय मे भी एक स्थान पर कुशोपरुढा और द्रुतमालपल्लवा सीता का नाम आया है।[24]

दूषण-वध-[25]रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ जब पञ्चवटी मे कुटी बनाकर रहने लगे। तो एक दिन रावण की भगिनी शूर्पणखा वहा आई। कामवशीभूत होकर उसने राम और लक्ष्मण से विवाह-प्रस्ताव रखा और सीता को खाने दौड़ी। तब लक्ष्मण ने खड्ग उठाकर उसका नाक-कान काट डाला। इसी रूप में रोती हुई वह अपने भाई खर के पास पहुँची। खर शूर्पणखा से सारा वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ और चतुर्दश राक्षसो को राम-लक्षमण को मारने के लिए भेजा। वहा इन राक्षसो का राम के साथ घोर युद्ध हुआ जिसमे चौदहो राक्षस मारे गये। शूर्पणखा पुन: रोती हुई खर के पास पहुँची और उसे नाना प्रकार से राम का वध करने के लिए उत्तेजित करने लगी। क्रोधित खर ने उससे कहा-अपने आंसू पोछो, सम्भ्रम का त्याग करो। मैं राम को उनके भाई सहित यमलोक मे पहुँचाता हूँ। तब तुम मारे गये राम का उष्ण रक्त पान करना।[26]यह कह कर खर ने दूषण नाम के अपने सेनापति को चतुर्दश

सहस्र सनिका को सुसज्जित करने की आज्ञा दी। दूषण के सेनापतित्व मे वह सेना राम की कुटी की ओर चली। वहा घोर युद्ध हुआ और अकेले राम ने समस्त सेना का मार डाला। अपनी समस्त सेना को नष्ट देखकर दूषण युद्ध भूमि मे आया। दूषण ने राम को तीक्ष्ण शरो से चारो ओर मे घेर लिया। तब क्रोधित होकर राम ने उसके रथ के चारो अश्वो को और तदनन्तर उसके सारथि को भी मार डाला। तत्पश्चात दोनो बाहु काटकर दूषण को भी पृथ्वी पर गिरा दिया।[२७]

इस घटना को लेकर हरिचन्द्र ने धर्मनाथ और रामचन्द्र जी की तुलना करते हुए लिखा है —' जिस प्रकार रामचन्द्र दूषण नामके राक्षस का वध कर चुके थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी अस्तदूषण मद-मात्सर्यादि दोषो से रहित थे।[२८]

रावण द्वारा पर्वत का उठाया जाना— एक बार रावण ने कुबेर पर क्रोधित होकर उसके साथ खूब युद्ध किया। युद्ध मे कुबेर हार गये। रावण तब इन्द्र को जीतने स्वर्ग लोक गया। वहा वह इन्द्र द्वारा बाधा गया। समाचार पाकर रावण-पुत्र मेघनाथ ने देवताओ मे घोर युद्ध किया और अपने पिता को छुडा ले आया। तब विजयी रावण ने सभी लोको को जीतकर अपनी बडी-बडी भुजाओ से कैलाश पर्वत को उठा लिया।[२९]

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय म एक बार इस कथा का स्मरण किया है—"पर्वत को उठाने वाला रावण उसी के लिए आनन्ददायी हो सकता है जिसने कि पृथ्वी का भार वहन करने वाले शेषनाग को नही देखा और जिसने तीनो जगत का भार वहन करने वाले धर्मनाथ जिनेन्द्र को देख लिया था उसे वह दोनो ही आश्चर्यकारी थे।[३०]

१—वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड-अ० २।
२—तस्मात्तु मिथुनादेक पुमास पापनिश्चय।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यत ॥ वही, २। १०
३—पादबद्धो ऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वित।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ वही, बा० का०, २।१८
४—वाणी भवेत्कस्य चिदेव पुण्यै शब्दार्थ सन्दर्भ विशेषगर्भा। १। १६ धर्म०
५—वाल्मीकि रामायण, बा० का० सर्ग ४२-४३।
६—गङ्गायाः पतन राजन् पृथ्वी न सहिष्यति।
ता वै धारयितु वीर नान्य पश्यामि शूलिन ॥ ४२। २४ बा० रा० बा० का०
७—४३। १२—१४ बा० का०—वही।
८—ब्रह्मणः कमण्डलूदके पूजितात् भगवच्चरणात् तगतस्य गगातोयस्य हरजटाजूट गमनश्च।
ब्रह्मपुराण (गौतमी महात्म्य वर्णन), अ० ४-८।
९—विष्णोरिवाड्घ्रेनखरश्मिरञ्जिता करैरिवाद्रीभवमूर्धि लालिता।
भिन्ना हिमाद्रेस्तु हिनै रिवोच्चकैश्चकास्ति या क्षीरमहोदरद्युति। ६। ७१ धर्म०
१०—वा० रामायण, सु० काण्ड सर्ग २२
११—ततो मध्यात्समुद्रस्य सागर स्वयमुत्थित। २२। १७ सु० का०

१२—२२ । २६ सु० का०

१३—तानि कोटि सहस्त्राणि वानराणाम् महौजसाम् ॥
वन्धतः सागरे सेतुं जग्मुः पारं महोदधे : । २२ । ७८ । ७६ सु० का०

१४—त्वमत्र पात्राप समीहितं ददत्प्रसिद्धिपात्रं परमं भविष्यसि ।
अभिन्नं तृष्णे जलधौ कमर्थिनो न् वद्धपीताद्यपवादमादवु : ॥ १८ । ३६ धर्म०

१५—यन्निवेदयसे लंका पुरी भीमस्य रक्षस : ।
क्षिप्रमेना वधिष्याभि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ वा० रामा०,सु० का० ४।४२

१६—ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः ।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम् ॥ वहीं, ४.। २३

१७—क्रमान्न,पाची हरिसेनयावृतो वभौ सकाकुत्स्थ इव""""॥ ६ । ५ धर्म०

१८—वा० रामा०, उत्तर का । ६५-६६ सर्ग

१९—तस्मादियं नरवरात्मज शुद्ध भावा दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रविष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृत चेतसा या त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥६६ २४ उत्तर काण्ड

२०—नृपेषु रामस्त्वमितोररीकुरु प्रसीद सीतामिव काननस्थलीम् ॥ १०।५६ धर्म०

२१— वा० रामा०, उ० का० सर्ग ६६

२२— यामेव रात्रिं शत्रुघ्न : पर्णशालां समाविशत् ।
तामेव रात्री सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ वही ६६ १

२३—तस्त्वयो पूर्वजो जात : स कुशैर्मन्त्रसत्कृतै :।
निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥ यश्चावरो भवेत् तस्यां लवेन सुसमाहित :।
निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लवेति च स नामतः ॥ ६६ ७-८, वा० रा० उ० का० ।

२४—कुशोपरुद्धां द्रुतमालपल्लवां । १० । ५६ धर्म०

२५—वा रामा०, अरण्य का० १८ २६

२६—वास्यः महितायमेष मन्त्रमस्य विमुच्यताम् । अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यम सादनम्
हतस्याय मन्द प्राणस्य संयुगे । रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ वही २२ । १५

२७—परिच्छिन्न हस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रत : । स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपातभूमिद्रूपरा ।२२ ४०५

२८— वधो स काकुत्स्थ इवास्तद्रूपरा । ६।५१ धर्म०

२९—रावणं विजमी लोकान्सर्वान् जिता क्रमेण तु ।
कैलासं तोलयामास बहुभिः परिघोपमैः ॥ उत्तर का० २ २५५ अध्याम राम

३०—तस्योद्धनाद्रिद्ध रावणस्य युद्धे यहस्र येनैक्षि महोमहीश्वर ।
नाश्चर्यं कृत्तस्य बभूव तद्वयं स येन दृष्टस्त्रिजगच्चरवर ।६ १७ धर्म ०

भजन

पुजारी ! हृदय के पट खोल !
कोई गावे, कोई रोवे उनसे तू मत बोल ।। पुजारी ।।

तू न किसी का कोई न तेरा ।
नाहक करता मेरा तेरा ।।
तुझे पडी है क्या दुनिया की, मत रस मे विष घोल ।।

तेरी सूरत सुन्दर प्यारी ।
उसकी विमल छटा है न्यारी ।।
इधर उधर मत फिरे भटकता, व्यर्थ बजावत ढोल ।।

तेरे घट में है परमातम ।
बना मूढ मत भूले आतम ।।
तेरे घट मे छिपा हुआ है, तेरा रतन अमोल ।।

ज्ञान दीप से तिमिर भगादे ।
आतम शक्ति पुन सरसादे ।।
भक्ति तुला से मन के मन से, मन के मन को तोल ।।

चारों वर्णों के कर्म

"आचार्य सोमदेव ने इस क्षेत्र में एक अनोखा प्रयोग किया। समय के अनुसार उन्होंने गृहस्थ धर्म के दो भेद किये एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म का आधार लोक है और पारलौकिक धर्म का आधार है आगम"।



प्रो० रमेशचन्द जैन
पार्श्वनाथ-वर्धमान जैन डिग्री कालेज,
बिजनौर (उ० प्र०)

जैन पुराण साहित्य से पूर्ववर्ती परम्परा का जहां तक सम्बन्ध है, वरांगचरित के रचयिता जटासिंहनन्दि ने ब्राह्मण वर्ण का मुख्य कर्म दया, क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्म अभिरक्षा, वैश्य वर्ण का मुख्य कर्म कृषि और शूद्र वर्ण का मुख्य कर्म शिल्प बतलाया है।[1] इसके बाद सर्व प्रथम पद्मचरित में शूद्रों को नीच कर्म का करने वाला बताया गया है। पद्मचरित के कर्ता के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने जिन्हे आपत्ति से रक्षा करने में नियुक्त किया वे अपने इस गुण के कारण इस लोक मे क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध हुए जो वाणिज्य कृषि और गोरक्षा आदि व्यापार मे नियुक्त किए गए वे लोक में वैश्य इस नाम से सम्बोधित किए गए तथा जो इन सब बातों को सुनकर लज्जित हुए और नीच कर्म करने लगे वे शूद्र कहे गए। एक अन्य स्थान पर वैश्यों का कर्म शिल्प कहा गया है साथ ही वहां पर इस बात का भी निर्देश है कि श्रुत अर्थात् सदागम से जो दूर भाग खड़े हुए वे शूद्र इस नाम को प्राप्त हुए।[2] पद्मचरित का शूद्रों के विषय में यह उल्लेख हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन को अभिमत नहीं हुआ अतः अपने से निकट पूर्ववर्ती के कथन को न मानकर प्राचीन परम्परा के अनुसार उन्होंने भी शूद्रों का प्रमुख कर्म शिल्प प्रतिपादित किया।[4] जिनसेन के इस प्रयत्न के बावजूद भी शूद्रों के विषय में उत्तर परम्परा

मे जो धारणा की उसने जबदस्त प्रभाव डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि महा पुराणकार आचार्य जिनसेन ने पद्मचरित के रचयिता से एक कदम और आगे बढकर शूद्रो का मुख्य कम ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की शुश्रूषा बतलाकर उनके कारु अकारु भेद करके स्पृश्यता की भी भेद रेखा खींच दी।[५] इसका परिणाम यह हुआ कि लौकिक दृष्टि से शूद्रो का समान स्थान न रहकर वे निम्नकोटि मे आ गिरे जिसके कारण क्षत्रिय और वैश्यो को भी ब्राह्मण वर्ण के क्रमिक नीचे स्तर पर आना पडा। वैश्यो ने तो इस निर्धारित व्यवस्था को स्वीकार कर लिया लेकिन क्षत्रियो ने स्वभावत अपनी शूरता के कारण अपने को ब्राह्मणो मे निचले स्तर पर मानना स्वीकार नही किया। फलत ब्राह्मण और क्षत्रियो मे अपने अपने श्रेष्ठत्व को लेकर दीर्घकाल तक सघर्ष चलता रहा। अत धार्मिक परम्परायें भी विभाजित सी हो गई। ब्राह्मण प्रमुख रूप से यज्ञ तथा अन्य वदिक क्रियाकाण्डो के पोषक हो गए जबकि क्षत्रिय आत्मविद्या या ब्रह्म विद्या को ही श्रेष्ठ स्थान देकर वे उसके सरक्षक बने रहे। छान्दोग्य उपनिषद मे एक कथा आती है किसी ब्राह्मण का लडका बहुत सारी विद्या ग्रहण कर अपने पिता के घर आया। पिता के पूछने पर कि बेटा तुमने क्या क्या पढा है। उसने उत्तर दिया कि पिताजी मैंने सभी विद्याओ को सीखा है। पिता बोला कि तुम्हारी बात पर मैं इस तरह विश्वास नही करता हू। अमुक व्यक्ति अत्यधिक ज्ञानी है यदि उसकी बात का उत्तर दे दोगे तो मैं मान लू गा कि तुमने सभी विद्यायें सीख ली हैं। वह पुत्र उस व्यक्ति के पास जाता है। उसके द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कि यह तो बताओ कि यह आत्मा इस शरीर मे कहा से आती है और मृत्यु के बाद इस शरीर को छोडकर कहा चली जाती है। यह पूछे जाने पर पुत्र चुप होकर पुन पिता के पास वापस लौट जाता है। वस्तु स्थिति का पता लगाकर पिता कहता है कि जाओ उन्ही से प्रार्थना करो वे ही तुम्हे उक्त शका का समाधान देंगे। पिता की आज्ञानुसार पुत्र पुन उस व्यक्ति के पास जाता है। वहा पर वह व्यक्ति उसकी प्रार्थना स्वीकार कर कहता है कि क्षत्रियो की यह विद्या सर्वप्रथम मैं तुम्हे देता हू। कहने का तात्पय यह कि आत्मविद्या के स्वामी क्षत्रिय माने जाते थे। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से तथा गार्गी ने अनन्त शास्त्र से ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। राजसूय यज्ञ मे राजा का स्थान तथा आसन ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एव उच्च होता था। ऐसा मालूम पडता है कि यह स्थिति बाद तक कायम न रह सकी। वैदिक क्रियाकाण्डो की भरमार होने के कारण तथा साधारण जनता का उसके प्रति आकर्षण होने के कारण ब्राह्मण का श्रेष्ठ स्थान स्वीकार कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कई क्षत्रिय तथा अन्य जातिया भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति की कोशिश करने लगे। रामायण तथा अन्य ग्रथो मे निर्दिष्ट विश्वामित्र आदि का क्षत्रियादि मे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करने की कोशिश के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जन्मना वर्ण स्वीकार करने की परम्परा अभी उतनी दृढ नही हुई थी। महाभारत मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिन्होंने पहले क्षत्रियो से जन्म लिया था, वे भी ब्राह्मण हुए हैं। देखो, विश्वामित्र आदि ने क्षत्रिय कुल मे जन्म लेकर अनश्वर अव्यय ब्राह्मण का पद प्राप्त किया था। अधर्माचरण से तथा अपने वर्ण के लिए उचित कर्तव्यो का पालन न करने मे उच्च वर्ण का व्यक्ति भी अपने से निम्न वर्ग को प्राप्त होता था अत स्पष्ट है कि शूद्र कुल मे उत्पन्न होकर भी कर्मानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय एव वैश्य वर्ण को प्राप्त किया जा सकता था तथा कर्तव्य से च्युत होकर ब्राह्मण भी शूद्रत्व को प्राप्त होता था। मनुस्मृति से भी इस बात की

पुष्टि होती है। इतना होने पर भी जन्मना वर्ण व्यवस्था तथा उसके आधार पर ऊंच-नीच ठहराने पर विशेष बल दिया गया। यहां तक कहा गया कि ब्रह्मा ने मुख, बाहु, उरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की सृष्टि की। इसका प्रभाव कुछ अच्छा नहीं पड़ा। ब्राह्मण कि जो अहिंसा प्रेमी, सत्य वचन बोलने वाला, क्षमायुक्त और वेदाभ्यासी माने जाते थे वे अब भयंकर क्रोधी के रूप में माने जाने लगे या जन्मना श्रेष्ठ ठहराए जाने के कारण अन्य वर्णों के प्रति वे उतने नम्र न रहे फिर भी समाज ने उनके प्रति उदारता ही रखी। महाभारत कहता है—ब्राह्मण सर्व जीवों के अवध्य है, क्योंकि वह अग्नि के समान है। ब्राह्मण सब भूतों के गुरु हैं। वह क्रोधित होने से अग्नि सूर्य विष और अस्त्र के समान बन जाते हैं। साधु लोग इसी हेतु ब्राह्मण की पूजन करते है, बेटा! क्रोध से उछल उठने पर भी तुम कभी ब्राह्मण वध मत करना, कभी ब्राह्मण को हानि न पहुंचाना, हे अनघ! व्रतशील ब्राह्मण क्रोधित होकर जिस प्रकार भस्म करते है, अग्नि और सूर्य भी इस प्रकार भस्म नहीं करते। इन्हीं कारणों से ब्राह्मणों का सम्मान करना, ब्राह्मण सर्व भूतों के अग्रज वर्णों में श्रेष्ठ, पिता और गुरु है। एक तरफ तो विश्वामित्र से पीड़ित शरण में आई हुई नन्दिनी के प्रति वशिष्ठ का यह उपदेश कि क्षत्रिय का बल तेज और ब्राह्मण का बल क्षमा है, सो मैं क्षमा गुण से आकृष्ट हो रहा हूं। यदि तुम चाहो तो जाओ। दूसरी ओर ययाति और देवयानि का संवाद। ययाति बोले कि ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि क्रोधपूरित विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्र से भी ब्राह्मण कठोर होते हैं। देवयानी ने पूछा की पुरुषर्षभ! क्यों कर यह कहा कि तेज विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्र से ब्राह्मण कठोर होते है। ययाति बोले कि सर्प काटने से एक मनुष्य मरता है और शस्त्र से भी एक मनुष्य मारा जाता है पर ब्राह्मण क्रोधित होकर राज्य, नगर सम्पूर्ण के साथ एक ही काल में नष्ट कर डालते है। हे भद्रे! मैं इन कारणों को कठोर समझता हूं, सो मैं बिना दान किए तुमसे विवाह नहीं कर सकता हूं। इन सब बातों से जन्मना वर्ण व्यवस्था स्वीकार करने के परिणाम का स्पष्ट दिग्दर्शन मिल जाता है।

इस प्रकार के विचारों और परिवर्तन का प्रभाव जैन परम्परा पर भी पड़ा। जहां तक वैदिक परम्परा का सम्बन्ध है, इस परम्परा के सभी शास्त्रकारों ने शूद्रों का मुख्य कर्म सेवा ही बतलाया है— उदाहरणार्थ—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(गीता १८।४४)

शूद्रस्य सन्ततिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया
अमन्त्र यज्ञो ह्यस्तेय सत्यं गो-विप्र रक्षणम् ॥
(श्री मद्भागवत ७।११।२४)

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया ॥
(मनु० १।९१)

शूद्रस्य द्विज शुश्रूषा तया ऽजीवन् वणिग्भवेत।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजाति हितमाचरन् ॥
(याज्ञवल्क्य स्मृ० १।१२०)

इन सबसे स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक परम्परा में प्रायः सभी ने शूद्रों का कर्म सेवा कर्म बतलाया है। याज्ञवल्क्य स्मृति भी यही कहती है, लेकिन इसमें इतना विशेष है कि शूद्रों का कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सेवा के साथ साथ शिल्प भी बताया है। प्राचीन जैन परम्परा शिल्प को ही शूद्र का मुख्य कर्म स्वीकार करती है, वरांगचरित्र के कथन से यह स्पष्ट है। महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्रों का कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सेवा बताया। इस स्थान पर महापुराणकार वैदिक परम्परा के मनुस्मृति आदि ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

जिस प्रकार रविषेणाचार्य के उत्तरवर्ती हरिवंश पुराणकार जिनसेन को अपने पूर्ववर्ती का शूद्र विषयक यह मन्तव्य कि नीच वृत्ति के आश्रय से शूद्र कहलाए, मान्य न होकर उन्होंने पुन शूद्रो का कर्म शिल्प निर्धारित किया उसी प्रकार आदि पुराणकार के शिष्य आचार्य गुणभद्र को भी अपने गुरु का किया हुआ वर्ण विभाग स्वीकार नही हुआ। इस मामले मे तो वे हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन से भी बहुत आगे निकल गए। उन्होंने तो यहा तक कह दिया कि जिनके जाति नाम कर्म और गोत्र कर्म शुक्लध्यान के कारण हैं जो त्रिवर्ण हैं और शेष शूद्र कहे गए है। विदेह क्षेत्र मे मुक्ति के योग्य जाति सन्तति का विच्छेद नही होता क्योकि वहा मुक्ति योग्य जाति सन्तति के योग्य नाम कर्म और गोत्र कर्म से युक्त जीवो की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र मे चतुर्थकाल मे ही मुक्त योग्य जाति सन्तति पाई जाती है। जिनागम मे मनुष्यो मे वर्ण विभाग इस प्रकार बतलाया गया है। इस प्रकार तो भरत और ऐरावत क्षेत्र मे चतुर्थ काल के सिवा अन्य कालो मे सब मनुष्यमात्र शूद्र होते हैं। इसके बाद के आचार्य सोमदेव ने इस क्षेत्र मे एक अनोखा प्रयोग किया। समय के अनुसार उन्होंने गृहस्थ धर्म के दो भेद किए-एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। सब जातियो और उनका आचार व्यवहार अनादि है यह लौकिक विधि है लेकिन पारलौकिक दृष्टि से तो जैन आगम की विधि ही सर्वोत्तम है क्योकि ससार भ्रमण से मुक्ति का कारण वर्ण श्रम धर्म मानना उचित नही है। और ससार का व्यवहार स्वत सिद्ध होते हुए भी उसमे आगम की दुहाई देना भी व्यर्थ है। ऐसी सब लौकिक विधि जिसमे सम्यक्त्व की हानि नही और व्रतो मे दूषण नही आता, जैनो को प्रमाण है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से वर्ण व्यवस्था और तदनुसार आधारित कर्म को स्वीकार करते हुए भी आचार्य सोमदेव पारलौकिक दृष्टि से उसे कुछ भी महत्व नही देते हैं जो कि जैन परम्परा का मूल है।

---

१ वरागचरित २५/११
२ पद्मचरित ३/२५५-२५६
३ वही ११/२०२
४ हरिवंशपुराण ६/३६
५ महापुराण १६/१८५-१८६
६ भारतीय सस्कृति के मूल तत्व पृ० ३७
ले०—सत्यनारायण पाण्डेय तथा डा आर वी जोशी
(साहित्य निकेतन कानपुर)
७ वही पृ० ३८
८ महाभारत आदिपर्व सभवपर्व अध्याय १३६/१४
९ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेव तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥
१० मनुस्मृति १/३१ पुरुषसूक्त याज्ञवल्क्य स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय प्रश्न १२६
११ महाभारत आदिपर्व १२/१३-१६
११ महाभारत-आदिपर्व २८/३-८
१३ महाभारत आदिपर्व अ० १७७/२८
१४ वही अ० ८१/२४-२६
१५ उत्तरपुराण—७४/४९२-४९५
यशस्तिलक चम्पू आश्वास ८ पृ० ३७३

पीठिकादि मंत्र और शासनदेव

स्व. पं० मिलाप चन्द कटारिया
केकड़ी (राजस्थान)

इस लेख के लेखक समाज के जाने माने विद्वान् है। जैन शास्त्रों का उनका तलस्पर्शी अध्ययन सर्व विदित है। उनका यह लेख विद्वानों को इस दिशा में चिन्तन और मनन की ओर प्रेरित करेगा इस पवित्र भावना और ध्येय से इसे हम प्रकाशित कर रहे है। समाज में इससे किसी विवाद का जन्म हो ऐसा इसका उद्देश्य कतई नही है। आशा है हमारे पाठक भी इस ही भावना से इसे पढ़ने का कष्ट करेंगे।

—सम्पादक



कुछ पंडितों का कहना है कि आदि पुराण में भगवज्जिनसेन ने पीठिकादि मंत्रो में "सौधर्माय स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "अनुचराय स्वाहा" इत्यादि सुरेन्द्र मंत्र लिखे हैं। तथा अग्निकुमारों के इन्द्र और कुबेर का भी मंत्रों में उल्लेख किया है। ऐसा कथन करके आचार्य जिनसेन ने देवगति के देवो की पूजा करने का संकेत किया है उससे शासन देवो की पूजा करना सिद्ध होता है।

नीचे हम इस लेख में इसी बात पर ऊहापोह करते है—

आशाधर जी आदि कृत प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे चक्रेश्वरी आदि २४ यक्षियों को शासन देवता और गोमुख आदि २४ यक्षों को शासन देव के नाम से लिखा है। इसके अलावा नवग्रह, दशदिग्पाल, क्षेत्रपाल, जयादि देवियें और रोहिणी आदि विद्या देवियें इत्यादि देवदेवियो की यागमण्डल मे स्थापना कर उनकी प्रतिष्ठादि ग्रन्थो मे पूजा करने का कथन आता है। उनमें से भी किसी देव देवी का नाम इन पीठिकादि मंत्रो मे नहीं है। जब कि क्रियाकाण्डी ग्रन्थों में अधिकतर इन्हीं की पूजा-आराधना लिखी है तब जिनसेन का पीठिकादिमंत्रो में उनमें से किसी एक का भी उल्लेख न करना यह बताता है कि आचार्य श्री जिनसेन उक्त देव-देवियो की पूजा आराधना करने के पक्ष मे कतई नही थे।

रही बात सुरेन्द्र मन्त्री की सो इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण में गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यंत ५३ गर्भान्वय क्रियायें कही हैं। उनमें से सब में उत्तम ७ क्रियाओं को परमस्थान बताते हुये उनका कर्त्रन्वय नाम करण किया है।

अगले तीसरे भव में तीर्थंकर होने वाला जीव जब उच्चवर्णों के शुद्ध जाति कुल में जन्म लेकर गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त होता है तब उसके सज्जाति नामक प्रथम परमस्थान माना जाता है। सज्जाति ही आत्मोन्नति का मूल आधार है। वह सज्जाति का धारी सम्यग्दृष्टि श्रावक जब इज्या, वार्ता दत्ति आदि षट्कर्मों को करता हुआ धर्म में दृढ रहता है, अन्य गृहस्थों में न पाई जाय ऐसी शुभ वृत्ति का धारी होता है और पाप रहित आजीविका करता है तथा शास्त्र ज्ञान और चरित्र में विशिष्ट होता है तब वह गृहस्थों का स्वामी गृहस्थाचार्य कहलाता है इसे ही गृहीशिता नामकी २० वीं क्रिया कहते हैं और यही सद्गृहित्व नामका दूसरा परमस्थान कहलाता है। वर्णोत्तम, महादेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इन नामों को कहकर लोग उसका सत्कार करते हैं। (आदिपुराणपर्व ३८ श्लो० १४७) उक्त सद्गृहस्थ जब वस्त्रादि परिग्रहों का त्यागकर जिन-दीक्षा धारण करता है तब उसके जिनरूपता नाम की २४ वीं क्रिया होती है। यह ही पारिव्राज्य नामक तीसरा परमस्थान कहलाता है। इस क्रिया का धारी हो आगे चलकर सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। वह मुनि समाधिमरण से प्राण त्याग कर जब स्वर्ग में उत्पन्न हो इन्द्रपदवी का धारी होता है तब उसके इन्द्रोपपाद नामकी ३३वीं क्रिया होती है और वह ही सुरेन्द्रत्व नामक चौथा परमस्थान कहलाता है। फिर वह इन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर गर्भ-जन्म-कल्याणक से युक्त तीर्थंकर हो चक्रवर्तिपद का धारी होता है तब उसके साम्राज्य नामकी ४७वीं क्रिया होती है और वही साम्राज्य नामक ५ वां परमस्थान माना जाता है। तदनंतर वे तीर्थंकर दीक्षा ले मुनि हो तप कर केवलज्ञान पा अर्हत अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनके अष्टप्रातिहार्य, बारहसभायें, समवशरण आदि विभूतियें होती हैं, इसे ही ५०वीं आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं और यही ६वां परमार्हन्त्य नामक परमस्थान माना जाता है। इस अर्हंत अवस्था के बाद जब उन तीर्थंकर को मोक्ष होती है तब वह ५३वीं अग्रनिवृत्ति नाम की क्रिया कहलाती है और यही "परनिर्वाण" नामक ७वां परमस्थान माना जाता है।

यद्यपि ये क्रियायें गर्भान्वय की ५३ क्रियाओं में ही अंतर्गत हैं तथापि जब ये क्रियायें किसी तीर्थंकर होने वाले जीव के होती हैं तब उनकी कर्त्रन्वय नाम से जुदी संज्ञा कही जाकर वे स्थान परमस्थान माने जाते हैं। जैसे गर्भ से संबंधित क्रियायें गर्भान्वय कही जाती हैं और दीक्षा से संबंधित क्रियायें दीक्षान्वय कही जाती हैं। उसी तरह किसी विशिष्ट कर्ता से (तीर्थंकर जीव से) संबंध रखने वाली क्रियायें कर्त्रन्वय कहलाती हैं। नहीं तो कर्त्रन्वय संज्ञा का अन्य क्या अर्थ हो सकता है? प्रतिनियत काल में तीर्थंकर होने वाले ऐसे जो कोई पुण्यशाली जीव हैं उन्हीं के ये कर्त्रन्वय क्रियायें होती हैं। आदिपुराण में लिखा है कि—

अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः ।
या प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१॥
पर्व ३९

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया या प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः ।
फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये ।
अर्हद्वाग्मृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम्। ६८।
पर्व ३८

अर्थ—अथानंतर हे द्विजो मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओं को कहता हूं जोकि अतिनिकट भव्यप्राणी ही के हो सकती हैं।

कर्त्रन्वय क्रियायें वे है जो पुन्य करने वालों को प्राप्त होती हैं। और जो समीचीन मार्ग की (सोलह-कारण की) आराधना करने के फलस्वरूप प्रवृत्त होती है। उनके नाम-सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, परमार्हंत्य और परं-निर्वाण। ये तीन-जगत् में ७ परमस्थान माने गये हैं। ये स्थान अर्हंत के वचनामृत मे जीवों को मिलते है। अर्थात् जिनवाणी के अभ्यास से मिलते हैं।

ये ही सात परमस्थान पीठिकादि सात जाति के मंत्रो में गर्भित हैं। वे इस तरह कि-पीठिका मंत्रो मे परंनिर्वाण स्थान, जातिमंत्रो में सज्जाति स्थान, निस्तारक मन्त्रो मे सद्गृहित्व, ऋषिमन्त्रो मे पारिव्राज्य, सुरेन्द्रमन्त्रों में सुरेन्द्रस्थान, परम-राजादिमंत्रों में साम्राज्य स्थान और परमेष्ठिमन्त्रों में परमार्हंत्य स्थान। इस प्रकार सातों जाति के मंत्रों मे सातो परमस्थान गर्भित हो रक्खे है।

इन परमस्थानो के जिस अनुक्रम मे ऊपर नाम लिखे है उसी अनुक्रम से ही वे तीर्थंकर होने वाले जीव के होते है। ऐसा आदिपुराण के निम्नपद्यो से प्रगट होता है—

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां
जातस्ततः सद्गृही।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य
यातो दिवम्॥
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान्
पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां।
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा
प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥ पर्व ३९

अर्थ—वह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जाति सज्जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है। फिर गुरू के पास से उत्कृष्ट परिव्रज्या (मुनि दीक्षा) धारण कर स्वर्ग जाता है। वहां उसे इन्द्र की संपदा मिलती है। तदनंतर वहां से च्युत होकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त होता है। फिर अर्हंत पद को पाकर समस्त महिमा का धारी होता है। और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त करता है।

इस विवेचन से साफ तौर पर यही सिद्ध होता है कि पीठिकादि सप्तविधमंत्रों मे केवल सप्त परम स्थानों का उल्लेख है वहां शासन देवो का कोई प्रसंग ही नही है। सुरेन्द्रमंत्र भी सुरेन्द्र नामक परमस्थान की वजह से समझने चाहिये, न कि शासनदेव की वजह से अथवा भाविनैगमनय की दृष्टि से तीर्थंकर पूज्यता को लेकर यह सब मंत्र कल्प समझना चाहिये। खास ध्यान देने योग्य चीज यहां यह भी है कि इन सात जाति के मंत्रों मे जो अर्हंत, सिद्ध और ऋषि वाचकमंत्र है। उनके आगे आचार्य ने केवल नमः शब्द लगाया है, स्वाहा शब्द भी नही लगाया है। और शेष मंत्रों के आगे बिना नमः शब्द के खाली स्वाहा शब्द लगाया है। इसका कारण स्पष्टतः यही मालूम होता है कि अर्हंत, ऋषि खास पूजनीय होने से उनके आगे नमः शब्द का प्रयोग किया है। और शेष परमस्थान पूजनीय नही होने से उनके आगे नमः शब्द नही लिखा है। खाली स्वाहा शब्द लिखकर आहुति देने मात्र उनका सम्मान प्रदर्शन किया है। वह भी गर्भाधान, विवाहादि सामाजिक कार्यों मे ही। और अर्हंत, सिद्ध व ऋषि वाचक मंत्रों के आगे जो स्वाहा शब्द भी नही लगाया गया है उससे आचार्य का अभिप्राय उनको वहां आहूति दिलाने का भी नही जान पड़ता है। क्योंकि दूसरों को आहूति देने के साथ उनको भी आहूति देने के लिये स्वाहा शब्द लिख देते तो पूजा की पद्धति सब की समान हो जाती। ऐसा होना आचार्य को अभीष्ट नहीं था।

इसलिये आचार्य ने अर्हन्तादिकों के आगे स्वाहा शब्द नहीं लिखा, खाली नमः शब्द लिखकर यह भाव दर्शाया है कि अर्हन्तादिक को यहां आहुति नहीं देनी चाहिये, नमस्कार करना चाहिये।

यहां आचार्य जिनसेन ने तो सुरेन्द्र परमस्थान के धारी सुरेन्द्र तक को सुरेन्द्रमन्त्रों में नमस्कार के योग्य नहीं माना है। ऐसी हालत में आशाधरादिकों का अपने-अपने प्रतिष्ठापाठादि क्रियाकांडी ग्रंथों में भवनत्रिक शासन देवों की जो किसी तरह परमस्थान के धारी भी नहीं है अर्हतादि की तरह नमः शब्द के साथ पूजा का कथन करना निश्चय ही जिनसेनाचार्य की आम्नाय से बहिर्भूत है। अतः मान्य नहीं है।

यहां ऐसा भी नहीं समझना कि-सुरेन्द्रमन्त्रों में स्वाहा शब्द से इन्द्र को आहुति देने का कथन करके ग्रंथकार ने शासन देवों की पूजा का आशय व्यक्त किया है। ग्रंथकार तो सुरेन्द्रमन्त्रों की तरह गृहस्थाचार्य के वाचक निस्तारक मन्त्रों में भी स्वाहा लिखते हैं इससे यही फलितार्थ निकलता है कि ग्रंथकार की दृष्टि स्वाहा शब्द लिखते वक्त परमस्थान की तरफ थी जिससे दोनों ही परमस्थानीय होने से दोनों ही के मन्त्रों में उन्होंने स्वाहा लिखा दिया है। "क्या कोई शासन देव भी होते हैं?" ऐसा तो उनके विचारों में भी नहीं था।

प्रश्न— अगर ऐसी ही बात थी तो पीठिकामन्त्रों में अग्निकुमारों के इन्द्र का नाम और निस्तारक मन्त्रों में कुबेर का नाम तथा सुरेन्द्रमन्त्रों में "अनुचराय स्वाहा" जिसका अर्थ होता है इन्द्र के अनुचरों को स्वाहा इत्यादि उल्लेख क्या किये है? ये तो परमस्थान भी नहीं है फिर इन सब को स्वाहा कैसे लिखा?

उत्तर—पीठिकामन्त्रों में से जिस मन्त्र में अग्निकुमारों के इन्द्र का नाम आया है वह मन्त्र यह है—सम्यग्दृष्टे २ आसन्नभव्य २ निर्वाणपूजार्ह २ अग्नीन्द्र स्वाहा।" इसमें स्वाहा के पूर्व चतुर्थी विभक्ति नहीं है जैसाकि अन्य मन्त्रों में है किन्तु संबोधन है। इसलिये अग्नीन्द्र के लिये "स्वाहा" ऐसा अर्थ तो यहां होता नहीं है। अग्निकुमारों के इन्द्र की गणना सप्त परमस्थानों में भी नहीं है इसलिये भी उसके स्वाहा नहीं लिखा जासकता है। अनेक दूसरे मन्त्रों के देखने से ऐसा विदित होता है कि कितने ही मन्त्रों में स्वाहा शब्द का प्रयोग उस मन्त्र की पूर्ति अर्थ में किया जाता है। यानी अखीर में स्वाहा लिखकर उस मन्त्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसके सिवा वहां स्वाहा का अर्थ आहुति देना या द्रव्य अर्पण करना घटित नहीं होता है। उदाहरण के लिये प्रतिष्ठापाठों में शुद्धि मन्त्र इस प्रकार लिखा मिलता है—

ॐ ह्रीं अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय २ क्ष्वीं क्ष्वीं हंसः स्वाहा।' ऐसा बोलकर जल के छींटे देवे। तथा विघ्न निवारण मन्त्र ऐसा लिखा है—

ॐ ह्रूं क्ष्रूं फट् किरिटि २ घातय ... ह्रूं फट् स्वाहा।" बोलकर सरसों फेंके। ॐ नमोऽर्हते सर्व रक्ष २ ह्रूं फट् स्वाहा।' इसे ७ बार बोलकर पुष्पाक्षत परिवारकों पर डाले। यह रक्षामन्त्र है। इसी तरह सकलीकरण विधि में 'ॐ ह्रां णमो सिद्धाणं स्वाहा" बोलकर ललाट का स्पर्श करे। इत्यादि इसी तरह से स्वाहा का प्रयोग यहां पीठिका मन्त्रों में जिनसेन ने अग्नीन्द्र के साथ किया है। इस प्रकार के मान्त्रिक प्रयोग जिनसेन ने आदि पुराण में अन्यत्र भी किये हैं। देखिये पर्व ४० के श्लो० १२२ और १२६—

"सम्यग्दृष्टे २ सर्वमातः २ वसुंधरे २ स्वाहा" बोलकर बालक का नाभिनाल पृथ्वी में गाड दे। 'जिस प्रकार सम्यक्त्व को धारण करने वाली जिनमाता सब की माता है उसी प्रकार सबकी आधारभूत होने से पृथ्वी भी सबकी माता है ऐसी

हे पृथ्वी" ऐसा इस मंत्र का भावार्थ है। सम्यग्दृष्टे यह विशेषण जिनमाता का है पृथ्वी का नहीं है। और सर्वमातः यह विशेषण दोनों ही का है।

"सम्यग्दृष्टे २ आसनभव्ये २ विश्वेश्वरि २ ऊर्जितपुन्ये २ जिनमाता २ स्वाहा।" यह मंत्र बोलकर पुत्र की माता को स्नान करावे।

सांसारिक कार्यों को करते हुये पुण्य पुरुषों के नाम का उच्चारण करके यह भावना व्यक्त करना कि उन जैसे हम भी होवें या उनका स्मरण करना ऐसी इन मंत्रों की शैली मालूम देती है।

इससे सिद्ध होता है कि-पीठिकामंत्रों मे अग्नीन्द्र 'स्वाहा' का अर्थ अग्नीन्द्र के लिये पूजाद्रव्य अर्पण करने का नहीं है। किन्तु वहां स्वाहा का प्रयोग मन्त्रपूर्ति के लिये किया गया प्रतीत होता है।

चूंकि केवलियों के निर्वाण के वक्त उनका निर्जीव शरीर अग्निकुमारों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से दग्ध हुआ करता है। इसलिये परं-निर्वाण नाम के परमस्थान के सूचक इन पीठिका मन्त्रों के साथ अग्नीद्र का उल्लेख किया गया है। इसी से मन्त्र मे उसका एक विशेषण "निर्वाणपूजार्ह लिखा है। जिसका अर्थ होता है केवलियों की निर्वाणपूजा मे काम आने योग्य।

इसी प्रकार वैश्रवण-कुबेर के लिये समझ लेना चाहिये। मन्त्र में वैश्रवण शब्द को भी अग्नीन्द्र की तरह ही सबोधनात लिखकर आगे उसके स्वाहा लिखा है। अतः यहां भी चतुर्थी विभक्ति न होने से कुबेर के लिये स्वाहा नहीं लिखा है।

तथा सुरेन्द्रमन्त्रों में एक मन्त्र "अनुचराय-स्वाहा" आता है जिसका अर्थ इन्द्र के अनुचर के लिये स्वाहा किया जाता है। ऐसा अर्थ करना गलत है। कारण मे अनुचराय पद चतुर्थी विभक्ति का एकवचन है उससे इन्द्र का एक अनुचर अर्थ प्रगट होता है। इन्द्र के एक नहीं अनेक अनुचर होते हैं अतः उक्त अर्थ स्पष्टतः असंगत है। सही अर्थ उसका ऐसा है—"भगवान् का अनुचर-सेवक जो सुरेन्द्र है उसके लिये स्वाहा।" यही अर्थ पुराणे पंडित दौलतरामजी ने वचनिका में किया है।

पुराणे पंडित श्री पन्नालालजी साहब संघी (विद्वज्जन बोधक के कर्ता) और पंडित फतहलालजी (विवाहपद्धति के रचयिता) ने तथा कई आधुनिक पंडितों ने पीठिकादि सभी मन्त्रों का अर्थ अर्हंत-सिद्ध-गुरु किया है। यहां तक कि सुरेन्द्र और निस्तारक मन्त्र जो स्वर्गेन्द्र और गृहस्थाचार्य के वाची हैं उनमें प्रयुक्त शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को भी उन्होंने अवहेलना करके उनका भी अर्थ जिनदेव में ही घटाया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया? इसके दो मुख्य कारण है। एक तो यह है कि-इन मन्त्रों मे प्रत्येक जाति के मन्त्र के अन्त में सेवा फलं षट् परमस्थानं भवतु" आदि काम्यमंत्र आता है। जिसका मतलब होता है उनकी सेवा करने का फल षट् परमस्थान की प्राप्ति चाहना। इस प्रकार की इच्छा पूर्ति जिनदेव और गुरु की आराधना से तो हो सकती है किन्तु स्वर्ग के इन्द्र और गृहस्थाचार्य की आराधना से नहीं हो सकती है वे षट् परम-स्थान आदि की प्राप्ति करा नहीं सकते हैं।

दूसरा कारण है आदि पुराण का वह वाक्य जो मन्त्रों की विवेचना किये बाद लिखा गया है कि-एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।" आधानादि क्रियाओं मे इन मन्त्रों से सिद्धों का अर्चन करना चाहिये यहां इन मन्त्रों से सिद्धार्चन करने की बात कही है। इसलिये मन्त्रों में आये "ग्रामपतये स्वाहा" "षट्कर्मणे स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "सौधर्माय स्वाहा" इत्यादि का अर्थ सिद्ध भगवान करना चाहिये।

इस प्रकार शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ करने से उप-रोक्त की आपत्तियां नहीं होती है। अतः कोई ऐसा

रास्ता ढूंढा जावे जिससे शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ ही किये जावें और उक्त आपत्तियें भी न आने पावें।

इस दिशा में ऐसा ही कुछ हम यहां लिखने का प्रयत्न करते हैं—

आदिपुराण पर्व ३८ श्लो० ७१ आदि में लिखा है कि गर्भाधान आदि क्रिया संस्कारों के करते वक्त प्रथम ही वेदी बनाकर उस पर सिद्ध या अर्हत का बिम्ब विराजमान करे। उसके सामने तीन कुंडों में तीन अग्नियों की स्थापना कर वहीं छत्रत्रय और चक्रत्रय की स्थापना किये बाद प्रथम ही सिद्धपूजा करके फिर पीठिकादि मन्त्रों से हवन करना चाहिये" यह सब विधिविधान सिद्धार्चन कहलाता है। इसमें दो बातें बताई हैं—एक तो सिद्ध भगवान की पूजा करना और दूसरी किसी क्रिया संस्कार के निमित्त मन्त्रों से हवन करना। हवन करना यहां सिद्धपूजा नहीं है। सिद्धपूजा तो हवन के पहिले ही हो चुकती है। जैसा कि आदिपुराण में लिखा है—

तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मन्त्रपूर्विका।
विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥७३
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि।
सप्तधापीठिकाजाति मन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४॥
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः
॥७५॥ पर्व ३८

अर्थ—अर्हत्पूजा कर चुकने के बाद बचे हुये पवित्र द्रव्यों से पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से उन अग्नियों में मन्त्रपूर्वक आहुति करनी चाहिये। उन क्रियाओं के मन्त्र तो यथाम्नाय आगे के पर्व में कहे जायेंगे। वे पीठिकामन्त्र जाति मन्त्र आदि के भेदों से सात प्रकार के हैं। वे मन्त्र गर्भाधानादि क्रियाओं में काम आते हैं ऐसा भगवान ने कहा है। अतः उस विषय के ज्ञाता श्रावकों को प्रमाद छोडकर उनका प्रयोग करना चाहिये।

इस कथन से यही प्रगट होता है कि—ये मन्त्र भगवान् की पूजा के नहीं हैं। ये तो गर्भाधानादि क्रियाओं के मन्त्र हैं। भगवान् की पूजा तो पहिले हो चुकती है। फिर गर्भाधानादि क्रियाओं के वास्ते उस पूजा के बचे द्रव्यों से मन्त्रों को बोलकर आहुतियें दी जाती हैं। इससे पूजा और मन्त्राहुतियें दो जुदी २ चीजें हुईं। किन्तु भगवान् की प्रतिमा के सामने उनकी पूजा पूर्वक मन्त्रों से आहुतियें दी जाने के कारण यह सारा ही विधान समुच्चय रूप में सिद्धार्चन के नाम से कहा जाता है। इसलिये एतैः सिद्धार्चनं" इन वाक्यों का अर्थ इन मन्त्रों से "सिद्धों की पूजा करे।" ऐसा नहीं करना चाहिये, किन्तु इन मन्त्रों के साथ सिद्धों की पूजा करे" ऐसा अर्थ करना चाहिये। उसका मतलब यह होगा कि—संस्कार करने वक्त दो काम करने चाहिये सिद्धों की पूजा करे और मन्त्रों से आहुतियें देवें दोनों भिन्न २ हैं। मन्त्रों से आहुतियां देना सिद्धपूजा नहीं है। आहुतियों के मन्त्र तो गर्भाधान, विवाह आदि सांसारिक क्रियाओं के काम के हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने इन्हें क्रियामन्त्र के नाम से लिखा है। यथा—

"क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ"

यही बात इन वाक्यों से भी व्यक्त की है—

"विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः"

तात्पर्य इसका यह है कि ये जैनमन्त्र हैं। इन मन्त्रों का सांसारिक क्रियाओं में उपयोग करना यह जनरीति कहलाती है। जो जिनेन्द्र की पूजा संसार और कर्मों के नाश करने के लिये व मोहादि विकारों को मिटाने के लिये की जाती है वह उद्देश्य इन मन्त्रों का नहीं है। बल्कि ये मन्त्र तो उल्टे गर्भाधान विवाहादि संसार के बढाने के काम में लिये जाते हैं। और जो ऐसे कामों में सिद्धपूजा की जाती है वह तो मार्गानिकम्प से मंगल के तौर पर की जाती है।

५३ गर्भान्वय क्रियाओं में २२वीं गृहत्याग क्रिया के बाद तो हवनादि संभव ही नही है अतः वहां तो इन मंत्रो का कोई उपयोग ही नहीं होता है। गृहत्यागक्रिया से पहिले भी गर्भाधान से लेकर पाच वीं मोद क्रिया तक की क्रियाओं में नवमी निषद्या क्रिया, १०वीं अन्नप्राशन क्रिया और १६वीं विवाहक्रिया इन क्रियाओ मे इन मत्रो का प्रयोग करने का उल्लेख आदिपुराण में किया है और ये सब क्रियाये सांसारिक है। अतः ये मन्त्र सांसारिक कार्यो के लिये है ऐसा कहे तो संभवतः इसमे कोई अत्युक्ति नही होगी। और इसीलिये इन विवाहादि क्रियाओ के अनुष्ठान जिन मंदिर मे नही होते है, गृहस्थ के घर पर होते है। जैनरीति से की जाने के कारण व्यवहार मे हम इन्हे धार्मिक क्रियायें कहते है। जैन धर्म के गौरव को रखने के लिये ऐसे काम भी बड़े आवश्यक है जिससे कि हमे लौकिक कामो मे भी अजैन ब्राह्मणो के अधीन न रहना पड़े। और संभवतः इसी ध्येय को लेकर जिनसेन ने यह क्रियाकांड लिखा है।

रही बात "सेवाफलं पट् परमस्थानं" की सो तत्वार्थराजवार्तिक अध्याय ९ सूत्र २४ मे वैय्यावृत्य नाम के तप का वर्णन करते हुये आचार्य उपाध्याय मनोज्ञ आदिकों का वैय्यावृत्य करना लिखा है। वहा मनोज्ञ का अर्थ असंयत सम्यग्दृष्टि लिखकर उनका भी वैय्यावृत्य करने को कहा है। परमस्थान के धारी सुरेन्द्र व निस्तारक की गणना भी तो वैय्यावृत्य के भेद मनोज्ञ में ही आती है। उनके मन्त्रों मे स्वाहा बोलकर उन्हे आहुतियें देना यह उनका सम्मान है सो ही उनका वैय्यावृत्य है उनकी सेवा है और वह एक तप है। उसका फल यदि कोई पट् परमस्थान की प्राप्ति होना चाहता है तो इसमे क्या असंगतता है? आयतन सेवा भी धर्म का अंग है ही। और स्वामी समंतभद्र ने भी रत्नकरंड में देव पूजा तक का समावेश वैय्यावृत्य में किया है।

इस प्रकार पीठिकादि मन्त्रो मे प्रयुक्त कतिपय शब्दों का अर्थ अगर सिद्ध भगवान् न करके उनका सहजरूप से होने वाला प्रचलित अर्थ भी किया जावे तो उससे भी शासनदेव पूजा की सिद्धि नही होती है। और तो क्या इस सारे ही प्रकरण मे शासन देवो के नाम तक भी नहीं है। सुरेन्द्र मन्त्रो में जिस प्रकार सौधर्मेन्द्र को आहुति दी गई है उसी प्रकार निस्तारक मन्त्रो मे सम्यग्दृष्टि गृहस्थाचार्य को भी आहुति दी गई है। दोनो ही परमस्थान के धारी होने के कारण उनके लिये आहुति लिखकर उनका सन्मान बढाया है। वह सन्मान भी लौकिक क्रियाओ तक ही सीमित है पारमार्थिक विधानों मे तो पंच परमेष्ठी की ही आराधना की जाती है। सप्त परमस्थानो मे भी सब का समान पद नही है इसी लिये मन्त्रों मे अर्हंत-सिद्ध गुरुओं को तो नमः लिखा गया है, स्वाहा आहुति भी नही और शेष परमस्थानो को खाली स्वाहा (आहुति मात्र) लिखा गया है। इसका यही मतलब निकलता है कि इनकोही आहुति देना, परमेष्ठियों को नहीं देना। उन्हे तो नमस्कार करना जिससे कि उनकी निम्नोन्नत पद की अभिव्यक्ति होती रहे। यह बात शब्द प्रयोगो से जानने मे आ रही है। शब्द प्रयोग यो ही नहीं किये जाते है उनमे भी कोई तथ्य समाया हुआ रहता है। जैनाचार्यो के कथन सदा उच्चादर्श को लिये रहते है उनसे हीनादर्श अभिव्यंजित करना किसी तरह योग्य नही। विद्वानो को इस ओर पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये।



भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव

"गौतम स्वामी के तत्काल पश्चात् भगवान् कुन्द कुन्दाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने आपको उनकी परम्परा का कहलाने मे गौरव का अनुभव करते हैं। उनके शास्त्र आचार्य गणधर देव के वचनो के जितने ही प्रमाणित माने जाते हैं।"



भगवान् कुदकुदाचार्य देव अपने समय के महान् आचार्य थे। इनका प्रादुर्भाव इतिहासज्ञों के अनुसार विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हुआ माना गया है। दिगम्बर जैन परम्परा मे इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

"मंगल भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी। मंगल कुन्द कुंदार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।" यह पद्य प्रत्येक दिगम्बर जैन शास्त्र पठन के शुभारम्भ में मंगलाचरण रूप मे बोला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी के पश्चात् तत्काल ही भगवान् कुदकुदाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने आपको उनकी परम्परा का कहलाने मे गौरव मानते हैं। उनके शास्त्र आचार्य गणधर देव के वचनो के जितने ही प्रमाणित माने जाते हैं। इनके बाद के आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रो का प्रमाण देते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव के पश्चात लिखे गये ग्रन्थों मे इनके शास्त्रो मे से बहुत अवतरण लिए गये हैं। इसका कारण यह है कि सत्य रूप मे भगवान कुदकुन्दाचार्य ने अपने परमागमो मे तीर्थकर देवो द्वारा प्ररूपित उत्कृष्ट सिद्धान्तो को सुरक्षित करके मोक्ष मार्ग को स्थिर किया है। इस ही लिये उनको कलिकाल

वासुदेव शास्त्री
प्राध्यापक (साहित्य)
राजकीय संस्कृत कालेज, महापुरा (जयपुर)

भजन

दो दिन का जग में मेला रे ।
सब चला चली का मेला रे ।।०।।
कोई चला गया कोई जावे ।
कोई गठड़ी बांध सिधावे ।
कोई खड़ा रहा अकेला रे ।। सब० ।।
धर पाप कपट छल माया ।
धन लाख करोड़ कमाया ।
संग चले न एक अधेला रे ।।सब०।।
सुत नार मात पितु भाई ।
कोई अन्त सहायक नाही ।
क्यों भरे पाप का ठेला रे ।।सब०।।
वह नश्वर सब संसारा ।
और भजन है इसका प्यारा ।
ब्रह्मानन्द कहे सुन चेरा रे ।।सब०।।

सर्वज्ञ कहा गया है। उनका स्थान अनेक पवित्र विशेषताओं के कारण भव्यजनों के चित्त मे परम श्रद्धा के साथ सम्मान पूर्वक अंकित है। अध्यात्म शास्त्रों के कर्ता दिगम्बर जैन आचार्यों मे श्री कुन्द कुन्दाचार्य का स्थान सर्वोपरि है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अनेक शास्त्र रचे हैं। जिनमें से कुछ ही वर्तमान मे उपलब्ध हैं। उनके समयसार प्रवचन सार, नियम सार एव पचास्तिकाय सग्रह नाम के परमागमो मे असख्य शास्त्रो का सारभरा पडा है।

श्री समयसार इस भरतक्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट परमागम माना गया है। उसमे शुद्ध नय की दृष्टि से नव तत्वों का निरूपण करके जीव का शुद्ध स्वरूप सब प्रकार से आगम, युक्ति, अनुभव और परम्परा से अति विस्तार पूर्वक समझाया है।

श्री प्रवचन सार मे उसके नाम के अनुसार जिन प्रवचन का सार सगृहीत किया गया है तथा उसे ज्ञान तत्व, ज्ञेय तत्व और चरणानुयोग के तीन अधिकारो मे विभाजित कर दिया गया है।

श्री नियम सार मे मोक्ष मार्ग का स्पष्ट सत्यार्थ निरूपण है। जिस प्रकार समय सार मे शुद्ध नय से नव तत्वों का निरूपण किया है उसी प्रकार नियम सार मे प्रमुखत शुद्धनय से जीव, अजीव, शुद्धभाव प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना प्रायश्चित समाधि भक्ति, आवश्यक, शुद्धोपयोग इत्यादि का वर्णन है।

श्री पचास्तिकाय सग्रह मे काल सहित पाच अस्तिकायो का अर्थात् छह द्रव्यो का और नव पदार्थ पूर्वक मोक्ष मार्ग का निरूपण है।

इन पवित्र शास्त्रो के रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति श्री कानजी स्वामी की अपार भक्ति है। वे कहते हैं कि श्री समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय सग्रह आदि शास्त्रो की प्रत्येक गाथा मे दिव्य ध्वनि का सन्देश है।

इनकी गहराई इतनी है कि उसे मापना असम्भव है, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के सम्बन्ध मे उल्लेख

वद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्ड कुन्द
कुन्द—प्रभा—प्रणयि कीर्ति—विभूषिताश
यश्चारु-चारण-कराम्बुज चञ्चरीक
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम् ॥
(चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थ- कुन्द पुष्प की शोभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा से दिशाए अलकृत हुई हैं जो चारणो के चारण ऋद्धि धारी महामुनियो के सुन्दर कर कमलो के भौंरे थे और जिस पावन आत्मा ने भरत क्षेत्र मे श्रुत की प्रतिष्ठा की है, व विभु कुन्द कुन्द इस धरती पर किस के द्वारा वन्दनीय नही है।

कोण्ड कुन्दो यतीन्द्र ।
रजोभि रस्पृष्ठ तमत्व मन्त ।
र्बाह्य पि सेव्य ञ्जयितु यतीश
रज पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरगुले स ॥
(विन्ध्य गिरि-शिलालेख)

अर्थ —यतीश्वर श्री कुन्द कुन्द स्वामी जी रज स्थान को पृथ्वीतल को छोडकर चार अगुल ऊपर आकाश मे चलते थे, उसने मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अतरग मे तथा बाह्य म रजसे (अपना) अत्यन्त अस्पृष्ट पना व्यक्त करते थे। अतरग मे वे रागादिक मल से और बाह्य मे धूल से अस्पृष्ट थे।

जइ पउमणदि णाहो सीमधर सामि दिव्वणाणेण
ण विवोहइ तो समणा कह सुमाग पयाणति
(दर्शन सार)

अर्थ—महा विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर (देव) श्री सीमधर स्वामी से प्राप्त दिव्य ज्ञान के धारी श्री पद्मनन्दिनाथ कुन्दकुन्दाचार्य देव ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते।

राजस्थान की कुछ पूर्व मध्य एवं मध्योत्तर युगीन जैन देवी प्रतिमाएँ

"इस प्रकार राजस्थान की वीर भूमि जैन धर्मावलम्बियों द्वारा उनके अहिंसारूपी मूलमंत्र से अभिषिक्त होते हुए भी देवी पूजा को सम्मान दिलाने में सफल हुआ। यह इस प्रदेश की परम्परा के अनुकूल रहा और प्रदेश की राष्ट्रीय एकता में इसका योग मानना अनुचित न होगा।"



डा० सत्यप्रकाश
एम० ए० पी० एच० डी०
भू० पू० प्रधान सम्पादक–'आकृति'
क्यूरेटर सालारजंग म्यूजियम, हैदराबाद, दक्षिण

सिरोही क्षेत्र के पिन्डवाडा नामक स्थान की ७ वी शताब्दि की जैन धातु-मूर्तियां राजस्थान की ही नही समस्त भारत की भारतीय कला के क्षेत्र मे अति प्राचीन अनुपम निधियां हैं। इन मूर्तियो में एक प्रतिमा सरस्वती की भी है। एक पर वि० स० ७४४ (६८७ ई०) भी अङ्कित है। यह तिथि एक लेख के साथ है। इतनी बडी धातु प्रतिमाये तिथि को स्थान देती हुई बहुत कम प्राप्त हुई हैं। प्राचीनता की दृष्टि से भी इनका निजी स्थान है। इस तिथि अङ्कित प्रतिमा की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमे शिल्पी का नाम अङ्कित है तथा उसे साक्षात् 'ब्रह्म' कहा गया है। यह गौरव उसे केवल इस कारण ही दिया गया कि वह एक अद्वितीय कलाकृति को जन्म देने मे सफल हुआ। 'शिल्पी' का नाम सं० ७४४ को स्थान देने वाली प्रतिमा मे 'शिवनाग' है और उसे साक्षात् ब्रह्मा (पितामह) सम्बोधित किया गया है (देवे साक्षात् पितामहेन विश्वरूप विधायिना शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिन द्वयम्)

राजस्थान की दूसरी अति प्राचीन प्रतिमा अम्बिका है। यह जैन अम्बिका प्रतिहार कालीन होने के कारण ८ वी शताब्दि के पूर्व की या उस समय की ही हो सकती है उसके पश्चात् की नहीं।

पटियाला मे एक स्थान गो की मानाजों का नाम है। यह कभी एक

जैन मन्दिर को स्थान देता था । इस मन्दिर के खण्डहर विद्यमान हैं। इन खण्डहरो मे एक ताक मे रखी हुई शिला पर एक २०-२१ पंक्तियो का जैन लेख अङ्कित है। यह लेख प्राकृत मे है। इस शिला पर सिंहवाहिनी देवी का तक्षण है । यह प्रतिमा ऊंचाई मे लगभग २२ इञ्च तथा चौडाई मे १३॥। इञ्च है। देवी के एक पैर के पास ही शिशु विद्यमान है तथा देवी के सिर के दोनो ओर आम की डालिया लटक रही हैं। जैन देवी का यह अङ्कन प्रतिहार युगीन होने के कारण न केवल महत्वपूर्ण ही है वरन् कला की अमूल्य अति प्राचीन निधि है।

सम्भवत यहा कभी जैन देवी अम्बिका का एक सुदर एव विशाल मन्दिर रहा होगा। सिंहवाहिनी तथा कमलासना ललितासन मे स्थान पाने वाली देवी अतीव सुन्दर प्रतिमा है। राजस्थान मे प्राचीनता की दृष्टि से मारवाड के गगाणी नामक स्थान के जैन मन्दिर से प्राप्त एक जैन धातु प्रतिमा है। वह वि० स० ६३७ की है। यह भी प्रतिहार युगीन होने के कारण तिथि की दृष्टि से महत्वपूर्ण कलानिधि है।

जालोर जिले के साचोर नामक स्थान से प्राप्त मूर्तियो मे जो जोधपुर के सग्रहालय मे सरक्षित हैं ध्यानस्थ जिन देव के केन्द्रस्थ होने पर तथा दोनो ओर स्थानक तीर्थङ्कर व उनसे भी बाहर चामरधारी व्यक्ति के स्थान पाने बाई ओर स्थानक तीर्थङ्कर के नीचे अम्बिका देवी कमलासन पर ललितासन मे प्रदर्शित है। अम्बिका के वाम जघा एक शिशु स्पष्ट दीखता है। देवी के एक हाथ मे बिजोरा फल है। यहा न सिंह का अङ्कन है और आम्रलुम्बी का।

जोधपुर सग्रहालय मे स्थान पाने वाली यह प्रतिमा वसन्तगढ से प्राप्त धातु प्रतिमाओ से कला मे साम्य रखती है यद्यपि ये प्रतिमायें एक युग की नही हैं।

मारवाड के जालोर दुर्ग से भी एक देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा भी घटियाले की अम्बिका से मिलती जुलती है तथा अतीव आकर्षक है। इसमे देवी का बाया हाथ देवी की बाई जघापर स्थित है। सव्य हस्त मे आम्रलुम्बी है देवी के नीचे सिंह है किन्तु गोद मे शिशु नही है। देवी के दोनो ओर आम्रफल एव पुष्पों का जाल इस प्रतिमा मे बहुत सुन्दर ढग से दिखलाया गया है। अम्बिका के सिर पर पुष्प मुकुट भी बडा सुन्दर है । देवी का शरीर सुडौल एव स्फूर्तिमय है।

जैन देवियो मे सच्चिका देवी का उल्लेख न करना एक बहुत बडी भूल होगी । यद्यपि ओसियां मे इस देवी का एक मन्दिर है और प्राप्त सूचना के अनुसार इस मन्दिर के अतिरिक्त इस देवी का मन्दिर अन्यत्र नही पाया जाता है ।

इस देवी की एक प्रतिमा जो रेवाडा से प्राप्त है जोधपुर सग्रहालय मे प्रदर्शित है । रेवाडा को हरमवाडा भी कभी कहा करते थे। यह जसवन्तपुरा परगना (जोधपुर क्षेत्र) मे है । अभाग्यवश यह प्रतिमा खण्डित है । इसका केवल नीचे का ही भाग शेष है । ऊपर का भाग पूर्णतया भग्न होकर पृथक् होगया है।

नीचे के भाग मे पैर के पास महिष, सिंह तथा पीठ पर लेख जो शेष रह गये हैं वे इस प्रतिमा की उत्कृष्टता पर प्रकाश डालने मे समर्थ है। झपटता हुआ सिंह अपने मुख मे महिष की दुम को पकडे हुए है। वह उसे इतने वेग से पकडे हुए है कि महिष की जीभ निकल पड रही है ।

मूर्ति पीठ पर जो लेख है वह हमे सूचित करता है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा एक महिला

द्वारा वि० सं० १२३६ मे कराई गई थी। वह एक गणिनी थी। 'गणिनी' से बोध जैन श्राविकाओं में प्रमुख से है।

इस पीठ शिला लेख का मूल इस प्रकार है—

१. सम्वत् १२३७, फाल्गुण सुदि २ मंगल वासरे

२-३ श्रीमद् केश गच्छीया सर्वदेवा महत्तरा (ओशीय) लोक विख्याता सत्यशीला

३-५-६. विनेयिका गणिनी………र्म्मला
तेनेयं कारिता सच्चिकास्ता-यसे
प्रतिष्ठित भीकक………

देवी का नाम सच्चिका देवी स्पष्टतया उल्लिखित है तथा इसकी प्रतिष्ठा ऊकेश गच्छीय (उपकेश गच्छ के) एक जैन गण मुख्या विनेयिका द्वारा की गई थी यह भी इससे ज्ञात हुआ।

महिसासुर मर्दिनी हिन्दू धर्म की हिंस देवी का जैन द्वारा प्रतिष्ठा करना तथा उसके पूजन हेतु पीठ पर आसीन कराना जैन धर्म की देवी भक्ति परम्परा पर रोचक प्रकाश डालता है।

ओसियो नामक स्थान पर स्थित सच्चिका माता के मन्दिर में चामुण्डा, शीतला तथा महिष मर्दिनी भी तक्षित है। सं० १२३४ तथा १२३६ के स्थानिक लेखो मे सचिया माता के निमित्त दान देने का भी विवरण है।

इस प्रकार से राजस्थान की वीर भूमि जैन धर्मालम्वियो द्वारा (उनके अहिंसा रूपी मूल मंत्र से अभिषिक्त होते हुए भी) देवी पूजा को सम्मान दिलाने में सफल हुआ। यह इस प्रदेश की परम्परा के अनुकूल रहा और प्रदेश की राष्ट्रीय एकता मे इसका योग मानना अनुचित न होगा।

"वादलों के समान सज्जन भी जिस वस्तु का
ग्रहण करते हैं उसका दान भी करते है।"

--कालि दास

प्रेम की चपत

गाधीजी के बारे मे उनके निकटवर्ती लोगों मे यह बात प्रसिद्ध थी कि वे जिससे जितना अधिक स्नेह करते हैं उसके उतने ही जोर का चपत जाघ पर या पीठ पर मारते थे।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ को जब यह बात पता लगी तो उन्होंने गाधीजी से कहा—"बापू' आप अपना प्रेम प्रकट करने के लिए तो कोई चपत नही मारते।'

गाधीजी बोले-"हाँ, इसलिए कि कही तुम भी उसी सिक्के का भुगतान करने लगो तो मेरा कचूमर ही निकल जायगा।"

वर्तमान में जैन समाज में और वह भी स्त्री समाज में तेला, दशलाक्षण, सुगंध दशमी आदि जो व्रत किये जाते है उनका स्वरूप ऐसा हो गया है कि साधारण स्थिति के गृहस्थ के लिये उनके उद्यापन आदि कार्य एक भयावह आर्थिक समस्या उपस्थित कर देते है। वे आत्म कल्याण के लिये जो कि उनके करने का प्रमुख उद्देश्य है, न होकर मात्र प्रदर्शन की वस्तु बन गये है। इस प्रकार के व्रत अभीष्ट फल प्राप्ति में सहायक न होकर बाधक ही हो सकते हैं। इस संबंध में विद्वान् लेखक ने जो अपने विचार प्रस्तुत किये है वे मननीय है। —सम्पादक

व्रत और बाल व्रत

वंशीधर शास्त्री
M.A.



आचार्य उमास्वामी ने व्रत की परिभाषा स्वरूप निम्न सूत्र की रचना की है—

हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। अध्याय ७ सूत्र १

हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत होना व्रत है।

व्रत दो तरह के है—

देश सर्वतोऽणुमहती, अ. ७ सू. २

उक्त पांच पापों का एक देश त्याग अणुव्रत एवं सर्व देश त्याग करना सो महाव्रत है।

सूत्रकार ने व्रतों का लक्षण बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि व्रती निशल्य होता है।' वस्तुतः निशल्य वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टि हो। मिथ्यात्व, माया एवं निदान के शल्य का अभाव सम्यग्दृष्टि के ही हो सकता है। इसका यह भी फलितार्थ होता है कि उक्त व्रत यथार्थ रूप से सम्यग्दृष्टि ही पालता है।

इन व्रतों के स्वरूप एवं महत्त्व से शास्त्रों के अनेक पृष्ठ भरे पड़े हैं। इन व्रतों के फलों की गाथा पौराणिक साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध होती है।

इन व्रतों के साथ रत्नत्रय सोलह कारण भावना, दस धर्मों आदि

की भावना एव ज्ञान प्रत्येक व्रती के लिए अनिवार्य रहे हैं किन्तु समय पाकर रत्नत्रय आदि भावनात्मक कृत्यों का उपवास का रूप द दिया गया, उनके लिए दिन भी निश्चित कर दिए गए एव उपवास ही व्रत के नाम से कहलाने लगे। श्रावकाचार ग्रन्थों यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, सागार धर्मामृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आदि मे मूलगुण, बारह व्रतो, ग्यारह प्रतिमा, सल्लेखना का वर्णन है। बारह व्रता के अन्तर्गत 'प्रोषधोपवास' का वर्णन है जिसका स्वरूप इस प्रकार है–अष्टमी और चतुर्दशी के पहले एव पीछे के दिनो म एकाशनपूर्वक अष्टमी एव चतुर्दशी को उपवास आदि करके, एकातवास म रहकर सपूर्ण सावद्य योग को छोड सब इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर धर्म ध्यान म लीन रहना सो प्रोषधोपवास है। रत्नत्रय, सोलह कारण आदि के लिए मास विशेष मे दिन निश्चित कर उन दिनो एकाशन, प्रोषधोपवास, बेला, तेला, आदि शक्ति अनुसार किए जाने का विधान किया गया फिर उसके बाद 'उद्यापन' भी किए जाने का विधान किया गया। व्रत की समाप्ति के अवसर पर किए जाने वाले कृत्य यथा हवन आदि को वैदिक परम्परा मे उद्यापन कहा जाता है। जैन परम्परा मे हवन हिंसात्मक होने के कारण विधेय नहीं रहा इस लिए व्रतसमाप्ति पर उद्यापन के रूप मे मदिरो मे उपकरण आदि देने की परम्परा रही ह।

प्रारभ मे भावनात्मक, आत्मशुद्धि कारक अवसरा पर किए जाने वाल उपवासो को ही व्रत का नाम दिया गया था। पद्मपुराण और आदि पुराण म दशलक्षण, रत्नत्रय, षोडशकारण और अष्टाह्निका व्रता का उल्लेख है। वसुनन्दि श्रावकाचार मे पचमी व्रत, रोहिणीव्रत, अश्विनी व्रत, सौख्य सम्पत्तिव्रत, नदीश्वर, पक्ति व्रत, विमान पक्ति व्रत का उल्लेख है। हरि वश पुराण मे सर्वतोभद्र, वसतभद्र महासर्वतोभद्र, रत्नावली, उत्तम-मध्यम जघन्य सिंहनिष्क्रीडित आदि महोपवासो का वर्णन किया गया ह। आराधना कथा कोश और रविषेण कथाकोश मे महत्त्वपूर्ण व्रतों यथा रत्नत्रय, सोलहकारण आदि व्रत को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियो की कथाए उपलब्ध हैं। इस प्रकार सस्कृत प्राकृत आदि के प्राचीन एव प्रामाणिक ग्रन्थो मे इस प्रकार के व्रतो या उन्हे करने वाले व्यक्तियो का उल्लेख बहुत सीमित है। किंतु जब हम भट्टारकीय युग चौदहवी से सोलहवीं शताब्दि– के साहित्य को देखते ह तो व्रतो एव उनको करने वाले व्यक्तियो की कथाओ का इतना अधिक विवरण मिलता है कि यह आश्चर्य होता है कि इतने व्रतो का आविर्भाव अचानक कहा से हो गया इन कथाओ का वर्णन भी पौराणिक साहित्य की परम्परा के अनुसार राजा श्रेणिक को कथा पर भगवान महावीर द्वारा कराया गया है। लगता है कि भट्टारकों ने अनेक व्रतो की कल्पना अपने से ही की थी, उनकी विधि एव उनके करने वालो को अद्भुत फल मोक्ष तक की प्राप्ति का उल्लेख भी इन कथाओ मे किया गया है।

उक्त पुस्तक भवन, कलकत्ता से श्रावक व्रत कथा सग्रह प्रकाशित हुई ह। पुस्तक का सपादन प श्री कस्तूर चन्द जी छाबडा विशारद ने किया है। इसमे कोई प्रस्तावना नही है अत इन कथाओ का आधार आदि का ज्ञान नही होता है। इसमे व्रतो के अतिरिक्त दान से सबधित कथाए भी दी गई ह। व्रता से सबधित कथाओ को पढने के पश्चात् निम्न परिणाम निकलते ह—

१–इनमे दशलक्षण पुष्पाञ्जलि, अनन्त चतुर्दशी, सुगध दशमी, मुक्तावली, रत्नत्रय, नन्दीश्वर, रविव्रत, षोडश कारण, श्रुतस्कध, चन्दनषष्ठी, मेघमाला, लब्धि विधान, त्रिलोकतीज, आकाश पचमी, निर्दोष सप्तमी, नि शल्य अष्टमी, द्वादशी,

मौन एकादशी, कोकिला पंचमी, गरुड पंचमी, मुकुट सप्तमी, अक्षयफल दशमी, रोहिणी तथा श्रावण द्वादशी इन २५ व्रतों से संबंधित कथाएं है।

२–इनमें ८ कथाएं पद्य में है एवं शेप १७ गद्य में है।

३–पद्यात्मक कथाओ में प्रायः श्रेणिक राजा के पूछने पर भगवान महावीर द्वारा व्रत, व्रत-फल आदि का विवरण दिया गया है।

४–२५ कथाओ में से केवल एक कथा अनुसार व्रत धारक पुरुप रहा है अन्य २४ में स्त्री या पति सहित पत्नी द्वारा व्रत धारण कर फल प्राप्ति वताई गई है।

५–इनमे से ६–१० कथाएं मुनिनिन्दा या व्रत निन्दा आदि करने वालो की है जिन्होंने ऐसा कर कुगति पाई फिर संयोग से व्रत कर अपनी स्थिति सुधारी।

६–अधिकांश कथाओ मे व्रत का फल न केवल गरीबी कुगति, व्याधि आदि का निवारण ही वताया है अपितु देव पर्याय एवं अंत में मुक्ति का भो उल्लेख किया गया है।

७–व्रत के अंत मे उद्यापन हेतु नानक उपकरण देने व मूर्ति प्रतिप्टापित करने की प्रेरणा दी गई है और जो उद्यापन न दे सके वह दुगुनी अवधि तक व्रत करे।

संभवतः अन्य व्रतो की भी इसी प्रकार की कथाएं हो। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

यह तो निर्विवाद है कि इनमे से अधिकाश व्रतों का प्रारम्भ भट्टारको द्वारा किया गया था। उन्होंने इनका प्रारम्भ क्यों किया उसका एक कारण समझ मे आता है। (सम्भव है कि कुछ भाई इस कारण से सहमत न हो।)

भट्टारको ने प्रारंभ मे संस्कृति व साहित्य की सुरक्षा के लिए अथक प्रयत्न किए थे किन्तु चूंकि वे वस्त्र धारण कर भी अपने आपको साधु मानते थे एवं साधु रूप मे ही पुजवाते थे इसलिए उन्होंने प्राचीन परम्परा के शास्त्रो पर अधिकार कर लिया और साधारण श्रावक श्राविकाओ के लिए केवल पूजा, स्तोत्र, धन दौलत दाता व दुख निवारक मंत्रों एवं व्रतो का स्वरूप वताने वाले शास्त्रो की रचना की ताकि वे उनमे उलझे रहे। उन्होने व्रतो की कथाओं मे प्रायः यह भी दिखाया कि मुनि निन्दा, या आहार दान न देने से खोटी गतियां मिलती है, उससे वीमारी एव गरीवी हो जाती है, फिर अमुक व्रत के करने से न केवल वीमारी एव गरीवी दूर होती है अपितु मोक्ष तक मिलता है। साधारण संसारी जीवो को इनसे वढ़ कर क्या चाहिए। कथाओ मे प्रायः स्त्रियां ही प्रमुख रही है। इसका भी कारण रहा। मुनि निंदा का फल दुखमय दिखाकर वे अपनी निन्दा को रोके रहे ताकि उसके दुखमय परिणाम से सब कोई डरें। दूसरा स्त्रियां सहज ही दुःख से भयभीत हो जाती है उनसे सेवा भक्ति भी जल्दी मिल जाती है अत. उनकी करुणामय भक्ति भावना को उत्तेजित करने के लिए कथाओ में मुख्य रूप से स्त्री पात्रो का चित्रण किया गया है।

कथाओ मे 'उद्यापन' हेतु सामग्री उपकरण आदि देने का विधान किया गया है। यह सामग्री मन्दिरो के लिए ही दी जाती है किन्तु पहले भट्टारक या उनके पाण्डे भी लेते रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। उन्होंने व्रत लेने या छोड़ने के लिए गुरु साक्षी भी आवश्यक बनाई थी जैसा कि व्रत तिथि निर्णय मे आचार्य सिंह नंदी ने लिखा है—

व्रतादान [illegible] गुरु साक्षिकः ।
[illegible] ॥

यो स्वय व्रतमादत्ते स्वय चापि विमुञ्चति ।
तद्व्रतं निष्फल नेय साक्ष्याभावात् वृत फल ॥

गुरु के समक्ष से ही व्रता का ग्रहण और व्रतो का त्याग करना चाहिए। गुरू की साक्षी के विना ग्रहण किए और त्यागे व्रत निष्फल होते है व्रत इन व्रता से धन धान्य, शिक्षा आदि फला की प्राप्ति नही हो सकती। जो स्वय व्रता को ग्रहण करता है और स्वयं ही व्रता को छोड देता है उसके व्रत निष्फल हा जाते ह। गुरु की साक्षी न होने से व्रता का क्या फल होगा ?

इस प्रकार के विधान के बावजूद भी लोग ऐसे तथाकथित गुरुओ के समक्ष व्रत ग्रहण-त्याग नही करने लगे इसलिए ऐसा करने वालो के लिए नरक जाने की घोषणा भी करदी गई—

क्रममुल्लध्य यो नारी नरो वा गच्छति स्वयम् ।
स एव नरक याति जिनाना गुरुलोपत ।

जा स्त्री या पुरुष क्रम का उल्लघन कर स्वय व्रत करते हैं वे जिनाका एव गुरु का लोप करने के कारण नरक जाते हैं।

सवस्त्र भट्टारकजी न नरक जाने का इसलिए विधान कर दिया है कि उद्यापन रूपी दक्षिणा प्राप्ति म कोई कमी न रह जावे। जसे वैष्णवो के तीर्थो मे क्रिया कम कराने के लिए ब्राह्मण अनिवाय समझा जाता है वसे ही जन धम म भी इन भट्टारको ने भट्टारक या अपने प्रतिनिधि स्वरूपी पाडे गुरू को अनिवाय कर दिया। इस प्रकार के व्रतो का विधि विधान भट्टारक परपरा मे विधेय रहा होगा। जनियो के प्राचीन शास्त्रा मे तो इस प्रकार का विधि विधान मिलता नहीं। मुकुट सप्तमी व्रत जसे कतिपय व्रता की ऐसी विधिया बताई गई ह जिनका किसी प्रकार समथन नहीं किया जा सकता।

धन सपदा, पुत्र सतान प्राप्ति या रोग, मारण बीमारी दूर करने के उद्देश्य से ऐसे व्रतो को करने से इनकी व्रत सज्ञा ही समाप्त हो जाती है ऐसा करने मे निदान शल्य बना रहता है। यद्यपि आज वस्त्रधारी भट्टारको की मान्यता समाप्त प्राय हो रही है, आज भी कुछ लोग इन व्रतो या नए व्रतो चक्रवाल व्रत-तथा मन्त्रा का प्रलोभन देकर श्रावक श्राविकाओ को आत्म कल्याण से विमुख रख कर ससारी वस्तुओं के प्रति आकर्षित करते रहते हैं। यह स्थिति ठीक नहीं है।

श्रावक के व्रतो मे प्रोपधोपवास का महत्व है किन्तु उसे *आत्मकल्याण की साधना का अग ही* मानकर करना आगमानुकूल होगा। उससे सासारिक *सुख की प्राप्ति का साधन* मानना शास्त्रानुकूल नही है। आज कल उपवास के दिन का कतव्य आत्मचिन्तन-मनन, शास्त्र स्वाध्याय आदि को प्राय भुला दिया जाता हे। यह भी देखा जाता है कि इस अवसर पर अपने शरीर को सजाने के लिए फूलमालाओ जैसे पदार्थों का भी उपयोग करने मे हिचकिचाहट नही रहती है।

उद्यापन के अतिरिक्त समाज के अन्य व्यक्तियो को बरतन आदि देने का रिवाज भी बढता जा रहा है। समाज की आर्थिक स्थिति देखते हुए सोच समझ कर काय करना चाहिए। उपवास समाप्ति पर दान करना चाहिए किन्तु उसका प्रदशन नही। उस दान की दिशा भी बदलनी होगी। जैन साहित्य प्रचार एव तीर्थों मदिरो की सुरक्षा, जीर्णोद्धार की ओर दान की वृत्ति करनी चाहिए।

हमे उमा स्वामी द्वारा वर्णित व्रता की साधना की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। धन, पुत्र, सपदा की आशा से किए हुए व्रतादिक 'बालतप' की सज्ञा मे आते हैं। यही कारण है कि जब किसी व्रत विशेष के करने से अभिलषित फल की प्राप्ति नही होती तो हम निराश होकर व्रत या अन्य धार्मिक कार्यों से भी आस्था खो बैठते हैं। व्रतादिक का उपयोग लोभ कषाय की पुष्टि मे करना किसी भी प्रकार विधेय नही है।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म

जैन धर्म हिन्दू धर्म अथवा किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर विशुद्ध रूपेण एक स्वतन्त्र धर्म है जिसका उद्भव काल वेदकाल से भी प्राचीन है यह बताना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

—सम्पादक



श्री कैलाश चंद्र जैन,
[illegible]

भारतीय धर्मों में जैन और हिन्दू ऐसे धर्म हैं जिनका पारस्परिक बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है और उन्होंने एक दूसरे को बहुत कुछ लिया है। उनके अनुयायी पड़ोसी की भांति रहे हैं इस नाते यद्यपि अतीत में उन्होंने एक दूसरे पर प्रहार भी किये और प्रहार सहे फिर भी एक की दूसरे पर छाप पड़े बिना नहीं रही। यहां संक्षेप में उस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म से हमारा तात्पर्य वैदिक धर्म से है जिसे सनातन धर्म भी कहते हैं। सर्वप्रथम हम उसके क्रमिक विकास का परिचय उन विद्वानों के साहित्य के आधार पर कराते हैं जो उपनिषदों को ही सब धर्मों का मूल आधार मानते हैं।

ऐतिहासिकों ने भारतीय दर्शनों का काल विभाजन इस प्रकार किया है—(१) वैदिक काल, १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० (२) पौराणिक गाथा काल—६०० ई० पू० से २०० ई० पू० एवं (३) सूत्र काल—२०० ई० के पश्चात्।

वेद हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं। इनमें ऋग्वेद,

यजुर्वेद सामवद और अथर्ववेद के भेद से चार संख्या है। इनके सम्बन्ध म पौराणिकों का कथन है कि इनका संकलन वेद व्यासजी ने यज्ञो की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए किया था। मत्रो का उच्चारण देवताओ की प्रसन्नता हेतु किया जाता है। इनका संकलन ऋग्वेद मे मधुर स्वर मे गाने का सकलन सामवद मे यज्ञानुष्ठान का सम्पादन यजुर्वेद मे तथा यज्ञ को त्रुटि से बचाने के लिये निरीक्षण के लिये मत्रो का संकलन अथर्ववेद म है।

वेदो के तीन विभाग है—मत्र ब्राह्मण और उपनिषद्। मत्रो का समुदाय ही संहिता कहलाता है ब्राह्मण मत्रो की व्याख्या करते हैं एव उपनिषदो मे दार्शनिक तत्वो का विवेचन है।

विषय की दृष्टि से वेदो का दो भागो मे विभाजन किया गया है—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड मे मन्त्रो आदि का वर्णन है और उपनिषदो का विवेचन ज्ञानकाण्ड मे आता है।

वेदो का मुख्य विषय अग्नि, इन्द्र सूर्य आदि देवताओ की स्तुति है अत हम इन्हे प्रकृति पूजक भी कह सकते है। वेदो के अनुसार जगत का सब कार्य इनही के आधार पर चलता है। जब आर्य भारत म आए तो अपने साथ स्तुति लेकर आए। इनही स्तुतियो के संग्रह से ऋग्वेद का निर्माण हुआ।

ऋग्वेद म गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दस्युओं का वर्णन मिलता है। यह इसका परिचायक है कि जब आर्य भारत मे आए तो उन्हे यहा की असभ्य और जगली कही जाने वाली जातियो का सामना करना पड़ा। अथर्ववेद मे इन दोनो के मिलकर रहने का उल्लेख मिलता है। इस समझौते के फलस्वरूप अथर्ववेद जादू टोने का ग्रथ बन जाता है। यजुर्वेद और सामवेद पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यज्ञो द्वारा ब्राह्मणो का—पुरोहितो का समाज पर अधिक प्रभाव था। ब्राह्मणो के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय वेदो को ईश्वरीय ज्ञान मान लिया गया था और वद का धर्म केवल यज्ञ ही स्वीकार किया जाने लगा था और मानव का देवताओ के साथ केवल याज्ञिक सम्बन्ध (इस हाथ दे और उस हाथ ले) रह गया था।

सर एस० राधाकृष्णन के "भारतीय दर्शन" से पता चलता है कि उपनिषद् वेदो के अनुकूल नहीं है। युक्ति का अनुसरण करने वाले उत्तरकालीन विचारक वेदो की दुमुखी मान्यता का स्वीकार करते है। एक ओर वे वदो की मौलिकता का स्वीकार करते है तो दूसरी ओर वे कहते है कि वैदिक ज्ञान सत्यदेवों के परिज्ञान से बहुत ही न्यून है और हम मुक्ति नहीं दिला सकता। नारद कहता है—म वेदो को जानता हूं जिसमे मन्त्र और शास्त्र को जानता हूं, अपने को नहीं जानता। माण्डूक्य उपनिषद् मे भी लिखा है—दो प्रकार की विद्याएं अवश्य जाननी चाहिये एक ऊंची और दूसरी नीची, नीची विद्या वह है जो वेदो मे प्राप्त होती है और उच्च विद्या वह है जो अविनाशी ब्रह्म द्वारा प्राप्त होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यो के भारत आगमन के समय उनका विरोध करने वाले आदिवासी थे। कोई भी विदेशी जाति हमेशा अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करती है लेकिन हम पाते है कि यहां उनका मिलन होगया। कुछ का मानना है कि जैन धर्म का उदय बौद्ध धर्म के आस पास या उससे कुछ पहले लेकिन उपनिषद् काल के बाद कुछ उपनिषदो के आधार पर हुआ जबकि प्राय सब ही इतिहासकार स्वीकार करते है कि २३ वें जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ ८०० ई० पू० हुए थे, वे ऐतिहासिक महापुरुष थे किन्तु वे भी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे।

सर राधाकृष्णन् अपने 'भारतीय दर्शन' में लिखते हैं —"जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म के संस्थापक श्री ऋषभदेव थे जो कि शताब्दियों पूर्व हो गये हैं। इस बात के प्रमाण हैं कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें सन्देह नहीं कि जैन धर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ से पहले भी प्रचलित था। अथर्ववेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम का निर्देश है। भगवत पुराण इसकी पुष्टि करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।"

ऐसी स्थिति में उपनिषदों की शिक्षा जैन धर्म का आधार कैसे हो सकती है। क्योंकि जिसे उपनिषद काल कहा जाता है उस काल में तो वाराणसी नगरी में भगवान् श्री पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था जो जैनों के २३ वें तीर्थंकर थे। उनके ढाई सौ वर्ष बाद भगवान महावीर हुए। महावीर से शताब्दियों पूर्व भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए अतः बड़ी सरलता से प्रमाण पूर्वक कहा जा सकता है कि जब आर्य भारत में आए तो जिस जाति से उन्हें संघर्ष करना पड़ा वह द्रविड़ जाति थी और वह जैन धर्म से प्रभावित थी। जैनों में द्रविड़ नाम से एक संघ अब भी पाया जाता है। द्रविड़ वंश का एक मात्र घर दक्षिण भारत है। आर्य पहले उत्तर भारत में आए अतः द्रविड़ों के साथ उनका सम्पर्क बहुत बाद में हुआ होगा। यही कारण है कि ऋग्वेद के पश्चात् जो यजुर्वेद संकलित किया गया तो उसमें कुछ जैन तीर्थंकरों के नाम पाये जाते हैं।

इस प्रकार जब दोनों धर्मों के मानने वालों का सम्पर्क हुआ तो स्वभावतः एक दूसरे से आपस में बहुत कुछ लिया दिया। एक समय वैदिक धर्म का बहुत जोर था। यद्यपि तब उस समय हिंसा नहीं मानी जाती थी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ-याग किए जाते थे। ऐसे समय जैन धर्म के सिद्धान्त उनके सामने आए, उन्होंने जाना कि जैन धर्म कितना महान् है। बिना किसी नीच-ऊंच के प्रत्येक व्यक्ति उसका पालन कर सकता है। बहुत से हिन्दुओं ने उसकी विशेषताओं से प्रभावित होकर जैन धर्म धारण करना प्रारम्भ कर दिया। "जैन और हिन्दुओं के बीच पारस्परिक संस्कारों का आदान प्रदान" इस विषय पर गुजरात में हिन्दू तत्व विज्ञान' इतिहास के लेखक श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता ने व्याख्यान देते हुए बताया कि जैन धर्म और हिन्दू धर्म में विचारों का काफी आदान प्रदान हुआ है। उन्होंने बताया कि सर्वप्रथम तो वे लोग जो अहिंसा के प्रति अरुचि रखते थे, हिन्दू धर्म से आस्था खो रहे थे और जैन धर्म की इस अहिंसा का इतना असर पड़ा कि उस समय कोई यह कहने वाला नहीं रहा कि यज्ञ में हिंसा करना धर्म है। यदि कोई हिन्दू वैदिक धर्म के अनुसार हिंसा को धर्म बताना चाहे तो उसे हिन्दू धर्म स्वयं ही तिरस्कारपूर्वक निकाल देगा। यह हिन्दुओं ने कहां से सीखा ? उत्तर में हम कहते हैं कि यह सब कुछ हिन्दू धर्म ने जैन धर्म से सीखा।

मेहताजी के उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में अपनाने की अद्भुत शक्ति है। उसने शीघ्र ही अहिंसा को इस तरह अपना लिया कि वह उपनिषद् का एक अंग बन गई। उपनिषदों में इस प्रकार के आचार विचार का रूप पाया जाता है उससे यह निष्कर्ष निकालना कि जैन धर्म उपनिषदों से निकला है अतः उनका विरोधी है, सर्वथा भ्रान्त है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ग्लेज़नापे ने अपने 'जैन धर्म' नामक ग्रंथ में लिखा है— प्रो० हर्टेल का कथन है कि आत्मा और मुक्ति विषयक जैन भावना उपनिषदों की भावना से जुदी प्रकार की है और वे दोनों समान नहीं हो सकतीं। उनमें जो समानता है वह केवल शाब्दिक है अतः कहा जा सकता है कि जैन धर्म स्वतन्त्र धर्म है उसके आद्य तीर्थंकर भगवान्

ऋषभदेव थे जो राम और कृष्ण से भी पहले हो गये हैं और जिन्हे हिन्दुओं ने बाद मे विष्णु का अवतार माना है। इन्ही विचारो की झलक 'उपनिषद विचारणा' के इन शब्दो मे भी है—जैनाना आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव आवगना निग्रन्था साधु हता। अमे पाछल थी टेमने हिन्दु धर्मी ओए विष्णुना अवतार माया है।"

हिन्दू धर्म और जैन धर्म के सिद्धान्तों मे बहुत अन्तर है। जैन वेदो को नही मानते, स्मृति और ब्राह्मणों को भी नही मानते जो हिन्दू धर्म के प्राणभूत ग्रंथ हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त और सारणी निश्चित और स्पष्ट है। हिन्दू धर्म मे अनेको परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं जो सब अपने को सच्चा होने का दावा करते हैं। हिन्दू ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, धर्ता और हर्ता मानते हैं जबकि जैन इस अनादि और अनन्त। हिन्दू सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा द्वारा प्रकट किया हुआ मानते हैं जबकि जैनों के अनुसार युग युग मे तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं जो अपने अनुभवों के आधार पर शाश्वत सत्य धर्म का जनता को उपदेश देते हैं। हिन्दुओं के अनुसार देवता भी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं जबकि जैनों के अनुसार मुक्ति केवल मनुष्य भव द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। हिन्दू कर्म को अदृष्ट सत्ता के रूप मे स्वीकारते हैं। जैनों के अनुसार वह सूक्ष्म पौद्गलिक तत्व है जो योग अर्थात् मन, वचन और काय की क्रिया से आकृष्ट होकर कषायों आदि के कारण जीव के साथ बंध जाते हैं। जैनों के अनुसार जीव स्वयं ही अपने अच्छे और बुरे कार्यों का फल भोगते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार मुक्त जीव वैकुण्ठ मे अनादि काल तक सुख भोगता है अथवा ब्रह्म मे लीन हो जाता है। जैनों के अनुसार मुक्त जीव लोक के अग्र भाग मे शाश्वत विराजमान रहते हैं और वे फिर कर्मो संसार मे नहीं आते। जैन धर्म मे धर्म, अधर्म द्रव्य, गुणस्थान, मार्गणा, स्याद्वाद, निक्षेप आदि ऐसे हैं जो केवल मात्र उनकी ही थाति हैं।

इन सब मत भेदों के बावजूद भी दोनों धर्मों के अनुयायियों मे सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता है और कुछ जातियां आज भी ऐसी विद्यमान हैं जिनमे दोनों ही धर्मों के मानने वाले हैं और उनमे पारस्परिक रोटी बेटी व्यवहार चालू है।



दिगम्बर खंडेलवाल जाति और उसके गोत्र

जैनों में खण्डेलवाल जाति जिसे सरावगी भी कहते हैं अपना एक प्रमुख महत्व रखती है। पौराणिक किवदन्तियों के अनुसार इस जाति की स्थापना वि. सं. १ में हुई किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से इसकी पुष्टि नही होती। इस संबंध में अभी और भी खोज की आवश्यकता है।

—सम्पादक



डा० कैलाशचन्द्र जैन
एम. ए., पी. एच. डी. लिट्.
रीडर विक्रम विश्व विद्यालय, उज्जैन

दिगम्बर खंडेलवाल जाति की उत्पत्ति खडेला से हुई है जो राजस्थान में सीकर से २८ मील की दूरी पर स्थित है। ऐसी पौराणिक मान्यता है कि अपराजित आम्नाय के किसी जैन साधु जिनसेनाचार्य ने खडेला के चौहान राजा और उनकी प्रजा को वि. सं. १ में जैनधर्मावलम्बी बनाया और खंडेलवाल जाति की स्थापना की। खडेलवाल जाति के चौरासी गोत्रो के नाम खडेला के समीप के गांवो के ८२ राजपूत सामन्तों और २ स्वर्णकारो के नाम से हुए जिन्होंने भी अपने राजा के साथ जैनधर्म को स्वीकार कर लिया। दो स्वर्णकारों से आम्नाय वज और मोहनाय वज शुरु हुए।

जैन शिला लेख और साहित्यिक प्रमाण से यह निश्चित हो जाता है कि दिगम्बर खंडेलवाल जाति की स्थापना आठवी सदी पश्चात हुई। इसके पूर्व खडेला मे भी जैनधर्म के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता। सब प्रमाण बाद के ही उपलब्ध होते है। ९९८ ई. में लिखित धर्म रत्नाकर की प्रशस्ति से पता चलता है कि उसके लेखक जयसेन ने खंडेला की यात्रा की और वहा के लोगों को अपने उपदेशो से प्रभावित किया। दसवीं शती के लेखक सिद्धसेन ने सकल तीर्थस्तोत्र मे खडेला को एक तीर्थ के रूप मे उल्लेख किया है। नरेन्द्र गच्छ की उत्पत्ति खंडेला मे ही हुई है। दसवीं शताब्दी तक यहा पर प्राचीन

जैनमंदिर और मूर्तिया भी मिला हैं। खडेलवाल जाति का सबसे पहला उल्लेख सघीजी के जैनमदिर जयपुर की ११६३ ई० की जैन प्रतिमा पर मिला है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि खडेलवाल जाति की स्थापना आठवी और बारहवी सदी के बीच मे हुई। इसी समय ही अग्रवाल, ओसवाली, बघेरवाल, श्री माली, परवाल पल्लीवाल आदि जातिया बनी। राजपूतो ने राज्य भी आठवीं सदी के बाद से शुरू किया।

चौरासी गोत्रो की एक ही समय मे उत्पत्ति गलत मालूम पडती है। चौरासी गोत्रो की सख्या रूढिगत मालूम पडती है क्योंकि आसनो के नाम भी ८४ मिलते हैं तथा साथ मे वश्य जातियो के नाम भी ८४। ऐसा प्रतीत होता है कि आरभ मे गोत्रो की सख्या कम थी किन्तु शनै शनै यह बढती गई और उनको चारासी बना दिया गया। इन गोत्रो की स्थापना एक प्रकार से नहीं हुइ किन्तु अलग अलग ढग से। कुछ गोत्रो के नाम स्थानीय है तथा अन्य उद्योग और व्यवसाय से भी बन है। उपाधिया और पद भी धीरे धीरे गोत्रो मे परिणत हो गए। अभिलेखो तथा प्रशस्तियो से पता चलता है कि गोत्रो की सख्या मे अधिक वृद्धि पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे हुई।

कासलीवाल गोत्र पाटनी गोत्र और पाटोदी गोत्र की स्थापना क्रमश कासली, पाटन और पाटोदा म हुई ह। ये ग्राम शेखावटी म खडेला के समीप ही स्थित हैं। अजमेर गोत्र का नाम अजमेर से, दोसा गोत्र दोसा स तथा टोग्या गोत्र टोक म रख जा सकते हैं। य स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भी हैं। इन स्थानीय गोत्रो के नाम हमे पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी के अभिलेखो तथा प्रशस्तियो मे बहुत मिलते ह।

कुछ गोत्रो की स्थापना व्यवसायो स भी हुई। जो वैद्य का व्यवसाय करते थे, वे वद कहलाए। पौराणिक विवरण से पता चलता है कि बज गोत्र वाले पहिले स्वर्णकार थे। सोनी गोत्र वालो का भी प्राचीन व्यवसाय यही ज्ञात होता है। जो लेन-देन का व्यवसाय करते थे, वे वोहरा कहलाते थे। इन गोत्रो के इतिहास की जानकारी पन्द्रहवी और सोलहवी सदी मे मिलती है।

पद और उपाधियो ने भी कालातर में गोत्रों का रूप धारण कर लिया। साह गोत्र की उत्पत्ति 'साह' स हुई है जो एक प्रकार मे आदर सूचक शब्द है। राज्य ने चौधरी की उपाधि उन लोगो को दी जो आय वसूल का काय करते थे। धीरे-धीरे 'चौधरी' भी गोत्र मे परिणित हो गया। छाबडा गोत्र साह बडा से बना ह। पहिले यह साबडा बोला जाता था किन्तु बाद म वह बिगडकर छाबडा हो गया। भसा गोत्र सभव है भाई + साह से बना है। जब इन लोगो की सख्या अधिक हो गई तो ये बड जात्या (बडी जात) कहलाने लगे। सेठी की उत्पत्ति श्रेष्ठि से हुई जिसका अर्थ है धनी व्यापारी। प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य मे इसका बहुत उल्लेख हुआ है।

इनके अतिरिक्त अभिलेखो तथा प्रशस्तियो से अनेक गोत्रो के बारे मे जानकारी उपलब्ध होती है। गोधा गोत्र का उल्लेख १४१३ ई० के शिलालेख म मिलता है। अन्य प्रसिद्ध गोत्र है जैसे-ठोल्या गोत्र पहाड्या गोत्र बिलाला गोत्र, गगवाल गोत्र गोदिका गोत्र पाड्या गोत्र रावका गोत्र और सोगानी गोत्र। १५८४ ई के अभिलेख से कुरकुरा गोत्र का नाम भी पाया जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि चौरासी गोत्रो की सूची मे इस गोत्र का नाम नही मिलता। अभिलेखो और प्रशस्तियो से यह भी ज्ञात होता है कि खडेलवाल जाति के लोगो का अधिक मम्बन्ध मूलसघ के आचार्यो से रहा है।

जीवन का दर्शन

मुनिश्री चंद्रप्रभसागरजी म० चित्रभानु
अनु० हीराचंद वैद

"—आत्मदर्शन दावा नही करता और यह वाजार मेँ आवाज लगा कर यह भी नहीं कहता कि मेरे वगैर तुम्हारा काम नहीं चलेगा। पर यदि तुम शोध करोगे तो तुमको अन्त मे खवर पड़ेगी कि इसके विना अपना काम चलता रहे यह संभव नहीं।"



इस ससार मे अनेक दर्शन है। हरेक यह मानता है कि वह ही मानव को सुखी कर सकता है। पहले अर्थ दर्शन अर्थात् अर्थ शास्त्र आता है जो कहता है कि जिसके पास पैसा है वही इस दुनिया मे सुखी है। पैसे से दुनिया की कोई भी वस्तु अपने मन के अनुकूल प्राप्त की जा सकती है। सत्ता भी श्रीमंताई से खरीदी जा सकती है। इसलिये सुख का साधन अर्थ ही है।

दूसरा है आयुर्वेद दर्शन यानी चिकित्सा शास्त्र आता है। वह कहता है शरीर की स्वस्थता में ही सुख है। बीमार को क्या सुख है? खाया हुआ जहा पचता नहीं हो वहां सुख कहा? दुनिया मे तन्दुरुस्ती हो तो सब ठीक है। इस तरह से चिकित्सा शास्त्र दर्शन वन जाता है और कहता है कि तुम्हारी तकलीफो को मै ही दूर करता हूँ।

इसके वाद आज जिसे राजनीति कहा जाता है, वह राज शास्त्र इस प्रकार कहता है कि लोगो को सत्ता का वरावर उपयोग करना आता नही इसलिये दुनिया मे अर्थ की और दूसरी अन्य उपाधियां खड़ी होती है। पर जो वरावर शासन करना आता होवे तथा राज्य संचालन वरावर आता हो और लोगों को वरावर व्यवहार रखना आता होवे तो यह सारे दुःख दूर हो जावे और शान्ति का प्रसार हो जावे। इस प्रकार राजनीति अपने को सब बतलाते

का प्रयत्न करती है कि जगत मे यदि कोई दर्शन बन सकता है तो दूसरा कोई नही पर मैं ही बन सकता हू यही सही है।

इसी प्रकार काम शास्त्र यह कहता है कि दुनिया मे जितने अधिक मे अधिक भोग भोग सके उतना ही मानव सुखी है ? अर्थ, शरीर, और राज्य ये सब आखिर तो भोग के सुन्दर प्रसाधनो का पूरा पटकने के मात्र साधन है ? सुख तो उपभोग मे है। इस प्रकार काम भी एक दर्शन बन बैठा है। अर्थ, वैद्यक, राज्य और काम ये सब सम्प्रदाय स्वय को दर्शन बनाने का तत्पर हुये है।

यहा ज्ञानी अपने को बताते है कि ससार मे ये सारे दर्शन मानव जाति के दु खो के निवारण हेतु आ तो गये है पर ये सब कितने पगु है कि एक वस्तु के मिलने के साथ दूसरी वस्तु का तुरत अभाव दिखाई देता है तो उस वस्तु को कौन पूरी कर सके इनको इसकी भी समझ नही है।

पैसा मिलने पर यदि मनुष्य का जीवन सुख शातिमय हो जावे तो आज दुनिया के बडे बडे उद्योग पति जा मदिर मे जा जाकर लम्बे हो होकर नमस्कार करते है और नये नये मदिर बधान है यह बधवाते नही। कारण कि ये लोग तो आज करोडपति है, धन से पूर्ण समृद्ध है, इनको मदिर बधवाने की क्या जरूरत है ? ये मदिर बधवाते है प्रार्थना करते है यह बताता है कि इनके जीवन मे अब भी कोई ऐसी वस्तु की कमी है जो इनको खटकती है उसकी कमी महसूस होती है इसलिये अर्थ शास्त्र भी पूर्ण सुख शाति प्रदान करने मे समर्थ नही।

इसी प्रकार राज्य चलाने वाला का पाच पाच वर्ष तक सत्ता का सम्पूर्ण अधिकार दिया जावे और कहा जावे कि कानून कायदो के हुक्म से तुम जो भी करना चाहो करके सुख लावो। पर यह सब करते हुये भी ये प्रजा के ऊपर निष्फलता का आरोप लगाकर जिम्मेवारी से निकलना चाहते है तब अपने को ऐसा लगता है कि वास्तव मे राज्य शास्त्र भी दर्शन बनने के योग्य और उचित नही है।

भोग शास्त्र, जिसके लिये कहने मे आता है कि इन्द्रियो को तृप्त करो, भोग भोगो। पर इनकी भी मर्यादा है। तुम को चाय बहुत पसद हो इसलिये तुम्हे एक कप चाय मिले तो तुमको आनन्द आवे फिर दो कप आवे, फिर पाच कप आवे, फिर दस कप आवे, कोई कहे कि तुम पीये जावो और सामने वाला कहे कि जितने कप तुम पीने जावो उतनी गीनी मैं देता जाऊँ। तुम मे बहोत शक्ति हो तो तुम पन्द्रह बीस कप पी जावो, फिर तो एक मर्यादा (Limit) आकर खडी हो जाती है फिर कहे कि अब दो गीनी देऊँ तो कदाच गीनी के लोभ मे एक कप अधिक पी जावो, फिर को कहे कि अब एक कप की तीन गीनी देऊँ, इस तरह तुम कितनी पीने वाले हो ? जो यह मनुष्य वहा मर्यादा न रखे तो वमन होवे, बीमार पडे और स्मशान यात्रा भी हो जावे ? गीनिया जैसी की तैसी रह जावे।

तो दुनिया की ये सब वस्तुए अपने को बता जाती है कि ससार मे यह वैदक शास्त्र कहो, अर्थ शास्त्र कहो कि फिर राज्य शास्त्र कहो ये चाहे जितने शक्तिशाली होवे तो भी ये मर्यादित सुख ही दे सकते है। पूर्ण शास्वत नही।

पर जैन शासन बतलाता है कि अमर्यादित सुख देने वाला, शास्वत सुख देने वाला जगत मे कोई है तो यह आत्म दर्शन है।

आत्मदर्शन दावा नही करता और यह बाजार मे आवाज लगाकर यह भी नही कहता कि मेरे बगैर तुम्हारा काम नही चलेगा। पर यदि तुम जो शोध करोगे तो तुम को अन्त मे खबर पडेगी कि इसके बिना अपना काम चलता रहे यह सम्भव नहीं ? यह बोलता नही और इसलिये धर्म की भाषा मौन की भाषा है और यह मौन मे ही सब

कुछ कहता है और मौन में ही इसका अनुभव होता है।

अतः धर्म की सारी क्रियायें शान्ति प्रधान, योग प्रधान, संयमप्रधान, समाधि प्रधान और मौन प्रधान है। धर्म क्रियाओ मे ये पांच वस्तुये जितनी आती जावे, उतनी ही तुम में गम्भीरता आवे और आत्म दर्शन का तुम में अनुभव होने लगे।

आत्म दर्शन-आत्म शास्त्र यह शान्ति प्रधान है। अपने जो इस मार्ग पर चलेगें वहा अन्दर से प्रेरणा मिलेगी शात और धीर बनो? तुम्हारा जो है वो तुमको कब दिखाई देगा कब जब तुम शांत और धीर बन जावोगे तब नं० १ शात और बनाने का जो कोई कहता होवे वह एक ही दर्शन कहता है और वह ही आत्मदर्शन है शान्त और धीर बन जावोगे इसका कारण क्या? कि जब तक तुम में शांति और धीरता नहीं आवेगी स्वयं की वस्तु तुम्हे प्राप्त नही होगी। जब तक चंचलता है तब तक अस्थिरता है और इस स्थिति में कोई भी वस्तु दिखाई देवे नही।

तुम नदी मे नहाने गये हो और नहाते नहाते तुम्हारी हीरे की अंगूठी हाथ मे से सरक कर गिर जावे, पानी का प्रवाह जो वहता होवे तो इस पानी के प्रवाह में तले मे पडी हुई वस्तु तुमको दिखाई देगी नही। पर यही पानी जो शात होवे, तरंग बिना का होवे, स्थिर होवे, तो तले में पडी हुई वस्तु दिखाई पड़ जाती है।

ज्ञानियो ने अपने को बताया कि अन्दर सुख है, पर यह जीव समझता नही, ठहरता नही और भाग दौड किया करता है और भागने दौडने मे तो सारा जीवन ही पूरा हो जाता।

ऐसा कोई मनुष्य तुम बतला सकते हो? जो बहुत जानकारी वाला हो, बहुत पहिचान वाला हो, जिसके बहुत से दोस्त होवे, बहुत से मनुष्यों की सूची उसके पास होवे और सारी जिन्दगी तक लोगो को राजी करता गया होवे और अन्त मे आत्मा स्वयं के जीवन का काम पूरा करके गया हो?

ज्ञानियो ने कहा है कि भौतिक वस्तुओ मे किसी के भी जीवन का काम पूरा होने वाला नही है। तुमको यह विचार आवेगा कि इस वर्ष मे निवृत होऊंगा, जिस वक्त निवृत होने का तुम विचार करोगे उसी वक्त प्रवृति का प्रारम्भ होगा। पर लोग अज्ञान है और इस विचार के पीछे क्या है इसका भी उन्हें ख्याल नही। इसलिये ये लोग अमुक तरह की कल्पनाये करते है हमको इतना रुपया मिल जावे तो सुखी हो जावें। एक लड़का होवे तो सुखी हो जावें, विवाह हो जावे तो सुखी हो जावें। अगर अमुक कार्य इस प्रकार बन जावे तो सुखी हो जावे पर पूर्ण सुख इस प्रकार मिलता नही है। ये अतृप्ति मनुष्य को खेंचती खेंचती भांवा के जाल की तरह खेंचती जाती है।

तुमने भी इस तरह विचार करते-करते इतने वर्ष निकाले है न? कि अब सुख आता है। ये वर्ष बीतेगा अगला वर्ष आवेगा, अगला वर्ष जावेगा तब ......?

डूबता सूरज

आगा खाँ महल मे एक दिन शाम को गाँधीजी, सरदार पटेल और महादेव भाई आपस मे वातचीत कर रहे थे। उसी समय सूर्यास्त का वडा सुन्दर और अद्भुत दृश्य दिखाई पडा। उसे देखकर गाँधीजी बोले—"जरा देखो तो सही किनना सुन्दर दृश्य है।"

वल्लभ भाई वोले—"इस डूबते हुए सूरज को क्या देखते हो ? पूजन तो सदा उगते सूरज का करना चाहिए।"

गाँधीजी वोले—"हाँ हाँ, कल सुबह वही सूरज फिर नहा धोकर आ खडा होगा, तव हम उसकी भी पूजन करेंगे।"



चक्की पीसें, बात करें

बात तबकी है जिन दिनो विनोबा जी गाधी जी के पास उनके आश्रम मे ही रहते थे। गाधीजी, महादेव भाई और विनोबा जी तीनो बड़ी प्रसन्नता से आटा पीसने व अनाज साफ करने का काम किया करते थे। जब तीनो रसोईघर में बैठकर अनाज साफ करने या चक्की चलाने मे व्यस्त होते तो वडा प्रेरणादायक दृश्य होता।

एक बार गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान और शिक्षा शास्त्री श्री आनन्दशकर आपू भाई ध्रुव गाधी जी से मिलने गये। गाँधीजी उस वक्त चक्की पर बैठे अनाज पीस रहे थे। गाधी जी उन्हे देखकर बोले—"आइये पधारिए।" फिर पलभर को चक्की रोककर उनको बोले—"आपको कोई आपत्ति न हो तो आप भी पीसने बैठ जाईये। हम अनाज पीसते-पीसते ही बात करेंगे।"

विविध

तृतीय खंड

इस अङ्क मे :—

जैन साहित्य के महावीर प्रसाद द्विवेदी : ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद

"साहित्य के भीष्म पितामह, लेखकों के पथ प्रदर्शक, कवियों के निर्माता, सम्पादकों की ढाल, कलम के सिपाही पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शरीर जलकर क्षार हो गए, चिता की लपटे शात हो गई। राख का ढेर शेष रह गया और रह गई साहित्य और इतिहास के पृष्ठों पर अङ्कित उनकी अमर सेवाएं।"



डॉ० पवनकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०

ब्रह्मचारीजी की साहित्यिक तथा राजनैतिक सेवाओं की ज्ञान पिपासा लेकर जब मैं ग्रन्थो के पन्ने उलटने लगा, द्विवेदीजी का व्यक्तित्व उसमे से झांकने लगा। जैन साहित्य तथा हिन्दी की उलझी कडिया सुलझाने का प्रयत्न विद्वानो द्वारा होता रहा है ऐसा ही एक प्रयत्न सन् १९६४ मे श्री अगरचन्द नाहटा ने किया। उन्होंने 'आचार्य और जैनाचार्य' निबन्ध में समकालीन आचार्य विजय धर्म सूरि और आचार्य द्विवेदीजी का तुलनात्मक अध्ययन किया। प्रस्तुत निबन्ध मे ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और आचार्य द्विवेदी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। स्वतन्त्रता आदोलन तथा साहित्य हमारे अध्ययन की सीमा है प्रसगवश अन्य पक्षों पर भी यत्र तत्र विचार किया गया है।

अग्रेजी साहित्य मे जो स्थान डा० जानसन और हिन्दी मे द्विवेदीजी का है वही स्थान जैन साहित्य में ब्रह्मचारीजी का है। ब्रह्मचारीजी का जन्म द्विवेदीजी के जन्म के ९ वर्ष पश्चात् हुआ। अर्थात् १८७९ मे ब्रह्मचारीजी और १८७० मे द्विवेदीजी ने जन्म लिया। द्विवेदीजी यदि अपने जीवन काल मे एक गुरुकुल थे तो ब्रह्मचारीजी एक मिशन।

ब्रह्मचारीजी ने विधवा विवाह की समस्या को उठाकर एक क्रान्तिकारी कार्य किया। इसके लिए उन्हें समाज से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी। द्विवेदीजी ने

विधवा विवाह के पक्ष मे थे। उन्होने गाव की कई निर्धन लडकियो के विवाह मे सहायता की तथा विधवाग्रो का पालन किया, उन्हे वृत्तिया दी।

स्वावलम्बन तथा स्वाध्याय दोना ही विद्वानो के गुण थे। ब्रह्मचारीजी की सार्वजनिक सेवा के अनेक रूप थे उनमे सस्था सचालन, पत्र सम्पादन, धर्म प्रचार, पुस्तक लेखन और पतितोद्धार मुख्य थे। इनमे से ऐसा एक भी कार्य नही जिसे उन्होने अपने जीवन भर न निभाया हो।

सस्था सचालन का रूप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्' के रूप मे द्रष्टव्य है। इस सस्था के वे मुख्य आधार थे। इस सस्था का आज जो रूप है वह ब्रह्मचारीजी के त्याग, लगन और सच्चे परिश्रम का फल है। द्विवेदीजी ने नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रगति मे जो महत्वपूर्ण योगदान दिया उसे हिन्दी ससार कभी भूल नही सकेगा।

द्विवेदीजी के हृदय म जैन साधु महात्माग्रो के लिए सम्मान और साहित्य के लिए टीस थी जो उनके शब्दो से ही स्पष्ट है

'जैन धर्मावलम्बियो के सैकडा साधु महात्मा और सैकडा, नही हजारा विद्वाना ने ग्रन्थ रचना की है। उनकी इस रचना का बहुत कुछ अश इस समय अप्राप्त है। कुछ तो अराजकता के कारण नष्ट हो गया, कुछ काल वली खा गया, कुछ कृमि कीटको के पेट मे चला गया तथा जो कुछ बच रहा है उसे भी थोडा न समझना चाहिए। अब भी जन मदिरो मे प्राचीन पुस्तको के अनकानेक भडार विद्यमान हैं। उनमे अनन्त ग्रन्थ रत्न अपने उद्धार की राह देख रहे ह। ये ग्रथ केवल जैन धम स ही सम्बध नही रखते। इनमे तत्व चिता, काव्य, नाटक, छद, अलंकार, कथा कहानी और इतिहास आदि से भी सम्बध रखने वाले ग्रथ हैं जिनके उद्धार से जैनेतर जनो की भी ज्ञान वृद्धि और मनोरजन हो सकता है। 'भारतवर्ष मे जन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुग्रो, मुनियो और आचार्यों मे से अनेक जनो ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रथ रचना और ग्रथ सग्रह मे खच कर दिया है। इनमे से कितने ही विद्वान बरसात के चार महीने तो बहुधा केवल ग्रन्थ लेखन मे ही बिताते रहे हैं। यह इनकी इसी सत्प्रकृति का फल है जो बीकानेर, जैसलमेर, और पाटन आदि स्थानो मे हस्तलिखित पुस्तको के गाडियो बस्ते अब भी सुरक्षित पाए जाते हैं।

शिक्षा "

ब्रह्मचारीजी ने १८ वर्ष की आयु मे मैट्रिक्यू लेशन की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे तथा ४ वर्ष बाद रूडकी इन्जीनियरिंग कालेज से एकाउन्टेन्ट शिप की परीक्षा पास की। इन पक्तियो को पढते ही मेरा शोध प्रेम जागृत हो गया। परिस्थितिया भी अनुकूल थी ब्रह्मचारीजी की शिक्षा के सबध मे अधिक जान कारी प्राप्त करने के लिए मैं रूडकी इन्जीनियरिंग कालेज, अब रूडकी विश्वविद्यालय के रिकार्ड रूम जा पहुँचा। दो दिन के परिश्रम के बाद मुझे १६०१ का रिकार्ड मिल गया। १६०१ मे ही ब्रह्मचारीजी ने रूडकी से परीक्षा पास की थी।

इस सबध मे म सिविल इन्जीनियरिंग विभाग के अध्यक्ष डा० ओ० पी० जैन साहब से भी मिला। उन्होने मुझे बताया कि जब म बरेली मे पढता था तब श्री ज्ञानचन्द जैन, प्रसिद्ध समाज सुधारक ने मुझे बताया था कि ब्रह्मचारीजी ने कुछ दिन रूडकी म एम० ई० एस० विभाग मे भी काम किया था।

इस खोज के उपरात म ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ब्रह्मचारीजी ने रूडकी इन्जीनियरिंग कालेज से एकाउन्टण्टशिप की परीक्षा नही Lower Sudordinate Class की परीक्षा पास की थी। जिसम इन्हे ६१ प्रतिशत अक प्राप्त हुए। इस परीक्षा मे

Accounts के अतिरिक्त Elementary Mathematics, Mechanics आदि विषयों की भी परीक्षा होती थी। ब्रह्मचारीजी को किस विषय में कितने अङ्क प्राप्त हुए निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

तालिका[२] न० १ :

1—Elementary Mathematics	320 मे से	106
2—Mechanics	50 —	16
3—Applied Mechanics	80 —	26
4—Natural Science	30 —	10
5—Drawing	350 —	116
6—Surveying	350 —	116
7—Estimating	150 —	150
8—Accounts	50 —	16
9—Languages	150 —	50
10—Materials and Construction	150 —	50
11—Practical Engg.	100 —	33
12—Workshops	50 —	16
13—Process Work	20 —	6
14—Physique	120 —	40
Grand Total :	1970 —	1204

इस तालिका को देखने से निम्नलिखित तथ्यों का उद्घाटन होता है :

१—ब्रह्मचारीजी के जीवन मे कितनी विविधता थी। वर्कशाप में कार्य करने वाले विद्यार्थी आगे चल कर कलम का सिपाही बना।

२—रुड़की कालेज में ब्रह्मचारीजी की फीस माफ थी क्योंकि कलेण्डर मे दी गई तालिका मे उन विद्यार्थियो के नाम के बाद एक तारा अंकित है जो फीस दिया करते थे। किंतु शीतलप्रसाद जी के नाम के साथ तारा अंकित नही है।

३—ब्रह्मचारीजी को स्वार्थिक अंक ११६ क्रमशः Drawing और Surveying में प्राप्त हुए और सबसे कम अंक Process Work मे प्राप्त हुए।

द्विवेदीजी को शिक्षा प्राप्त करने की अनुकूल परिस्थिति नही मिली। यह तथ्य उनके शब्दो मे ही स्पष्ट है—अपने गांव के देहाती मदरसे में थोडी सी उर्दू और घर थोड़ी सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष की उम्र मे मैं छब्वीस मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने गया। आटा दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाये पका करके पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था।[3]

नौकरी :

ब्रह्मचारीजी तथा द्विवेदीजी दोनों ने ही रेलवे मे नौकरी की। दोनों ही विद्वानों ने जीवन में वक्त की पाबन्दी को महत्वपूर्ण स्थान दिया। जब द्विवेदी जी ने तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे मे काम प्रारम्भ किया। उन्हें ५० रु० महीना मिलता था। ब्रह्मचारीजी तथा द्विवेदीजी से उनके अफसर बहुत खुश थे। द्विवेदीजी को एक बार के अतिरिक्त कभी भी दरख्वास्त नही देनी पड़ी। ब्रह्मचारीजी के अफसर उन्हें तरक्की देना चाहते थे। ७० रु० से १२० रु० तनख्वाह करना चाहते थे। किन्तु आत्मीयों की मृत्यु ने उन्हें भिन्न मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया और उन्होंने १८ अगस्त सन् १९०५

मे नौकरी मे त्याग पत्र दे दिया। बाद मे इस्तीफा वापस लेने के लिए द्विवेदीजी के समान इशारे ही नही सिफारिशें तक की गइ। किंतु धर्म और साहित्य की पुकार की वे उपेक्षा न कर सके। द्विवेदीजी भी अपने माध्यम मे औरो पर अन्याय होता न देख सके और त्याग पत्र दे दिया।

स्वतन्त्रता आन्दोलन

ब्र० जी मे समाज धर्म आत्मधर्म तो था ही किन्तु राष्ट्रधर्म भी था। राजनीति क्षेत्र मे उनके विचार कांग्रेस के पक्ष मे थे। ब्र० जी ने एक बार अपने भाषण मे कहा था —

आज हम पराधीनता मे प्रजा की प्रगति नही कर सकते। विदेशी शासन पद्धति आडे आती है। न हम व्यापार बढा सकते है, न अविद्या ही दूर कर सकते है न शिक्षा ही उपयोगी बना सकते है और न शिल्प का ही गम्भीर प्रचार कर सकते है। इस पराधीनता को दूर करने के लिये यदि हम सब भारतवासी मिलकर एक भाव से प्रयत्न करे तो हम अवश्य सफलता पा सकते है। सब भाइयों को एक सूत्र मे बधकर, हम हिन्दू है या मुसलमान, इसे भूल जाना चाहिये और जर्मनी, जापान अमरीका, आदि स्वतन्त्र देशो के इतिहास से हमे स्वतन्त्रता के सबक को सीखकर मुस्तैदी के साथ इस मार्ग पर डट रहना चाहिये। यदि हम दृढ पुरुषार्थ करें तो भारत की अवश्य कायापलट हो सकती है। [3] (अ) ५ दिसम्बर १६४० के जैन मित्र मे आपने लिखा था—

'भारत की दशा दया जनक है देशसेवा धर्म है कठिन व्रत है। यह एक ऐसा यज्ञ है जिसमे अपने को होम देना होता है। जन समाज के लिये उन्होने लिखा था कि अपने को भारतीय समझो, कांग्रेस का साथ दो।

ब्र० जी देश को जल्द से जल्द स्वतन्त्र देखना चाहते थे। उन्होने अपने भाषणों तथा लेखो द्वारा जन जन मे स्वतन्त्रता की चेतना जागृत की। वे चाहते थे कि विद्यार्थी इस क्षेत्र मे सक्रिय भाग लें, बडे होकर राष्ट्र की सेवा करे। जैन समाज को भी उन्होने इस क्षेत्र मे काम करने के लिये प्रेरित किया। सन् २० मे नागपुर कांग्रेस अधिवेशन मे उन्होने कांग्रेस मे जैन समाज का प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिये स्वागताध्यक्ष को एक पत्र भी लिखा था। उनके धार्मिक भाषणों मे भी राष्ट्रीयता का रग उसी प्रकार झलकता था जैसे पके अगूरो मे रस।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रसिद्ध सेठी अर्जुन लाल जी की नजरबन्दी ब्र० जी को असहनीय थी। उन्होने इसका विरोध ही नही किया एक आन्दोलन खडा कर दिया। उसका स्वय नेतृत्व किया। हजारो हस्ताक्षर कराकर मेमोरियल भेजे। आर्थिक सहायता के लिये जन समाज को ललकारा वकीलो बैरिस्टरो को तैयार किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन के इस वीर सेनानी के साथ खादी चिरसगिनी के समान रही।

उनकी सब यात्रा पर भी खद्दर के तिरगे झडे उनके स्वदेशी वेश की रागिनी गा रहे थे।" (अ)

द्विवेदी जी के हृदय मे भी परतन्त्रता की बेडिया शूल के समान चुभ रही थी। वे भी देश को जल्द से जल्द स्वतन्त्र देखना चाहते थे। द्विवेदी जी की राष्ट्रभावना श्री प्रयाग दत्त शुक्ल के शब्दो मे स्पष्ट है—

देश का आदर्शवाद की आवश्यकता थी और उसी के सहारे वह गुलामी से मुक्त होने का स्वप्न देख रहा था। इसी कारण सन् १६०४ मे नौकरी छोड द्विवेदी जी ने सरस्वती की बागडोर सभाली। हमारे आदर्शवाद का काशी कांग्रेस से ही (१६०५)

आरम्भ होता है और उसमे द्विवेदी जी सम्मिलित हुये थे। द्विवेदी जी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य थे और उसके अध्यक्ष पादरी ग्रीप्स ने कांग्रेस के प्रसंग पर साफ कह दिया था कि "अंग्रेजी अक्षर ही हिन्दुस्तान के देश भर के सार्वजनिक राष्ट्रीय अक्षर होंगे।" यह सुनते ही द्विवेदी जी तिलमिला उठे थे। [४]

हिन्दी सेवा

जनता स्वतन्त्रता के लिये जाग गयी थी। विदेशी सरकार बन्दूक की नोक से स्वतन्त्रता की भावनाओ को कुचल देना चाहती थी, स्वतन्त्रता के साथ साथ स्वतन्त्र भारत की होने वाली राष्ट्र भाषा का प्रश्न भी नेताओ के सामने था। [५]

अपने सार्वजनिक जीवन के उषाकाल मे ही दक्षिण अफ्रीका मे प्रवास के समय गान्धी जी ने राष्ट्र भाषा की समस्या पर विचार कर लिया था और हिन्दुस्तान लौटते ही उन्होंने अपना मत प्रकट करना आरम्भ किया। सबसे पहले गुजरात शिक्षा परिषद् भरोंच के अवसर पर बोलते हुये उन्होंने हिन्दी के महत्व का उल्लेख किया। [६]

यदि लार्ड मेकोले की भाषा नीति ने अंग्रेजी को राज्य का काम चलाने के लिये अंग्रेजी पढे लिखे, भारतीयो का निर्माण किया तो ब्र०जी ने अंग्रेजी पढे लिखो मे धर्म की भावना फूकी उन्हे धर्म मार्ग पर लगाया। इस कार्य को करने के लिये उन्होंने हिन्दी माध्यम अपनाया। किन्तु आवश्यकतानुसार अंग्रेजी का भी प्रयोग किया। ब्र०जी यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि अंग्रेजी का विष भारत की नस नस मे फैल गया है। उन्होंने जहर को जहर से मारने की नीति अपनाई और इस कार्य का मूल्यांकन करते हुये श्री जिनेश्वर दास माथुर ने लिखा है—वे अंग्रेजी के शत्रु थे। अंग्रेजी पढी जैन जनता को जैन धर्म के सस्कारो से सस्कृत करने मे जो अलौकिक कार्य उन्होंने किया है वह उपकार कभी नही भुलाया जा सकता। [७] (अ)

क्राइस्ट ने कहा अहिंसा जनता ने उसे फासी पर चढा दिया। गाधी ने कहा हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आपस मे भाई भाई। लोगो ने उसे गोली से उडा दिया। कैनेडी ने कहा रंग भेद अन्याय है उसे भी चिर निन्द्रा से सुला दिया गया। ब्र०जी ने जैन समाज मे एक आवाज उठाई, शास्त्रों का प्रकाशन होना चाहिये। जैन समाज की भौंहे टेडी हो गयी। उनकी उपेक्षा की गयी, इतना ही नहीं उनका अपमान किया गया। किन्तु वे अपने मार्ग पर डटे रहे। ब्र०जी बनी बनायी लीक पर चलने वाले प्राणी नही थे। उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया और उस पर दूसरो को भी चलाया।

ब्र०जी ने देवनागरी लिपि मे लिखित ग्रन्थों का प्रकाशन कर जैन साहित्य के क्षेत्र मे हिन्दी की जो सेवा की उसका उदाहरण जैन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्र०जी अधिकतर हिन्दी ही बोला करते थे किन्तु जब कोई अंग्रेजीदा उनके अंग्रेजी ज्ञान की परीक्षा लेने का प्रयत्न करता तो वे अंग्रेजी भी बोलते थे। हिन्दी पुस्तके लिखने मे उन्हे विशेष आत्मिक शान्ति मिलती थी। हिन्दी ट्रैक्ट आदि लिखने मे वे सर्दव तत्पर रहते थे।

द्विवेदी जी तो हिन्दी साहित्य के उस विशाल वट वृक्ष की छाया थे जिसमे बैठकर कितने लेखक कवि और राष्ट्र भक्तो ने हिन्दी भाषा को उज्ज्वल किया है। आप राष्ट्रभाषा परिष्कारक, युग निर्माता के रूप मे प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण जीवन हिन्दी के लिये अर्पण करते रहे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद तक पहुँचाने के लिये उनके मन की एक एक धड़कन काम आ गई। हिन्दी की वेदी पर

जी के हटाने का प्रस्ताव सामने आया। कुछ लोग हटाने के पक्ष मे थे तो कुछ उन्हे रखने के। ब्र० जी ने उनकी धार्मिक नीति की प्रशसा कर उनकी रक्षा की। ब्र० जी जानते थे कि कौन व्यक्ति सम्पादन कार्य के लिये उपयुक्त है, उन्होने बैरिस्टर चम्पत राय जी का सहायक सम्पादक बनने के पक्ष म मत दिया था। जब कि पण्डितदल उनके विपक्ष मे था। प० नाथूराम प्रेमी श्री माणिकचन्द्र जन ग्रन्थ माला का सम्पादन कर रहे थे। जैन गजट म विरोधी प्रचार के कारण उन्होने त्यागपत्र दे दिया। इस पर ब्र० जी ने जैन मित्र मे मार्मिक टिप्पणी लिखकर एक ओर स्थिति को काबू म किया और दूसरी ओर प्रेमी जी को आत्मिक बल प्रदान किया।

परिषद् के रुडकी अधिवेशन के अवसर पर "वीर' की आर्थिक समस्या सामने आयी। 'वीर- का प्रकाशन बन्द करने की बात सुनकर ब्र० जी तडफ उठे उन्होने कहा—वीर अवश्य निकल, चाहे निकले एक ही पेज का चन्दे मे सबसे पहले १ रु० म लिखाता हू। आप और करें। कमी न रहेगी। तो इसके लिये मै समाज मे भीख मागकर लाऊँगा।[६] (अ) इस प्रकार ब्र० जी ने टाल बनकर सम्पादकों और समाचार पत्रो की रक्षा की।

भाषा शैली—

ब्र० जी का अग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, सस्कृत, फारसी, पाली, अपभ्रश, प्राकृत, मागधी, कनडी, गुजराती तथा मराठी पर समान अधिकार था। ब्र० जी ने अपने ही कठोर परिश्रम से सस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। विदेशियो अथवा देशी अग्रेजी को उनके प्रश्नो के उत्तर देने के लिये धारा प्रवाह अग्रेजी बोलते थे। सस्कृत मे उन्हे विशेष प्रेम था। एक बार शोलापुर मे एक फड जैन सस्कृत ग्रन्थो के पढने वाले छात्रो के लिये स्थापित किया गया था। किन्तु बाद मे उसमे स कुछ छात्र वृत्तिया अग्रेजी के लिये दिये जाने की योजना होने लगी। ब्र० जी ने जैन मित्र के माध्यम से इसका विरोध किया और उसे उस का दुरुपयोग कहा।

गहन से गहन विषयो का सरल सुगम भाषा म व्यक्त करने की कला म ब्र० जी सिद्धहस्त थे। शब्द शक्ति के व पारखी थे। भाव पूर्ण शब्दो का प्रयोग कर विषय को प्रभावशाली बना देते थे। भाषण का सा कौतूहल उनकी भाषा का विशिष्ट गुण ८। भाषण म भी व सीधी सादी ग्रहकार शून्य किन्तु सजीव भाषा का प्रयोग करते थे। उन्होने रचनाओं की साहित्यिकता के रग म रगने का प्रयत्न कभी नही किया जो भाव जिस रूप मे उनके मन म आया उसे उसी रूप म व्यक्त कर दिया।

उनकी लेखन कला प्रचार प्रधान रही है। वे इस दृष्टि से अपने लेखो को नही लिखते थे जिसम शब्दालकार हो, अलकार तो उनके लेखो म स्वय आ गये है। ब्र० जी को अलकारो के प्रति कोई मोह नही था।

द्विवेदी जी की भाषा विषयक मान्यता मन की तरग पर आश्रित न होकर निश्चित सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित थी। व भाषा को अभिव्यक्ति का साधन ही मानते थे साध्य नहीं। उनकी निभ्रान्त धारणा थी कि यदि हिन्दी मे व्यवहृत अन्य भाषाओ के शब्दो स विचार व्यजना म अपेक्षित सहायता मिलती है तो उन्हे अवश्य ग्रहण करना चाहिये। °

अपनी भाषा सम्बन्धी नीति स्पष्ट करते हुये द्विवदी जी ने स्वय लिखा है।

सशोधन द्वारा लेखो की भाषा अधिक सख्यक पाठको की समझ मे आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द

या वाक्य लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अलग्न होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नही की।[11] एक बार उन्हे एक पी०एच०डी० महोदय का लेख प्राप्त हुआ। जिसके साथ उन्होने लिखा था कि इसमें उर्दू शब्द एक भी न आये। द्विवेदी जी ने लेख बिना पढे ही वापस कर दिया था।

ब्र० जी के समान द्विवेदी जी के सम्बन्ध में भी यह भ्रान्ति रही है कि उनको अंग्रेजी का ज्ञान नहीं। किन्तु अंग्रेजी पर भी हिन्दी के समान ही उनका अधिकार था। पाश्चात्य विद्वानो से उनका सम्बन्ध रहा है। उनके समय में सरस्वती मे विदेशी विद्वानो का परिचय और संस्कृत में उनके योगदान सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित होती रहती थी।

द्विवेदी जी की भाषा शैली ब्र० जी की तरह ही स्वाभाविक तथा सजीव है। जब तक संसार में हिन्दी और जैन साहित्य का लेशमात्र भी अस्तित्व रहेगा तब तक दोनों विद्वानो का नाम अमर रहेगा।

कलम के सिपाही:—

ब्र० जी रात्रि में लिखा करते थे। रोग ग्रस्त होने पर भी उन्होंने लिखना नहीं छोड़ा। अतः दिन प्रतिदिन कमजोर होते चले गये। प्रो. हीरालाल ने लिखा है कि मैं जब भी उनसे मिलने गया, उन्हें कुछ लिखते पढ़ते ही पाया। रेलगाड़ी तक में एक मिनट भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। वहां भी उनकी लेखनी चलती ही रहती थी। अन्त में रोग ने जब उन्हें मृत्यु के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। स्वयं लिखना कठिन हो गया। तब भी लेखनी उनके हाथ नहीं छूटी। अन्य निमित्त द्वारा चलता ही रहा। जीवन के अन्तो मे अन्त समय तक उनके कर से नहीं लेखनी छूटी। निज कर्तव्य निभाते उनकी जीवन डोरी टूटी।

जिस प्रकार युद्ध भूमि मे, सिपाही के शरीर में रक्त की एक भी बूंद और बन्दूक मे एक भी गोली शेष रहती है उसकी बन्दूक गोलियां उगलती ही रहती है। इसी प्रकार अन्त समय तक ब्र० जी की बन्दूक रूपी लेखनी शब्द उगलती रही। उन्हे अपने साहित्य के प्रशसकों की तलाश नही थी। यदि लिखते समय कोई उनकी प्रशंसा कर देता था तो उनके लिये लिखना कठिन हो जाता था।

आत्म प्रशंसा से दूर कलम के सिपाही ब्र०जी जैसा जैन साहित्य मे अन्य दूसरा कोई नही।

द्विवेदी जी ने भी अपने जीवन काल से इतना अधिक लिखा है कि उनके समकालीन साहित्य का अवगाहन करने वाले जिज्ञासुओं को यह जानकर अचरज होता है कि अपने क्रियाशील जीवन के सीमित वर्षो मे द्विवेदी जी इतना कैसे लिख पाये। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गिने चुने साहित्य-कारों को छोडकर लेखनी की ऐसी कर्मठता का उदाहरण कदाचित् ही मिले।[12]

ब्र० जी को मरते दम तक साहित्य और समाज की चिन्ता रही। मरने से पूर्व उन्होंने श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया सम्पादक जैन मित्र को एक पत्र लिखा। मेरा सब साहित्य विषयक सामान आप सम्हाल लें व उसकी उचित व्यवस्था करना क्योंकि मेरे जीवन का मुझे भरोसा नहीं है। अन्त मे १० फरवरी सन् १९४२ को प्रातः ४ बजे पूज्य ब्र० जी के प्राण पखेरू नश्वर शरीर रूपी पिजडा त्यागकर उड़ गए।

वे समाज के लिये आज तो जागृति के वरदान।
न्यौछावर कर डाले अपने साहित्य पर प्राण॥

द्विवेदी जी अपने अन्त समय में नाम शेष सा गये थे। उन्हें जलोदर रोग हो गया था।

सिविल सजन डा० जैन ने ४ दिसम्बर को उनको पेट से पानी निकाला भी किन्तु वे समय की गति को पकड नही सके और २१ दिसम्बर १९३८ को हिन्दी साहित्य का यह उज्ज्वल दीप सदा के लिये बुझ गया।

साहित्य के भीष्म पितामह, लेखकों के पथ प्रदर्शक, कवियो के निर्माता, पत्रकारो मे महान् पत्रकार के शरीर जलकर क्षार हो गये। चिता की लपटें शान्त हो गई। राख का ढेर शेष रह गया। किन्तु उनकी सेवाओ को क्या जैन और हिन्दी साहित्य कभी भूल सकेगा।



१—द्विवेदी स्मृति अक अगस्त १९६४ केन्द्राय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार पृ० १९५

२—तालिका न० १ Thomason Civil Engineering College के १९०१ के Calendar मे दिये गये Detail and abstract Results के आधार पर वनाई गई है द्रष्टव्य १८ १९

३—भापा मेरी जीवन रेखा—पृ १२

(अ) 'वीर' का ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद विशेषाक, १९४४-पृ० ६९

४—भापा आचाय को प्रणाम—पृ० २९—३०

५—रुडकी विश्वविद्यालय न्यूज बुलेटिन के गाधी विशेपाक मे प्रकाशित लेखक का लेख, गाधी जी की हिन्दी सेवा पृ० १०

६—भारतीय नेताओ की हिन्दी सेवा। शोध प्रबन्ध। डा० ज्ञानवती दरबार रन्जन प्रकाश नई दिल्ली १९६१ पृ० १८६। राष्ट्र भापा हिन्दुस्तानी पृ० ३ से ८ तक।

(अ) 'वीर' १९४४ पृ० ८

७—भापा-आचाय द्विवेदी का व्यक्तित्व पृ० ४८

(अ) वीर १९४४-पृ० ८४

(ब) वीर १९४४ पृ० ९६

८—भापा—कतव्य निष्ठ द्विवेदी जी पृ० ३८

९—भापा—आचाय द्विवेदी का व्यक्तित्व विनोद शकर व्यास पृ० ४८

(अ) वीर १८४४ पृ० ३७

१०—भापा—सुधारक आचाय द्विवेदी सुरेन्द्रनाथ सिंह पृ० १०९

११—भापा—मेरी जीवन रेखा पृ० १६

१२—सम्पादकीय से।

आप भी पंचांग देखना सीख सकते हैं !

> "हमें जीवन में पग पग पर पंचांग धारी ज्योतिषियों की आवश्यकता होती है। लड़का हो तो, विवाह हो तो, यात्रा करनो हो तो अथवा अन्य किसी कार्य का मुहूर्त देखना हो तो ज्योतिषी के पास जाना होता है और वह १ मिनट मे पंचांग उलट कर जवाब दे देता है। अगर हम भी पचांग देखना सीखलें तो हमारी ऐसी छोटी छोटी मुश्किलें तो हल हो ही सकती है।
>
> —सम्पादक



वैद्य प्रकाश चन्द्र 'पांड्या'
आयुर्वेदाचार्य
भोपाल गंज, भीलवाड़ा

"आप कोट-पेन्ट पहिनते है फिर आपके पास पंचांग औरजन्म-पत्र का कार्य कैसा ? पडित भी आप नहीं और जाति से ब्राह्मण भी नहीं ! आखिर, ब्राह्मणों की इस विद्या को आपने क्योंकर ग्रहण किया ?' आये दिन मेरे से ऐसे प्रश्न अपने प्रेमी बंधुओ के होते ही रहते हैं और प्रायः मैं उन्हें संतुष्ट भी करता रहता हूं।

इस समय जैन-समाज में ज्योतिष के विद्वान् बहुत ही कम है और दिन-प्रतिदिन समाज मे लोगों की रुचि इस ओर बहुत ही कम होती जा रही है जिसमे आधुनिक युग का शिक्षित-वर्ग तो बिल्कुल भी इस संबंध में जानकारी नही रखता और न वह कुछ जानने का प्रयत्न ही करता है। वह तिलकधारी पंडितों और ब्राह्मणों तक के लिए ही इस विद्या को सीमित समझता है। लेकिन, इतिहास उठाकर देखा जाय और जैन भंडारों से उपलब्ध ज्योतिष एवं अन्य साहित्य द्वारा सही मापदण्ड किया जाय तो इस विज्ञान को जितना जैनाचार्यों ने अथक् परिश्रम, अन्वेषण और असीम साधना द्वारा जिस प्रकार से चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया, उतना शायद अन्य आचार्यों ने नहीं !

दुःख है कि धीरे-धीरे समाज से यह विद्या अब लोप होती जा रही है। यहां तक कि किसी युवक को यह कहा जाये कि अमुक 'पंचांग' को

सिविल सर्जन डा० जैन ने ४ दिसम्बर को उनको पेट से पानी निकाला भी किन्तु वे समय की गति को पकड़ नहीं सके और २१ दिसम्बर १९३८ को हिन्दी साहित्य का यह उज्ज्वल दीप सदा के लिये बुझ गया।

साहित्य के भीष्म पितामह, लेखकों के पथ प्रदर्शक, कवियों के निर्माता, पत्रकारों में महान् पत्रकार के शरीर जलकर क्षार हो गये। चिता की लपटें शान्त हो गईं। राख का ढेर शेष रह गया। किन्तु उनकी सेवाओं को क्या जैन और हिन्दी साहित्य कभी भूल सकेगा।



१—द्विवेदी स्मृति ग्रन्थ अगस्त १९६४ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार पृ० १९५

२—तालिका न० १ Thomason Civil Engineering College के १९०१ के Calendar में दिये गये Detail and abstract Results के आधार पर बनाई गई है द्रष्टव्य १८ १९

३—भाषा मेरी जीवन रेखा—पृ १२

(अ) 'वीर' का ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद विशेषांक १९४४-पृ० ६९

४—भाषा आचार्य को प्रणाम—पृ० २९–३०

५—रुड़की विश्वविद्यालय न्यूज बुलेटिन के गांधी विशेषांक में प्रकाशित लेखक का लेख, गांधी जी की हिन्दी सेवा पृ० १०

६—भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा। शोध प्रबन्ध। डा० ज्ञानवती दरबार रञ्जन प्रकाश नई दिल्ली १९६१ पृ० १८६। राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी पृ० ३ से ८ तक।

(अ) 'वीर' १९४४ पृ० ८

७—भाषा-आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व पृ० ४८

(अ) वीर १९४४-पृ० ८४

(ब) वीर १९४४ पृ० ९६

८—भाषा—वक्तव्य निष्ठ द्विवेदी जी पृ० ३८

९—भाषा—आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व विनोद शंकर व्यास पृ० ४८

(अ) वीर १८४४ पृ० ३७

१०—भाषा—सुधारक आचार्य द्विवेदी सुरेन्द्रनाथ सिंह पृ० १०९

११—भाषा—मेरी जीवन रेखा पृ० १६

१२—सम्पादकीय से।

आप भी पंचाग देखना सीख सकते हैं !

> "हमें जीवन में पग पग पर पंचांग धारी ज्योतिषियों की आवश्यकता होती है। लड़का हो तो, विवाह हो तो, यात्रा करनी हो तो अथवा अन्य किसी कार्य का मुहुर्त देखना हो तो ज्योतिषी के पास जाना होता है और वह १ मिनट में पंचांग उलट कर जवाब दे देता है। अगर हम भी पचांग देखना सीखलें तो हमारी ऐसी छोटी छोटी मुश्किलें तो हल हो ही सकती हैं।
>
> —सम्पादक



वैद्य प्रकाश चन्द्र 'पांड्या'
आयुर्वेदाचार्य
भोपाल गंज, भीलवाड़ा

'आप कोट-पेन्ट पहिनते हैं फिर आपके पास पंचांग औरजन्म-पत्र का कार्य कैसा ? पंडित भी आप नही और जाति से ब्राह्मण भी नही ! आखिर, ब्राह्मणों की इस विद्या को आपने क्योंकर ग्रहण किया ?' आये दिन मेरे से ऐसे प्रश्न अपने प्रेमी बंधुओ के होते ही रहते हैं और प्रायः मैं उन्हे संतुष्ट भी करता रहता हूं।

इस समय जैन-समाज में ज्योतिष के विद्वान् बहुत ही कम हैं और दिन-प्रतिदिन समाज में लोगो की रुचि इस ओर बहुत ही कम होती जा रही है जिसमे आधुनिक युग का शिक्षित-वर्ग तो बिल्कुल भी इस संबंध मे जानकारी नहीं रखता और न वह कुछ जानने का प्रयत्न ही करता है। वह तिलकधारी पंडितो और ब्राह्मणों तक के लिए ही इस विद्या को सीमित समझता है। लेकिन, इतिहास उठाकर देखा जाय और जैन भंडारो मे उपलब्ध ज्योतिष एवं अन्य साहित्य द्वारा सही मापदण्ड किया जाय तो इस विज्ञान को जितना जैनाचार्यों ने अथक् परिश्रम, अन्वेषण और असीम साधना द्वारा जिस प्रकार से चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया, उतना शायद अन्य आचार्यों ने नहीं !

दुःख है कि धीरे-धीरे समाज से यह विद्या अब लोप होती जा रही है। यहां तक कि किसी युवक को यह कहा जावे कि अमुक 'पंचाग' को

देखकर कृपया आज की तिथिया दिनाक तो बता दे ? तो उसका उत्तर 'ना' मे ही होगा।

अत युवा वग को 'पचांग' के सबध में थोडी बहुत जानकारी हो सके, इस दृष्टि को लेकर यह लेख पाठकों के लिए प्रस्तुत है।

ज्योतिष- सबधि प्रत्येक ज्ञातव्य गणना, फला देश, तिथि, वार नक्षत्र, योग कारण आदि की जानकारी के लिए मूल आधार पचाग ही होता है। उसी से सही तिथि, वार, ज्योतिष-सबधि सपूर्ण गणना एव फलादेश निकालने में सरलता होती है। इसलिए—

'तिथि वार च नक्षत्र, योग कारण मेव च'

अर्थात् जिससे तिथि, वार, नक्षत्र, योग कारण इन पाच वस्तुओ का ज्ञान हो अथवा जिसमे इन पाचो विषयो का समावेश हो, उसे 'पचाग कहते हैं।

इस समय देश मे विभिन प्रदेश एव शहर से करीब ६०० विविध पचाग प्रकाशित होते हैं। इन पचागो की गणना भिन्न भिन्न सिद्धाता जसे सूय सिद्धात, केतकी, ग्रह लाघव, मकरन्द, ब्रह्म सिद्धात, आय सिद्धात, राम विनोदिनी आदि से होती है। ये सब पचाग अपने अपने सिद्धात की गणना के अनुसार बनते हैं और प्राय ठीक होत हैं।

कभी-कभी क्षेत्रीय-समय मे अतर हो जाने के कारण पचागो म भी अतर आ जाता है। एक बार एक पचाग म भरणी नक्षत्र रात्रि के ११ बज कर ७ मिनिट तक था और दूसरे पचाग मे साय काल ६ बजकर ५१ मिनट तक था। उस दिन यदि किसी का जन्म ६-५१ साय से रात्रि के ११-७ के बीच हुआ तो उसके जन्म नक्षत्र मे बडा अतर आयेगा। एक से भरणी होगा और दूसरे से कृतिका। इससे सपूर्ण जीवन के फलादेश म ही अतर आ जावेगा। अत जहा तक हो 'पचाग' अपने निकटतम क्षेत्र विशेष से प्रकाशित पचाग ही लेना चाहिए। यदि दूसरा पचाग लिया जाय तो उसमे अपने अपने शहर का समय शुद्ध बनाने का तरीका होता है, उसमे समय शुद्ध बना लेना चाहिए।

तो अब आइये और पचाग देखना सीखिए। इसके लिए 'श्री विश्व विजय 'सवत् २०२७ (सन् १९७०-७१) राज प्रकाशन पुरानी मडी अजमेर से प्रकाशित को अपने पास ले लीजिए। यह पचाग श्रेष्ठ पचागो मे गिना जाता है। इसमें प्राचीन घडी-पल के साथ भारत में सब स्थान पर प्रचलित घटे-मिनट का समय भी साथ मे दिया होता है।

सबसे पहिले पृष्ठ २३ निकालिए। यहा से ही प्रत्येक माह का तिथि, वार आदि का विवरण आरभ होता है। इसमे कुल २९ खाने हैं। इनको क्रमश नीचे देखकर समझने का प्रयत्न कीजिए—

(१-प्रथम खाने मे)—'रा० मि० लिखा हुआ है अर्थात् 'राष्ट्रीय मिति' यानि इस खाने के नीचे जो अक होंगे-वही उस दिन की 'राष्ट्रीय मिति' होगी। सवत् २०२७ चैत्र शुक्ला १ को '१७ राष्ट्रीय मिति है।

(२ खाने मे)—'तिथि' लिखा है अर्थात् यह तिथि का खाना है। उसके नीचे '१' से प्रतिपदा आदि क्रमश नीचे समझना चाहिए।

(३ खाने मे)—'वार' लिखा है। अर्थात् उसके नीचे 'मगल' आदि क्रमश वार होंगे।

(४-५ खाने मे)—'घटी-पल' लिखा है अर्थात् उसके नीचे '३ घटी ३० पल' तक प्रतिपदा रहेगी।

(६-७ खाने मे)—घटा मिनिट अर्थात् ७ घटा १२ मिनट तक प्रतिपदा है। यह रेलवे की घडी के अनुसार दिया गया है। इसमे शून्य से ६ घटे तक घण्टे अध रात्रि के बाद अर्थात् रात्रि के बारह बजने के बाद प्रात ६ बजे तक समझना चाहिए। १२

तक मध्याह्न बारह बजे तक और बारह के उपरांत १२-१ से २३-५९ या २४ घटे तक दोपहर बारह बजे से अर्ध रात्रि के १२ वजे तक समझना चाहिए।

पंचाग में कई जगह २४ घटे के बाद २५-२६ आदि ३० घंटे तक गत वर्ष से लगाये गये हैं। वहां इस प्रकार समझना चाहिए कि २५ घंटे को रात्रि के १२ बजे के बाद १ बजे अगली अंग्रेजी तारीख मे समझे। जैसे चैत्र शुक्ला ३ बुधवार दिनांक ८ अप्रेल को ५६ घ० पल, स्टै० टा० २८।५५ लिखा है। इसका अर्थ यह है कि तृतीया तिथि बुधवार को अर्ध रात्रि के उपरात ४ बजकर ५५ मिनट तक रहेगी। अंग्रेजी तारीख के हिसाब से तारीख ९ अप्रेल गुरुवार को ४ घण्टे ५५ मिनट होगा।

(८-खाने मे)—'नक्षत्र' अर्थात् प्रतिपदा(एकम्) को 'अश्विनी' नक्षत्र है।

(९-१० खाने में)—'घटी-पल' अर्थात् नक्षत्र की ३७ घटी ४५ पल है।

(११-१२ खाने मे)—'घंटा-मिनिट' अर्थात् नक्षत्र के २१ घंटा १४ मिनिट है।

(१३- खाने मे)—'योग' अर्थात् प्रतिपदा को उस दिन 'वैर' योग है।

(१४-१५ खाने मे)—'घटी-पल' अर्थात् योग की ८ घटी १५ पल है।

(१६ खाने मे)— 'करण' अर्थात् प्रतिपदा को 'बव' करण है।

(१७-१८ खाने में)—'घटी-पल' अर्थात् करण की ३ घटी ३० पल है।

(१९-२० खानें में) —'दिन-मान' के नीचे घटी पल लिखा हुआ है अर्थात् इन खानें के नीचे जो घटी पल होंगे वे दिन-मान के घटी पल होंगे। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को ३१ घटी १३ पल है।

(२१-२२ खाने में)—'सूर्योदय' के नीचे 'घंटा मिनट' लिखा हुआ है अर्थात् प्रतिपदा को सूर्य का उदय प्रातः ६ बजकर ८ मिनट पर होता है।

(२३-२४ खाने मे)—'सूर्यास्त' के नीचे 'घन्टा मिनट' लिखा है अर्थात् प्रतिपदा को १८ घटे (सायं-६ बजे) ३७ मिनट पर सूर्य अस्त होता है।

(२५ खाने मे)—'हि' अर्थात् हिन्दू तारीख चैत्र की २५ है।

(२६ खाने मे)—'मु०' अर्थात् मुसलमानी तारीख मुहर्र० २९ है।

(२७ खाने में)—'अं' अर्थात् अंग्रेजी तारीख अप्रैल ७ है।

(२८ खाने मे)—'चद्र-संचार' अर्थात् चंद्रमा मेप राशि ० घटी ० मिनिट तक प्रतिपदा को रहेगा।

(२९ खाने मे)–इस खाने मे पर्व, व्रत, त्यौहार आदि का उल्लेख रहता है।

इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि इन २९ खानो मे किन किन बातो का उल्लेख होता है।

पंचांग में पृ० २१ से २३ तक पूरे वर्ष के प्रतिदिन के 'दैनिक-स्पष्ट ग्रह' दिये हुए हैं। इन स्पष्ट ग्रहों से प्रत्येक स्थान के तात्कालिक स्पष्ट ग्रह भी जाने जा सकते हैं। इस प्रकार यह आसानी से ज्ञात हो जाता है कि कौन ग्रह किस राशि पर किस अंश पर आज है।

इस पचांग में पूरे वर्ष का देश विदेश की राज-नीति के संबंध में तथा नाम-राशि आदि का वर्ष फल, संवत् २०२७ के विवाहादि मुहूर्त, दैनिक लग्न सारिणी, नवांश, विविध अन्य मुहूर्त, अक्षांश देशांतर सारिणी आदि बहुत सी बातें हैं, जो पढ़ने पर सरलता से समझ में आ सकती है।

सबके लिए कुर्ता

गांधीजी एक बार मेरठ गये, तब उनसे एक बच्चे ने पूछा—"बापू, आप कुर्ता क्यो नही पहनते ?" गांधीजी ने कहा—"बेटा, मेरे पास कुर्ता है ही नही मैं कहां से पहनूं ? क्या तुम्हारी मां मेरे लिए कुर्ता सी देगी ?"

बच्चे ने उत्साहित होकर कहा—"हां क्यो नही ?" गांधीजी ने कहा—'लेकिन बेटा, मेरा कुर्ता सिर्फ अपने लिए नही चाहता। यदि तुम्हारी मां देश मे जितने भी आदमी बिना कुर्ते के हैं उन सबके लिए कुर्ता दे सके तो मैं भी कुर्ता अवश्य पहनूंगा।"

सन्त विनोद

संकलनकर्ता :
कपूरचंद पाटनी
एडवोकेट

भिखारी

एक फकीर बादशाह अकबर के पास आया। देखा कि नमाज के बाद बादशाह दुआ मांग रहा है–"या खुदा ! मुझ पर रहम कर। मेरा खजाना भरा रहे……।" फकीर यह सुनकर चल पड़ा। तभी बादशाह की दुआ खत्म हुई, उसने लौटते फकीर को बुलाया और आकर यूँ ही चल देने की वजह पूछी। फकीर बोला—

मैं तुझसे कुछ माँगने आया था। मगर देखता हूं कि तू किसी से मांगता है। जिससे तू मांगता है उसी से मैं भी माग लूँगा। तुझ भिखारी से क्या लूँ ?

क्रोध

एक साधुजी किसी भंगी से छू गए। चिल्लाये 'अन्धा हो गया है, देखकर नहीं चलता; अब मुझे फिर से स्नान करना पड़ेगा।' भंगी हाथ जोड़कर बोला—'महाराज ! स्नान तो मुझे करना पड़ेगा।'

'तुझे क्यों स्नान करना पड़ेगा ?'

'सबसे अपवित्र चांडाल क्रोध है। उसने आपके अन्दर घुसकर मुझे छू दिया है। इसलिए मुझे नहा कर पवित्र होना पड़ेगा।'

साधुजी शर्म से पानी-पानी हो गये।

दोष-दर्शन

गाँधीजी के किसी आश्रमवासी से कभी कोई दुराचार हो गया। किसी दूसरे ने इसकी शिकायत गुमनाम पत्र लिखकर गाँधीजी से की।

उस दिन प्रार्थना पत्र के बाद गाँधीजी गम्भीर होकर बोले—"एक तो ऐसे विषय में गुमनाम खत लिखना गलत है। दोयम, किसी के पाप की ओर अंगुली उठाते वक्त याद रखना चाहिए कि बाकी की तीन अंगुलियाँ अपने दिल की तरफ होती है।"

निन्दा

शेखसादी अपने पिताजी के साथ मक्का जा रहे थे। काफिले का नियम था—आधी रात को उठकर प्रार्थना करना। एक दिन आधी रात को सादी ने प्रार्थना के बाद दूसरे लोगों को सोते देख अपने पिता से कहा—"देखिए; ये लोग कितने आलसी हैं न उठते हैं न प्रार्थना करते हैं।"

पिता ने कड़े शब्दों में कहा—"अरे सादी ! बेटा ! तू भी न उठता तो अच्छा होता जल्दी उठकर दूसरों की निन्दा करने से तो न उठना ही ठीक था।"

अभेद

शुकदेव ब्रह्मज्ञान सीखने के लिए जनक के पास गये। जनक बोले—"गुरुदक्षिणा पहले दे दो।

ब्रह्मज्ञान करने के वाद तुम गुरुदक्षिणा नही दोगे, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी गुरु और शिष्य मे भेद नही देखता।"

शिक्षण

किसी ने लुक्मान से पूछा—'आपने तमीज किस से सीखी ?' उसने जवाब दिया—"वदतमीजो से क्योंकि मैंने उन लोगो मे जो कुछ बुरी बात देखी उससे परहेज किया अक्लमन्द खेल मे भी शिक्षा प्राप्त कर लेता है। बेवकूफ हिकमत की सौ बात सुन लेने पर भी खेल और बेवकूफी ही सीखता है।"

याद

किसी बादशाह ने महात्मा से पूछा—'क्या आपको कभी मेरी भी याद आती है ? उसने जवाब दिया, "हाँ जब मै ईश्वर को भूल जाता हू"

पापी कौन ?

एक बार आदमी के शरीर और आत्मा मे बहस छिड गयी। शरीर तमक कर बोला—"म तो जड हू—मिट्टी का पिण्ड मोह पदा करने वाली चीजो को देख भी नही सकता। फिर भला मं पाप कैसे कर सकता हू ?"

आत्मा कैसे चुप रहती ? बोली मेरे पास पाप करने के साधन ही नही हैं मं पाप कैसे कर सकती हूँ ? इन्द्रियो के बिना ही कोई काम हो सकता है क्या ?"

भगवान ने सुना तो मुस्कुरा कर बोला—'सच मुच तुम दोनो ही जिम्मेवार हो। शरीर के क्या पर जब आत्मा आ बैठती है, तब दोना के काट मे पाप का जन्म होता है ?

धरती

"हे धरती ! तू बडी कजूस है। सख्त महनत और एडी-चोटी का पसीना एक होने के बाद तू हमे अन्न देती है। बिना महत्व ही अगर तू हमे अन्न दे दिया करे, तो तेरा क्या घट जाए ?"

धरती मुस्कुरायी 'मेरी तो इसमे शान बढेगी ही, लेकिन तेरी शान बिल्कुल कम हो जायगी।

समदर्शन

एक दफा सत नामदेव खाना बना रहे थे। रोटियां बन चुकने पर आप जरा काम से कुछ देर के लिए कही चले गये। इतने मे ही एक कुत्ता आया और रोटियां मुह में उठाकर भागा। उसी वक्त सत नामदेव आ गये। और घी की कटोरी हाथ में लेकर, ये कहते हुए कुत्ते के पीछे दौडे—"भगवान ! रोटिया रखी है, अभी चुपडी नही हैं, घी लगाने दीजिए फिर भोग लगाइय।"

सहनशीलता आत्म शक्ति

पुराने जमाने मे किसी शहर मे एक वृद्ध महात्मा को किसी झूठे इल्जाम मे पकडकर कोडे लगाये जाते थे। लेकिन महात्मा शान्त और अविचल भाव से सहन किए जा रहे थे।

एक सज्जन ने यह दृश्य देखा। पास जाकर पूछा—"महाराज ! आप तो इतने वृद्ध व दुबल ह फिर भी ऐसी सख्त मार को शान्त भावना से कैसे सह रहे हैं। महात्मा बोले "विपत्तिको आत्मशक्ति से सहा जाता है, शरीर बल से नही।

वर्पण

एक दिन सुकरात की कर्कशा स्त्री उनमे झडप पडी। बडा गजन-तजन किया। लडाई की पूर्णाहुति स्वरूप उसने सुकरात पर गन्दा पानी डाल दिया। सुकरात मुस्कुराते हुए बोले—"मै जानता था तुम गरजने के बाद बरसोगी भी।



आङ्गल भाषा
ENGLISH SECTION

चतुर्थ खंड

इसअङ्क में :—

Conception of Matter in Communist Philosophy

The philosophy of dialectical materialism is the basic foundation of the communist system. Dialectics make it a scientific system. This materialistic dialectical thought is the communist philosophy.

Matter is the bearer of all reality. Motion is the mode of existence of matter. Never anywhere has there been matter without motion, nor can there be. Motion is as uncreatable and indestructible as matter itself. Motion can not be created; it can only be transferred. The active motion is called force and the passive, the manifestation of force. A motionless state of matter is one of the most empty and nonsensical of ideas-a "delirious phantasy" of the purest water. The matter can neither be created nor destroyed and that this is true also of motion[1].



Ram Chandra Jain, Advocata
Director, Institute of Bharatalogical Research,
Sri Ganganagar

Matter-in-motion is the subject matter of all natural sciences. Natural sciences; mathematics, mechanics and astronomy, physics and chemistry; are subject to the laws of dialectics. Matter and its inherent motion is the cause finalis.[2]

The primordial nebula is the earliest form of matter. This certainly does not exclude, but rather implies the supposition that before the nebular stage, matter had passed through an infinite series of other forms.[3] Engels is not very sure of his supposition. When he says that

1 F. Engels: Anti-Duhring; 1947; Pages 91. 92, 99.
2. F. Engels; Dialectics of Nature: 1954; Pages 322, 329.
3. F. Engels; OP. cit (A D.); Pages 89-93

nebula has only the beginning of form Differentiation comes after-wards[4] Nebula, thus, is the original cause of the various graded forms of matter

F Engles is the father of the communist philosophy Karl Marx accepted the conclusions of Engels arrived at by him on his researches into the natural sciences and applied them to his social researches of the capitalist system The references to matter or matter-in-motion by Marx in his economistic researches embodied in Das Capital and his other works are only the social applications of the Engelic philosophical doctrines

Engels discovered his theory of the matter in mation from his researches into the knowledge of the forms of motion governing non living nature arrived at by the different branches of the natural sciences such as mechanics, physics, chemistry and others He very truthfully concedes that we are compelled to restrict ourselves-in accordance with the state of science to the forms of motion of non living nature[5] This is the most rational and scientific attitude of Engels If he had been living today and witnessed the present great and revolutionary strides in the modern natural sciences he, as a great dialectician as he was, would have further improved upon his theory of matter-in motion We have to study him with this perspective

All motion consists in the interplay of attraction and repulsion There can be no final cancelling out of repulsion and attraction There can be no question of mutual penetration[6] Form of motion conceived as repulsion is the same as that which the modern physics terms "energy" There is mutual action between attraction on the one hand and a form of motion, taking place in the opposite direction to it, hence a repelling form of motion on the other hand Dialectics (attraction and repulsion), so-called objective dialectics, prevails throughout nature, and socalled subjective dialectics, dialectical thought, is only the reflection of the motion through opposites which asserts itself everywhere in nature, and which by the continual conflict of the opposites and their final passage into one another or into higher forms, determines the life of nature The processes of nature are dialectical The basis of the dialectics of nature is the law of the attraction and repulsion, the positive and the negative The evolution in nature reflects itself in the evolution of a concept or of a conceptual relation (positive and negative, cause and effect, substance and accidency) in the history of thought[6]

This general law of the positive and the negative, the basis of the evolution of nature,reflects as the law of attraction and repulsion in relation to matter, a particular object The emergence of the science of nuclear physics, non existent during the times of Engels, significantly has further much advanced our knowledge about the substratum of matter The

4 F Engels Op cit (D N) Page 323 329
5 F Engels Op cit(D N) Page 92-93
6 F Engels Op Cit (D N), Pages 95 96 98-99 287, 295

particles have been classified into photons; protons, neutrons, electrons and piouns and many more. We know mouns and K-Mesons. We also know six different kinds of hyperons, particles heavier than neuclons. Furthermore to each particle, there exists anti-particle, having electric and magnetic properties. The current list includes 30 in all. The existence of 30 elementary particles as the substratum of all matter is among the greatest enigma of physics. Matter contains in itself Anti-Matter. Matter and Anti-Matter also self-annihilate. This is the greatest discovery of our age. Substance Anti-Matter[7] exists side by side the substance Matter in a particular physical unit.

The principle of matter-in-motion is the principle of the self-movement of matter which is one of the basic principles of logical materialism[8]. It is an eternal cycle in which matter moves, a cycle that certainly only completes its orbit in periods of time for which our terrestrial year is no adequate measure, a cycle in which the time of highest development, the time of organic life and still more that of the life of beings conscious of nature and of themselves, is just as narrowly restricted as the space in which life and self-consciousness comes into operation;a cycle in which every finite mode of existence of matter, whether it be sun or nebular vapour, single animal or genus of animals, chemical combination or dissolution, is equally trancient, and and wherein nothing is eternal but eternally changing, eternally moving matter and the laws according to which it moves and changes: But however often, and however relentlessly, this cycle is completed in time and space; however many millions of suns and earths may arise and pass away, however long it may arise and pass away,however long it may last before, in one solar system and only on one planet, the conditions for organic life develop; however innumberable the organic beings, too, that have to arise and pass away before animals with a brain capable of thought are developed from their midst, and for a short span of time find conditions suitable for life, only to be exterminated later without mercy-we have the certainty that matter remains eternally the same in all its transformations, that none of its attributes can ever be lost, therefore, also, that with the same iron necessity that it will exterminate on the earth its highest creation, the thinking mind, it must somewhere else and at another time again produce it. The inalienable attribute of matter is the unity of attraction and repulsion and transformations of motion are inherent in moving matter. Matter is nothing but the totality of material things from which this concept is abstracted, and motion as such nothing but the totality of all sensuously perceptible forms of motion: words like matter and motion are nothing but abbreviations in which we comprehend many different sensuously perceptible things according to their common properties. Hence matter and motion can be known in no other way than by investigation of the separate material things and forms of

7. O. R. Frisch; The Elementary Particles; Discovery, December 1961 Issue: Pages 518-524
8. M. Shirokov; A Text-Book of Marxist Philosophy; 1941; Page 225.

motion, and by knowing these, we also pro tanto know matter and motion *as such* [9] The primordial nebula is the unity of attraction and repulsion, affirmation and negation, matter and motion This is what Matter-in-Motion of Engels means Attraction and repulsion do not, as earlier seen, mutually penetrate, hence affirmation and negation and for that matter also Matter and Motion do not mutually penetrate Engels, as earlier seen, has also maintained that motion is the inherent attribute of matter Engel, here, contradicts himself The misconception of the nature of the primordial nebula led Engles to this self-contradiction This misconception of matter-in-motion led Engles to his consequential false and unscientific conclusions

Self-contradictions of Engels now continue to accumulate He maintains that the Hegelian pre-mundane existence of the "absolute idea", the "pre-existence of the logical categories" before the world existed, is nothing more than the fantastic survival of the belief in the existence of an extra mudane creator, that the material, sensuously, perceptible world to which we our selves belong is the only reality, and that our consciousness and thinking, however supra sensuous they may seem, are the product of a material, bodily organ, the brain Matter is not a product of mind, but mind it elf is merely the highest product of matter [10] The attempt at refutation of Hegelian idealism, itself a wrong philosophical doctrine, in agreement with Ludwig Feurbach, misled Engels to take Matter for Matter-in-Motion He should have, to be self consistent, maintained that Mind is merely the highest product of Matter-in-Motion The dropping down of Motion from Matter in-Motion by Engels led him and consequentially the later Marxist philosophers, including Lenin and his successor Stalin, to their wrong and unscientific statements about the origin af mind

V I Lenin succumbs to this mistake He maintains that materialism, in full agreement with natural science, takes matter as primary and regards consciousness, thought and sensation as secondary because in its well definded form sensation is associated only with the higher forms of matter (organic matter), while "in the foundation of the structure of matter", one can only *surmise* the existence of a faculty akin to sensation Matter is primary Sensation thought, consciousness are the supreme product of matter organised in a particular way
Organic matter is a later phenomenon, the fruit of a long evolution It follows that there was not sentient matter, no "complexes of sensations", no *self* that was supposedly "indissolubly" connected with the environment in accordance with Avenarius' doctrine Matter is primary, and thought, consciousness, sensation are products of a very high development [11] Engels, to annihilate Hegelianism misled himself Lenin, to annihi

9 F Engels Op Cit (D N) Page 52 54 95 312 323-324

10 F Engels Ludwing Feurbach (in A Handbook of Marxism) 1935 Page 219

11 V I. Len n Materialism and Empirio-Criticssm, 1947 Pages 38 48 69

late Avenarius (and Mach too), also misled himself. Lenin could only "surmise" the exi tence of a faculty akin to sensation in matter. He totally forgot the Motion of the Matter-in-Motion. Stalin was no philosopher. He only respeated his master's thought.[12]

This confused thinking still further persists. Mind is held to be a product of matter at a high level of organisation of matter but, inconsistently in the same breath, it is also held to be a product of the evolutionary development of life .... Brain process, or rather, a part of the brain process, becomes a conscious-process .... Sensation is the direct connection between consciousness and the external world .. .. There is no consciousness apart from a living brain. There are not, therefore, two separate and distinct spheres of existence, material and spiritual.[13] The Leninist confusion further confounded. Matter has, here, been equated with life which neither Lenin nor any other Marxist philosopher does.

Spirit, consciousness, mind, thoughts, sensations, psyche and such other concepts are interchangeable in the communist philosophy. They are the properties of matter, *not all of it*, but only of highly organised matter, the human brain.[14] Spirit or consciousness reside only in the Brain, not in any other part of the body. The consciousness of man not only reflects the objective world, but also creates it (Lenin).[15] Lenin, unconsciously, approaches, here, Hegel whom he and his masters, Marx and Engels, annihilate.

Lenin speaks of monism and dualism about which Engels (and Marx too) do not speak. Lenin holds that the materialist elimination of the "dualism of spirit and body" (i. e. materialist monism) consists in the assertion that the spirit does not exist independently of the body, that spirit is secondary, a function of the brain, a reflection of the external world. The idealist elimination of the "dualism of spirit and body" (i.e., idealist monism) consists in the assertion that spirit is not a function of body, that, consequently spirit is primary, that the "environment" and the "self" exist only in an inseparable connection of one and the same complexes of elements'. He discards eclecticism as a senseless jumble of materialism and idealism.[16] Monists Hegel and Lenin (Engels and Shankar too) quite misunderstand dualism. Both denounce dualism but fail to do without it. Spirit and Matter exist for both; may be a projection of one or the other. But none understands that Matter-in-Motion (Padartha) is a single, unitary objective reality where Matter and Motion both do unite. The existence of one nebula is monism. The existence of attraction and repulsion in the unit

12 J Stalin; Dialectical and Historical Materialism, 3rd Edition; Page 14.

13. Maurice Cornforth; Dialectical Materialism; Volume Three-The Theory of Knowledge; 1955, Pages 13; 23; 33; 45.

14. V. Afanasyev; Marxist Philosophy; pages 10; 17; 75.

15. Shirokov; Op. cit (M. P.). page 255.

16. V. I Lenin; Op. Cit (MEC), Page 86.

for laying down strong cultural foundations for providing the communist anti-thesis to the capitalist society They have proved right The best elements of both the antithetical philosophies and the antithetical societies have resulted in the "emergence" of the present communist philosophy and the communist society covering more than half the world But they never predicted that this emergence of the new "thesis" would not meet its anti thesis The present objective developments in the spheres of materialist and the spiritual conditions of the human society have developed the "contradiction" in the inner and outer working of the present human society and the struggle has reached the brink where a radical break is the necessity of the age Marx and Engels and Lenin too, envisaged this possibility which today is an objective reality Marx and Engels are waiting to be un-Marxed and un Engelled in the realms of philosophy and society The human society, today, need a new anti thetical ideological weapon to win the new "freedoms" for the human society Revolution in thought and practise is the necessity of the age For that, first, we have to be very clear about our conception of the reality Matter-in-Motion in the newly emerging revolutionary philosophy

---

"Ahimsa is the spark of divinity, heritage of the Universal soul It binds all into a unity It gives solace hear and here-after It should ever be nourished like the sacred flame "

—Jai Bhagwan Jain

Renunciation : The Keynote of Lord Mahavira's Life and Teachings

Dr. Jyoti Prasad Jain,
M.A. LL.B. Ph.D.
Lucknow.



Human beings are instinctively actuated by an urge to acquire and possess external objects for the satisfaction of their physical appetites and the gratification of their sensual desires or their ego, very often at the expense of others. In this constant pursuit of worldly acquisitions, of power and pelf, one is apt of forget that his activities hurt others, contravene their lawful rights and endanger or even destroy their life and property, sometimes very callously and cruelly. This gives rise to various types of social inequalities, class wars, racial or communal conflicts and policical conflagarations, at times involving the entire human race. Besides wholesale destrucion of life and property, peace is disturbed, anarchic conditions prevail, and all kinds of suffering and misery are the order of the day. Human progress is retarded and the society as a whole degenerates. Man forgets himself.

Social scientists, economists and politicians try their best to find out means and methods to counteract these disturbing tendencies, but they have all so far failed to get at a permanent solution. Everybody fears and hates suffering and wishes to be happy. To a world-engrossed mind happiness consists in the satisfaction of desires. But desires have an uncanny tendency to grow and multiply, and it is

absolutely impossible to satisfy fully all the desires that an individual may have entertained Hence, all the mental gymnastics and heart breaking efforts and exertions of the worldly wise dismally fail to bring lasting and unalloyed happiness to mankind

One is, therefore, forced to the conclusion that the only ray of hope lies in our old friend, religion, the very conception of which implies that by putting restraints on his objective mundane pursuits the individual must come back to his own subjective nature his inner self The purpose of religion is, in fact, self realisation, that is, a realisation of the divinity in oneself And, it is achieved by bringing under control the lower instincts associated with bodily functions and by freeing the spirit from the bonds which have enmeshed it for countless births Self discipline, the discipline of body speech and mind, and involving in the first instance the regulation of the senses, has been conceived of as an effective means of awakening the soul and helping its progress on the path of spiritual evolution, leading ultimately to the never ending transcendental bliss whence there is no return any more

True, there are religions and religions Most of the known and prevalent systems though beneficial to mankind to an extent, fall short of their ultimate purpose inasmuch as they encourage man, directly or indirectly, to go on pursuing his mundane interests and the satisfaction of his desires for acquisition and indulgence in sensual pleasures by advocating that through propitiation of or pleasing a God or gods and goddesses he would be able to obtain all worldly goods desired by him, here and now, and to thwart calamities, sufferings and misfortunes These *pravritti pradhan* creeds encourage the 'doing' and 'enjoying' side of human nature and tend to dull the spirit of forbearance, abjuration and sacrifice But, there are other religions which do the reverse, and Jainism, the creed of the Shramana Tirthankaras of ancient India, is the most conspicuous among these *nivritti pradhan* systems Its very keynote is 'Renunciation'

Lord Rishabhadeva or Adinatha was the first Tirthankara who, about the very beginning of the known human history, himself practised and then propagated this ascetic path of renunciation for the good of all living beings He was followed, at intervals, by twenty-three other Tirthankaras, the twentieth (Munisuvrata natha) of whom was a contemporary of Shri Rama Chandra of the Ramayana fame and the twenty second (Arishtanemi) a cousin of Narayana Krishna of the Mahabharata fame The last but one, Parshvanatha, lived in 877-777 B C, being born about a couple of centuries before the birth of the Buddha, the founder of Buddhism Vardhamana Mahavira the Nigantha-nata putta of the Buddhist Pali tradition, was the last of this series of Jain Tirthankaras and was a senior contemporary of the Buddha

Lord Mahavira was born to Trishala Priyakarini, the wife of the Lichchhavi prince Siddhartha, in Kundagrama, a suburb of Vaishali (capital of the great ancient republican confederation of the

Vajjis), on the 13th day of the bright half of Chaitra in 599 B.C. He belonged to a royal Kshatriya family and was well connected with a number of the princely houses of India. He had an extremely intelligent mind, a superb physique, a very charming personality and all the worldly goods that one may desire, but these things had little meaning for him. From his very childhood he was of an extremely selfless, unaggressive and non-acquiring disposition. The only longing he had was when would he be able to shake off these shackles and be free to launch on the path of liberation, devoting himself, at the same time, wholeheartedly to the welfare of mankind. Lord Bacon once observed, "The nobler a soul is, the more objects of compassion it hath." Young Mahavira's compassion for all living beings really knew no bounds.

At last, at the age of only thirty he renounced the world and its plesaures. For full one year prior to that event he had been giving away to the needy all his wealth. This is known as the *Mahadana* (the Great Charity) of the Tirthankara. When he had distributed all he possessed, he retired to the forest giving away the very clothes and ornaments he had on his body. He now became a Nirgrantha (*nir*— without *grantha = bonds*) ascetic who had no attachment to any person or thing and was absolutely possessionless. Even after that, he went for long periods without food, practising severe austerities and reducing the claims of the flesh to their minimum point. At the expiry of twelve years of such thorough self-discipline and spiritual meditation he became an Arhat. He had achieved the perfection of his soul and came to stay in the state of purest, perfectest and most blissful self realisation. He had come to know all that was there to know. And, then he launched on his mission, roaming about the land on foot, preaching to all and sundry the path of liberation which he himself had followed and following which had attained what a human being can ever hope to attain, the full divinity inherent in a soul. For full thirty years he devoted himself to the supreme good of all living beings in an absolutely selfless spirit, attaining Nirvana in 527 B.C., in the early hours of the day, known all over India and beyond wherever Indian cultural influence reached as the Deepavali or Divali, "The Feast of the Lamps'.

It is in that extremely unaggressive and non-acquiring disposition which had begun to characterise Lord Mahavira's early life that, as Dr. H.S. Bhattacharya observes, "is the sought for clue to the possibility of a sensible man's refraining from further acquisition of wealth at a certain stage of his life. If a socialist-minded man is to stop from money-making pursuits and if the state interference or outside pressure in this matter is undesirable, then the urge must come from within. For the socialistic self-control, the back-ground of non-avaricious disposition is psychologically necessary". We have seen that this spirit of forbearance, abjuration and selfsacrifice was a marked trait of Mahavira's character. He not only hankered

after worldly possessions but freely gave away what he possessed And this he did, not because he was compelled to do so, but of his own free will quite in keeping with his inherent disposition

The first vow he took, on renouncing the world, was that of absolute possessionlessness and that made him a perfect Nirgrantha And, when he preached the noble path he prescribed that one of the 'five great vows' (*Mahavratas*), that an ascetic follower of the path must observe was the vow of possessionlessness or Aparigraha Those who could not renounce the world and would remain householders, as most human beings have ever been doing, they should practise in the form of an Anuvrata (or a partial vow) the Bhogopabhoga parimana, a partial limitation and progressive minimisation of ones luxuries, comforts and even basic needs Further, there are the Digvratas which help in inculcating this spirit of willing renunciation aiming as they do at a systematic limiting of one's activities

Mahavira, the superman as he was, has been rightly called 'The greatest Apostle of Ahimsa', his motto for all being Live and let live' And, renunciation of possessions is the chief corollary of Ahimsa Long before he became an Arhanta and a Tirthankara, Mahavira had actually given away all he had, keeping nothing for himself and reducing his personal necessities to the barest minimum, thus, in the words of Carlyle, making his claim of wages a zero litterally He was not for himself and had no thought of preserving his own life, but was solely devoted to the preservation of all life He aimed at a peaceful co-existence of living beings

It is imperative, therefore, that a person should earnestly try to curtail his or her wants and to set a limit to his or her acquisitions and possessions Even a pioneer of modern socialism is found advocating that every person at a certain stage of his life should say it to himself, "Here I will stop, that which I have already earned is enough and I shall not try to get more" This is what more than 2500 years ago Lord Mahavira advocated though in a more scientific, plausible and practical way He said that it is not enough that you curtail or limit your possessions, no doubt by using the surplus for the benefit of others, but you should never dream of depriving others of their legitimate possessions or acquiring anything by dishonest or unlawful means But, this you can do provided you have annihilated the evil attachment to worldly things There must first be the spirit of renunciation or *tyaga* In the absence of such a *tyaga bhavana*, or genuine spirit of renunciation, the outward charity or parting with your possessions is no good So long as the greed and desire to acquire and possess is not annihilated, so long as one's senses are not brought under control, so long as one does not bring about, by his own free will and choice without any outside compulsion or ulterior motive, a transformation in his values of life, his renunciation, if not

actually a farce, is unable to give the desired results.

Lord Mahavira was the embodiment of true Renunciation. His entire life and his teachings, often translated in the life of those who have sincerely followed them, are living examples of this great ideal of Renunciation which, even if partially but willingly and sincerely practised, will go a great way in bringing about peace and happiness to individuals and to the human society as whole.



Guard watchfully against errings of the mind;
See it falls not from noble to base mood.
Such is the only way to fill with Peace
Of mind and heart the life upon this earth;
Such is the essence of what Jina taught.

—Unknown

The Music of Peace

Hear, hear ! in tranquil Self the peace-music
What poignant melody ? no one can say
But feel as inner voice sings a lyric
Which makes a person happy and gay

The voice of peace was heard through ages,
And can be heard at every time,
But only by spiritual men or pious sages
In fascinating and unworldly rhyme

If desirous to bath in shower of peace-voice,
Leave vicious rooms of anger, greed and aggression
And do prefer in thy every choice
The open tamosphere of Truth and Compassion

Thus peace music may be audible every where
And peaceful may grow atmosphere

—V P Jain

Religion and Modern Science

Gyan Chand Biltiwala
M. A.

The word 'religion' arouses quite varied and even opposite feelings in people. Some become ready to sacrifice all their joys on its alter, while others think it an impediment to human progress, a chain in man's feet. To them, all the progress seem to be ensured through the agency of modern science.

It is highly important today that we should be clear about the place of religion and of science in our lives. Religion concerns with the soul of man, its good. Science concerns with matter, body, earth, stars etc., physical things. Both have different kinds of uses for us and are necessary.



Sometimes people talk of religion in contradistinetion to science. Historically, it is true too. Before the growth of modern science religions provided solutions to every problem. They 'unfolded' the whole mystery of the cosmos. Every religion did it in its own way. The seers of these religions did not limit themselves to the question of mere 'good' of man. They claimed omniscience. The conflict of one religion with another and of all the religions with science is, generally, not the conflict regarding their notions of 'good' but regarding their notions of physics and metaphysics. Religion in West tried to curb the growth of modern science not because it was in

The Message of Dharma

Let your tempered self have bath
In cool stream of forgiveness,
Give no quarter to resentment, wrath
And soft feelings you do possess

In pure learning's radiant light,
Travel on your life's course
In every moment of delight
Don't be ruled by animal force

Let truth become the guiding star,
In dense, dark worldly night,
By right conduct can reach so far
To Eternal Home, which's bright

With self control march on the way
To sublime goal of true nature
Thus be, O soul, quite happy and gay
And finish up the world's torture

—V P Jain

भगवान महावीर की २५६६ वीं जयन्ती

के

पुनीत पर्व पर

शु भ का म ना यें



With Best Wishes

From:



A WELL WISHER

भगवान महावीर की २५६८ वीं जयती के शुभ अवसर पर

हार्दिक शुभ कामनाएं



श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी

जयपुर द्वारा संचालित

मानव सेवा के महान व्रत

का

मूर्त्त रूप

श्री अमर जैन मेडिकल अस्पताल

बढ़ते चरण :-

- आधुनिक प्रणाली की सर्वोच्च चिकित्सा
- सुयोग्य व अनुभवी चिकित्सक
- नवीन निदान केन्द्र—एक्सरे
- परिवार नियोजन की समुचित व्यवस्था
- 'अमर भवन' श्री स्वरूपचन्द्र चोरडिया प्रसूतिगृह का निकट भविष्य में संचालन योजना
- नगर के मध्य भाग में स्थित चिकित्सा सेवा उपलब्ध कराने का प्रमुख केन्द्र
- नर्सिंग होम की योजना

"सेवा मानव वृत्तियों में सबसे ऊंची और महान् वृत्ति है।"

राजस्थान राज्य कृषि उद्योग निगम (प्रा०) लि०

जयपुर

आर एस 09 जर्मन ट्रेक्टर के खरीददारों

को

शुभ सूचना

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष है कि पूर्व जर्मनी के ट्रेक्टर निर्माताओं ने 20 अश्व शक्ति के आर एस 09 ट्रेक्टर इतनी संख्या में उपलब्ध कराने का आश्वासन दे दिया है कि अब जनता को ट्रेक्टर खरीदने हेतु प्रतिक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

हर व्यक्ति जो उक्त ट्रेक्टर लेना चाहें निगम कार्यालय से सम्पर्क स्थापित कर शीघ्र ही तैयार स्टोक से प्राप्त कर सकते हैं।

वी० एल० पानगड़िया
सचिव
राजस्थान राज्य कृषि उद्योग निगम (प्रा०) लि०,
आर-7, महदेव मार्ग, अशोक नगर,
जयपुर-5